॥ श्री ॥

श्री देवसेनाचार्य विरचित—

भाव संग्रह

हिन्दी टीकाकार
पंडित लालाराम शास्त्री
धर्मराज, सरस्वती दिवाकर

प्रकाशक
ब्र० चांदमल चूडीवाल,
नागौर

❀ श्री ❀

समर्पण

श्रीमान् परम पूज्य आचार्य वर्य श्री १०८ वीरसागर जी महाराज !

स्वामिन्—

यह भावसंग्रह की टीका आपके ही शुभाशीर्वाद से लिखी गई है। इसलिये यह आपके ही पवित्र कर कमलों में समर्पित है।

श्री मच्चरण सरोरुह सेवी

भाद्रपद
२०१३ वि०

लालाराम जैन शास्त्री
मैनपुरी

सामार धन्यवाद

आचार्य वर्य पूज्यपाद श्री देवसेन महाराज प्रणीत यह भाव संग्रह ग्रन्थ बहुत ही उच्चकोटि का है। यह मूलग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला में प्रकाशित भी हो चुका है परन्तु उसका हिन्दी अनुवाद न होने से संस्कृत प्राकृत न जानने वाले इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से वंचित रहते थे इसीलिए इसका हिन्दी में अनुवाद करा कर प्रकाशित कराना उपयोगी, आवश्यक और समुचित समझा गया। अनुवाद का कार्य श्री धर्मरत्न, सरस्वती दिवाकर पंडित लालारामजी शास्त्री महोदय ने सम्पन्न किया और प्रकाशन में आर्थिक सहायता निम्न लिखित महानुभावों ने की है जिसके लिए समाज आप महानुभावों का सदैव ऋणी रहेगा। इस महान् लोकोपकार अथवा साहित्य सेवा के उपलक्ष्य में अनुवादक तथा सभी अर्थ सहायकों के प्रति आभार प्रदर्शित किए एवं आप सभी को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रहा जा सकता। अतः सभी की सेवामें हार्दिक आभार और धन्यवाद भेंट किए जाते हैं।

७५०) श्रीमान् रायसाहिब सेठ चांदमलजी पांड्या गौहाटी (आसाम)

५००) श्रीमान सेठ घेवरचन्द जी पाटनी सुजानगढ़

२५०) श्रीमान सेठ नेमीचन्दजी छाबड़ा सुजानगढ़

२५०) श्रीमान् सेठ दुलीचन्दजी बाकलीवाल अम्मेर

आशा है कि भविष्य में भी आप सभी इसी प्रकार साहित्य सेवा और लोकोपकार के कार्य में संलग्न रहेंगे।

यह ग्रन्थ कभी का प्रकाशित होगया होता परन्तु अनेक कारणों से देरी होगई। विलंब अधिक होजाने पर शीघ्रता के

लिए अनेक प्रेसों में छपाना पड़ा। इस ग्रन्थ के मुद्रण में श्री पंडित इन्द्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार सम्पादक अहिंसा जयपुर ने अस्वस्थ अवस्था में भी बड़ा भारी सहयोग दिया और प्रूफ संशोधनादि कार्यों में महान् कष्ट उठाया, जिसके लिए आप सभी का हृदय से आभार मानता हुआ मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

कुछ यन्त्रों को भी प्रकाशित करना था जो इस महान् ग्रन्थ से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु, अधिक विलम्ब होजाने के भय से उनका मुद्रण न हो सका जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। यथा सम्भव अगले संस्करण में उन्हें प्रकाशित किया जायगा।

यह आर्ष ग्रन्थ अनेक विषयों में शंकाशील व्यक्तियों की शंकाओं को दूर करने में समर्थ होगा और जो अटल धार्मिक विश्वास रखने वाले हैं उनके सम्यग्दर्शन को अधिक पुष्ट और चिरस्थायी बनायेगा, ऐसी आशा है। यदि धर्मप्रेमी आगम में श्रद्धा रखने वाले महानुभाव उपन्नचक्षु होकर इस महान् आर्ष ग्रन्थका स्वाध्याय करेंगे तो अवश्यमेव उनका वास्तविक कल्याण होगा।

भाद्रपद शु० २ वि० सं० २०१३

आर्ष मार्ग पथिक
ब्रह्मचारी चांदमल चूड़ीवाल
नागौर, (मारवाड़)

दो शब्द

इस ग्रन्थ का नाम भावसंग्रह है। भाव शब्द का अर्थ परिणाम है। यद्यपि जीवों के परिणाम क्षण क्षण में बदलते रहते हैं, तथापि उन सबका संग्रह चौदह गुणस्थानों में होजाता है।

आचार्यों ने औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारणामिक ये जीवों के पांच भाव बतलाये हैं। इन्हीं पांच भावों में कुछ भाव शुभ हैं, कुछ अशुभ हैं और कुछ शुद्ध हैं। तथा इन्हीं भावों के अनुसार गुणस्थानों की रचना समझ लेनी चाहिये। कर्मों के उदय होने से औदयिक भाव होते हैं। कर्मों के क्षय होने से क्षायिक भाव होते हैं, कर्मों के उपशम होने से औपशमिक भाव होते हैं, कर्मों के क्षयोपशम होने से क्षायोपसमिक भाव होते हैं तथा जीवों के स्वाभाविक परिणाम पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

इस ग्रन्थ में इन्हीं भावों का वर्णन है और किस किस गुण स्थान में कैसे कैसे भाव होते हैं यही सब बतलाया है।

यह सब कोई जानता है कि मिथ्यात्व गुण स्थान में होने वाले अशुभ परिणाम सर्वथा त्याज्य हैं। चौथे पांचवें आदि गुण स्थानों में होने वाले शुभ परिणाम ग्राह्य हैं। इन्हीं गुणस्थानो में रागद्वेष के निमित्त से होने वाले अशुभ परिणाम त्याज्य हैं, और अन्त में शुभ अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों का त्याग होजाने पर आत्मा की शुद्ध अवस्था में होने वाले स्वाभाविक शुद्ध भाव सर्वथा ग्राह्य हैं। यही स`` समझने के लिये इस ग्रन्थ की रचना गई है।

इस ग्रन्थ को पढ़कर मिथ्यात्व गुणस्थान में होने वाले अशुभ भावों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। चतुर्थ आदि गुण स्थानों में होने वाले शुभ परिणामों को ग्रहण करना चाहिये, तथा उन शुभ परिणामों की वृद्धि करते करते शुद्ध परिणामों के प्राप्त होने का ध्येय रखना चाहिए और अन्त में शुभ अशुभ दोनों प्रकार के परिणामों का त्याग कर आत्मा के स्वाभाविक शुद्ध भावों को धारण करना चाहिये। यही इस ग्रन्थ के पढ़ने का मनन करने का साक्षात् फल है और यही मोक्ष का कारण है। चतुर्थ आदि गुण स्थानों में होने वाले भाव परम्परा से मोक्ष के कारण हैं और अन्तिम गुण स्थानों के भाव साक्षात मोक्ष के कारण हैं।

इस प्रकार इस ग्रन्थ का पठन पाठन मोक्ष का कारण है और वह पठन पाठन समस्त भव्य जीवों को सफलता पूर्वक प्राप्त हो इसी उद्देश्य से इसकी संक्षिप्त हिन्दी टीका लिखी गई है और इसी उद्देश्य को लेकर यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। आशा है अनेक भव्य जीव इसका पठन पाठन कर अपने आत्मा का कल्याण करेंगे।

इति भद्रम्

निवेदक—
लालाराम जैन शास्त्री
धर्मरत्न, सरस्वती दिवाकर.
मैनपुरी यू० पी०

॥ श्री वर्धमानाय नमः ॥

आचार्य श्री देवसेन का परिचय

श्रीमान् उद्भट विद्वान् दि० जैन वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन भाव संग्रह के कर्ता महोदय का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

आचार्य देवसेन ने अपने बनाये हुए ग्रन्थ भाव संग्रह में अपने विषय में यह लिखा है कि—

सिरि विमलसेणगणहर सिस्सो णामेण देवसेणु त्ति।
अवुहजणवोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥

अर्थात् श्री विमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य देवसेन हैं। उन्हीं देवसेन आचार्य ने अज्ञ जनों को बोध कराने के लिये यह भाव संग्रह सूत्र ग्रन्थ रचा है। इन्हीं देवसेन आचार्य ने दर्शनसार ग्रन्थ भी रचा है उसमें भी उन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

पुव्वायरिय कथाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ।
सिरि देवसेण गणिणा धाराए संवसंतेण ॥ ४९
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवए।
सिरि पासणाह गेहे सुविसुद्धे माहसुद्ध दसमीए ॥ ५०

अर्थात् पूर्वाचार्यों की रची हुई गाथाओं को एक स्थान में संग्रह करके श्री देवसेन गणि ने धारा नगरी में निवास करते हुए पार्श्वनाथ भगवान के मंदिर में माघ सुदी दशमी विक्रम सम्वत ९९० में यह दर्शनसार ग्रन्थ रचा।

इस उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध हो जाती हैं। एक तो यह कि आचार्य देवसेन स्वयं भी गणी थे अर्थात् गण के नायक थे और विक्रम सम्वत् ९९० में ये हुए हैं। इन्होंने अन्य अपने बनाये हुए ग्रन्थों में अपना परिचय नहीं दिया है। और न उन ग्रन्थों की रचना का समय बताया है।

यद्यपि इनके किसी ग्रन्थ में इस विषय का उल्लेख नही है कि किस संघ के आचार्य थे परन्तु दर्शन सार के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूल संघ के आचार्य थे। दर्शनसार में उन्होंने काष्ठासंघ, द्राविड संघ, माथुरसंघ और यापनीय संघ आदि सभी दिगम्बर संघों की उत्पत्ति बतलाई है और उन्हें मिथ्यात्वी कहा है। परन्तु मूल संघ के विषय में कुछ नहीं कहा है अर्थात उनके विश्वास के अनुसार यही (मूल संघ) मूल से चला आया है और यही वास्तविक संघ है।

श्री देवसेन का आम्नाय

श्री देवसेन गणि ने दर्शनसार की ४३ वीं गाथा में लिखा है कि —

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि दिव्व णाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

अर्थात् यदि आचार्य पद्मनंदि (कुंद कुंद स्वामी) सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्यज्ञान के द्वारा बोध नहीं देते तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते। इस कथन से यह निश्चय हो जाता है कि आचार्य देवसेन गणि श्री कुंद कुंदाचार्य की आम्नाय में थे।

भाव संग्रह मे (प्राकृत में) जगह जगह दर्शनसार की अनेक गाथाऐं उधृत की गई है। और उनका उपयोग उन्होंने स्वनिर्मित गाथाओं की भांति किया है। इससे इस विषय मे कोई सन्देह नहीं रहता कि दर्शनसार और भाव संग्रह दोनों के कर्ता एक ही देवसेन हैं। इनके अतिरिक्त आराधनासार और तत्वसार नाम के ग्रन्थ भी इन्हीं देवसेन के बनाऐ हुए हैं।

पं० शिवजीलालजी ने इनके 'धर्म संग्रह' नामक एक और ग्रन्थ का उल्लेख किया है परन्तु वह अभी तक हमारे देखने मे नहीं आया है।

नयचक्र के कर्त्ता भी श्री आचार्य देवसेन हैं परन्तु इस संबंध में स्वामी विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिकालंकार में यह लिखा है कि नयों का वर्णन विशेष रूप में जानना हो तो नयचक्र को देखो। इससे यह जाना जाता है कि जिस नयचक्र को आचार्य देवसेन ने बनाया है उससे पहले और कोई नयचक्र था, उसी का उल्लेख स्वामी विद्यानंदि ने किया है। जैसा कि नीचे लिखी बात से सिद्ध होता है—

माइल्ल धवल के वृहन् नयचक्र के अंत की एक गाथा जो बम्बई की प्रति में पाई जाती है यदि ठीक हो तो उससे इस बात की पुष्टि होती है, वह गाथा इस प्रकार है—

दुसमीरणेण पोयं पेरियसंतं जहा तिरं नट्ठं ।
सिरि देवसेन मुणिणा तह णयचक्कं पुणो रइयं ॥

इस गाथा का अभिप्राय यह है कि दुःषमकाल रूपी आंधी से जहाज के समान जो नयचक्र चिरकाल से नष्ट हो गया था उसे देवसेन मुनि ने फिर से रचा इससे विदित होता है कि देवसेन आचार्य के नयचक्र से पहले कोई नयचक्र था जो नष्ट हो गया था और बहुत संभव है कि देवसेन ने दूसरा नयचक्र बनाकर उसी का उद्धार किया हो?

उपलब्ध ग्रन्थों में नयचक्र नाम के तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं और माणिकचन्द ग्रन्थमाला में तीनों ही नयचक्र प्रकाशित हो चुके हैं। १—आलाप पद्धति २- लघु नयचक्र 3--बृहत नयचक्र। इनमे पहला ग्रन्थ—आलाप पद्धति संस्कृत मे है और शेष दो प्राकृत में हैं।

आलाप पद्धति के कर्ता भी देवसेन आचार्य हैं। डा॰ भांडार रिसर्च इंस्टिट्यूट के पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक प्रति है उसके अंत में प्रति के लेखक ने लिखा है कि—

"इति सुख बोधार्थ मालापपद्धति श्री देवसेन
विरचिता समाप्ता। इति श्री नयचक्रं सम्पूर्णम्"

उक्त पुस्तकालय की सूची में भी यह नयचक्र नाम से ही दर्ज है। इसे नयचक्र भी कहते हैं और आलाप पद्धति भी कहते हैं। आलाप पद्धति के प्रारंभ मे लिखा है कि आलाप पद्धति वचन रचनानुक्रमेण नयचक्र स्योपरि उच्यते। इससे विदित होता है कि नयचक्र से ही आलाप पद्धति को संस्कृत रूप मे किया गया

है। और "देवसेन कृता" लिखा है अतः यह उन्हीं देवसेन का रचा हुआ ग्रन्थ है, यह सिद्ध है।

लघु नयचक्र

लघु नयचक्र श्री देवसेनाचार्य का बनाया हुआ है इस से पहले के कई नय विवेचक ग्रन्थों को देख कर आचार्य देवसेन ने इसका नाम लघु नयचक्र रक्खा है ऐसा विदित होता है।

आचार्य देवसेन की महत्ता और पूज्यता

द्रव्य-स्वभाव प्रकाश नामका एक सुन्दर ग्रन्थ है उसकी गाथा रूप में रचना माइल्ल धवल ने की है। ये माइल्ल धवल भी महा विद्वान् प्रतीत होते हैं। उन्होंने उक्त अपने "दव्वसहाव पयास" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि श्री देवसेन योगी के चरणों के प्रसाद से यह ग्रन्थ बनाया गया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आचार्य देवसेन मूलसंघ के एक महान् योगी और महान् विद्वान थे। और मुनिगण तथा आचार्यों द्वारा पूज्य थे। नयचक्र के अंत में यह गाथा मिलती है—

सियसद्द सुणय दुण्णय दणु देह विदारणेक्क वरवीरं।
तं देवसेण देवं णयचक्कयरं गुरुं णमह॥ ४२१

अर्थात् स्यात् शब्द सुनय द्वारा दुर्नय शरीर धारी दानव के विदारण करने में महान् वीर जो नयचक्र के कर्त्ता आचार्य देवसेन देव हैं उन देवसेन गुरु को नमस्कार करो।

उपर्युक्त सभी कथन से यह बात सिद्ध होजाती है कि

आचाय देवसेन गणी एक महान् उद्भट विद्वान् आचार्य हुए हैं वे दशमी शताब्दि में हुए हैं और आचार्य वर्य कुंदकुंद स्वामी की आम्नाय मूलसंघ के आचार्य थे। ये आचार्य विमलसेन गणी के शिष्य थे। और वे स्वयं अनेक मुनियों के नामक गणी हुए हैं। आचार्य देवसेन ने भावसंग्रह महान् ग्रन्थ जो गंभीर एवं सूक्ष्म तत्वों से भरा हुआ है बनाया है इसके सिवा उन्होंने आलाप पद्धति, दर्शनसार, आराधनासार, तत्वसार, नयचक्र आदि सिद्धान्त के महान् ग्रन्थों की रचना की है। श्लोक वार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने जिन नयों का वर्णन किया है वह वर्णन पुरातन नयचक्र से मिलता है जिसके नष्ट होने पर आचार्य देवसेन ने लघु नयचक्र रचा है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि आचार्य देवसेन आचार्य विद्यानन्दि के पश्चात् हुए प्रतीत होते हैं। इन आचार्य देवसेन की भगवत्कुन्द कुन्द आचार्य में दृढ़ श्रद्धा थी इस बात का उल्लेख उन्होंने दर्शनसार में किया है। इन्होंने मालवा प्रान्त को अपने विहार से बहुत काल तक पवित्र किया था।

वर्तमान मुनियों के विषय में स्पष्टीकरण

आजकल दक्षिण उत्तर में अनेक मुनिगण नग्न दिगम्बर जैन साधु सर्वत्र विहार कर रहे हैं। यह समाज धर्म और देश के लिये कल्याण की बात है। दिगम्बर जैन शास्त्रों में उत्कृष्ट एवं तद्भव मोक्ष गामिता की शक्ति रखने वाले तपस्वी साधुओं का स्वरूप और उनकी अचिन्त्य कठिन चर्या का वर्णन पढ़ कर अनेक स्वाध्याय शील बन्धु कहने लगते हैं कि जो गरमी में पहाड़ों पर माध्यमिक समय तपश्चरण करे शीत ऋतु में जो नदियों

के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे हों वर्षा में जो वृक्षों के नीचे टपकते हुये पानी में बाहें लुभाये खड़े हों और जो सिंह व्याघ्र भालू आदि हिंसक जानवरों से भरे हुए जंगलों में रहते हों वे ही साधु हो सकते हैं। आजकल नगरों में मन्दिरों मठों और धर्मशाला आदि में रहने वाले साधु, मुनि नहीं कहलाने योग्य हैं, आदि आक्षेपों और दुर्भावनाओं से अनेक लोग वर्तमान साधुओं को साधु ही नहीं समझते हैं। इस विषय में आचार्य सोमदेव आचार्य कुन्द कुन्द आदि महान् आचार्यों ने स्वरचित शास्त्रों में बहुत अच्छा समाधान किया है, उन्होंने लिखा है—

काले कलौ चले चित्त देहे चान्नादि कीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥

अर्थात् आज के इस पतनशील कलिकाल में और चित्त की क्षण क्षण मे बदलने वाली चंचलता में साथ ही शरीर के अन्न का कीड़ा बनजाने पर भी आश्चर्य है कि आज भी जिन रूप को धारण करने वाले साधु गण दीख रहे हैं।

पण्डित प्रवर आशाधरजी ने लिखा है कि वर्तमान मुनिराजों को चतुर्थ काल के मुनिराजों के समान ही समझ कर उनकी श्रद्धा पूजा करना चाहिए।

जो लोग मुनिराजों की परीक्षा में ही अपनी बुद्धि का समस्त सतुलन खो बैठते हैं और कहते फिरते हैं कि इनकी ईर्या समिति ठीक नहीं है। ये उद्दिष्ट भोजी हैं। आदि, इन तथ्य कुतर्कों का उत्तर देते हुए पूर्वाचार्य कहते हैं कि—

"भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्" अर्थात् श्रावक लोगो ! वीतराग मुनिराजों को केवल आहार देने मात्र के लिए तुम क्या परीक्षा करते फिरते हो ? जब कि पंचम काल के अन्त समय तक साधु गण पाये जांयगे और वे चतुर्थ कालवत् ही अट्ठावीस मूल गुणधारी परम पवित्र शुद्धात्मा होंगे ऐसा सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्राचार्य त्रिलोकसार में लिखते हैं। तब आज कल के मुनिराजों पर आक्षेप करना सिवा अशुभ कर्म बन्ध के और कुछ नहीं है।

आचार्य देवसेनजी का स्पष्ट वक्तव्य

आजकल के मुनिराजों के विषय में आचार्य देवसेन जी ने अपने द्वारा रचित इस भाव संग्रह में बहुत ही सुन्दर आगमोक्त सिद्धान्त का स्पष्टीकरण किया है वह इस प्रकार है—

दुविहो जिणेहि कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणण धारिस्स ॥ ११९ ॥

जत्थण कंटय भग्गो पाए णयणम्मि रय पविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिका ॥ १२० ॥

जल वरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

एयारसंग धारी एआइ धम्म सुक्क झाणीय।
चत्ता सेस कसाया मोणवई कंदरा वासी ॥ १२२ ॥

बाहिरंतर गंथ चुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिण कप्पट्ठिया समणा
॥ १२३ ॥

थविरकप्पोवि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पंचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥

पंच महव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करयत्तो ।
भत्ति भरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

दुविह तवे उज्जमणं छव्विह आवासएहि अणवरयं ।
खिदिसयणं सिर लाओ जिणवर पडिरूव पडिगहणं
॥ १२६ ॥

संहणणस्स गुणेण य दुस्सम कालस्स तव पहावेण ।
पुरणयरगाम वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स ।
गहियं पुत्थ य दाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

समुदाएण विहारो धम्मस पहावणं ससत्तीए ।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालनं गहणं ॥ १२९ ॥

संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुक्समो मणो चवलो ।
तहवि दुधारी पुरिसा महव्वय भरधरण उच्छहिया
॥ १३० ॥

वरससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
ते संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीण संहणणे ॥१३१॥

भावार्थ—मुनि दो प्रकार के होते हैं जिन कल्पी और स्थविर कल्पी। जो उत्तम संहनन को धारण करने वाले हैं, जिनके पैर में कांटा लग जाय वा आंखों में धूल भर जाय तो स्वयं नहीं निकालते दूसरा निकाले तो मौन धारण करलें। जो वर्षा आदि ऋतु में ६ महीने तक विना आहार लिये बैठे वा खड़े रहे। जो ग्यारह अंग के पाठी हों धर्म वा शुक्ल ध्यान में लीन रहते हों जिनकी कषाये नष्ट हो गई हों, मौनव्रती हों, कंदरा वासी हों, बाह्याभ्यंतर परिग्रह से रहित हों, वीतराग निस्पृह हों और जिनके समान विहार करें वे मुनि जिन कल्पी कहलाते हैं।

जो मुनि पांचों प्रकार के वस्त्रों के त्यागी हों जिनके पास कोई परिग्रह न हो, पीछी हो, जो पांचों महाव्रतों के धारी हों खड़े होकर दिनमें एकबार करपात्र भोजन करते हों, दोनों प्रकार के तपश्चरण में उद्यमी हों सदा छहों आवश्यकों का पालन करते हों लोच करते हों पृथ्वी पर शयन करते हों इस प्रकार अट्ठाईस मूल गुणों का पालन करते हों। जो हीन संहनन के कारण इस दुःषम काल में पुर नगर वा गांव में (मन्दिर वा मठ आदि में) रहते हों उनको स्थविर कल्पी कहते हैं। जिनसे रत्नत्रयका भंग न हो ऐसे उपकरण रखते हैं अपने योग्य किसी के द्वारा दी हुई पुस्तक रखते हैं समुदाय से विहार करते हैं भव्यों को धर्म श्रवण कराते हैं शिष्यों को दीक्षा देते हैं और उनकी स्थिति का पालन करते हैं इस दुःषम काल में हीन संहनन होने पर भी धीर पुरुष महाव्रत धारण

करते हैं यह आश्चर्य है। पहले के उत्तम संहनन से जो कर्म हजारों वर्षों में नष्ट होते थे वे कर्म इस समय हीन संहनन के द्वारा एक वर्ष में नष्ट हो जाते हैं।

इस उपर्युक्त कथन से सिद्ध है कि आज कल के मुनिगण स्थविर कल्पी मुनि हैं वे हिंसक जन्तुओं से भरे हुए जंगलों में रहकर निर्विघ्न धर्म ध्यान करने में सर्वथा असमर्थ हैं इसलिये वे नगरों में, उद्यानों में, मंदिरों में, मठों, बगीचों आदि में रहते हैं। यह वर्तमान शक्ति हीन संहनन के लिये समुचित शास्त्र मार्ग है। जो लोग वर्तमान मुनियों पर नाना आक्षेप करते हैं उन्हें इन महान् पूर्वाचार्यों के शास्त्र विधानों से अपना समाधान कर वर्तमान मुनियों में उसी प्रकार श्रद्धाभक्ति से देखना चाहिये जैसी कि चतुर्थ कालवर्ती मुनियों पर रहती है। शरीर सामर्थ्य को छोड़कर बाकी चर्या और भावों की विशुद्धि वर्तमान मुनियों में भी प्राच्य काल के समान ही रहती है।

इन दिगम्बर वीतराग महर्षि आचार्य देवसेन गणी का संक्षिप्त परिचय भाई नाथूराम जी प्रेमी के द्वारा लिखा हुआ माणिकचन्द ग्रन्थमाला के मुद्रित ग्रन्थ नयचक्र संग्रह के प्राक्कथन का उद्धरण देते हुए हमने लिखा है।

आचार्य देवसेन की रचना में महत्व

आचार्य देवसेन ने अपने बनाए हुए ग्रन्थों में द्रव्य गुण पर्यायों का बहुत ही गंभीर विवेचन किया है। नयों के गहन एवं सूक्ष्म विवेचन में जिन अपेक्षा वादों का निदर्शन किया है उनसे उनकी अगाध विद्वत्ता का परिचय सहज मिल जाता है। गुणस्थानं

के स्वरूप के साथ उनका मार्गणाओं में संघटन भी उन्होंने बहुत स्पष्टरूप से किया है। स्थविर कल्पी जिन कल्पी साधुओं का स्वरूप बताकर तो आचार्य देवसेन ने मुनिराजों के सम्बन्धों में कुछ स्वाध्याय शील भ्रामक लोगों के भ्रम को सर्वथा दूर कर दिया है। इम श्रीमान् परमाराध्य श्री आचार्य देवसेन गणी के पुनीत चरणों में नत मस्तक होकर अपनी श्रद्धा और भक्ति प्रगट करते हैं। कल्याण मस्तु।

मैनपुरी (यू० पी०)
भाद्रपद वि० सं० २०१३

आचार्योपासक—
लालाराम शास्त्री

श्री वर्द्धमानाय नमः

टीकाकार का परिचय

उत्तर प्रदेशवर्ती आगरा नगर के निकट एक चावली ग्राम है। है छोटा पर है सुन्दर। इसी गांव की पद्मावती पुरवाल सज्जाति में भूषण स्वरूप श्रीमान् लाला तोताराम जी थे। वे जैसे धर्मात्मा थे वैसे ही अनुभवी निरपेक्ष वैद्य थे। तथा जैसे सज्जन थे वैसे ही परोपकारी थे। यही कारण था कि वह गांव के शिरोमणि गिने जाते थे। आपने अपने नश्वर शरीर को विक्रम सं० १९६५ में छोड़ा था, आपके छह पुत्र हुए जिनमें—

१—लाला रामलाल जी—आप आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करते हुए घर पर ही व्यवसाय करते रहे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार और अतीव सरल था। आप बहुत धर्मात्मा थे। आपने विक्रम सं० १९७० में अपना शरीर छोड़ा।

२—लाला मिट्ठनलाल जी—आप घर पर ही रह कर व्यवसाय करते रहे। आपने बाल्यजीवन में कुछ समय अलीगढ़ की पाठशाला मेंसंस्कृत का अध्ययन किया था। आप भी वैसे ही धर्मनिष्ठ थे। आपका स्वर्गवास विक्रम सं० २००७ में हुआ था।

३—इस ग्रन्थ के टीकाकार विद्वच्छिरोमणि धर्मरत्न सरस्वती दिवाकर पं० लालाराम जी शास्त्री।

४—श्री १०८ परम पूज्य आचार्य सुधर्म सागर जी महाराज। आपका पूर्व नाम पं० नन्दनलाल जी शास्त्री था। वीर निर्वाण सं० २४५४ फागुन मास में जब कि श्री सम्मेद शिखर जी पर इतिहास प्रसिद्ध पञ्च कल्याण महोत्सव हुआ था उस समय

आपने शुभ मिती फागुन शुक्ला १३ त्रयोदशी के दिन परम पूज्य चरित्र चक्रवर्ती सिद्धान्त पारंगत योगीन्द्र चूडामणि धर्म साम्राज्यनायक दिवंगत आचार्य श्री १०८ शांति सागर जी महाराज से गृह विरत सप्तम प्रतिमा की दीक्षा ली थी इसके एक वर्ष पीछे श्री कुंडलपुर क्षेत्र पर दशमी अनुमति विरत प्रतिमा ग्रहण की थी फिर अलीगढ़ में क्षुल्लक दीक्षा धारण करली। तदनन्तर प्रताप-गढ़ में आपने श्री जैनेश्वरी दीक्षा (मुनिपद) धारण की थी।

आप संस्कृत भाषा के तो उद्भट शास्त्री थे ही। साथ में हिन्दी और गुजरातीके भी प्रौढ़ लेखक थे। तथा प्रसिद्ध व्याख्याता भी थे। आपने चौवीस पाठ, दीपावली पूजन, आदि कविता मय ग्रन्थ लिखे हैं। तथा सूर्यप्रकाश पुरुषार्थानुशासन आदि संस्कृत ग्रन्थों की टीकाऐं भी लिखी हैं। उत्तमोत्तम उपदेशपूर्ण जीव कर्म विचार, यज्ञोपवीत संस्कार सदृश अनेक ट्रैक्ट भी लिखे हैं। कितनी ही लेख मालाऐं लिखी हैं और गुजराती भाषा में भी कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं। आप वैद्यक भी जानते थे। आप की लिखी एक नीतिवाक्यमाला नाम की पुस्तक मिली है जो बहुत ही उत्तम उपदेशों से पूर्ण है। उसमें आपने एक सदाचार नामकी पुस्तक का भी उल्लेख किया है। परन्तु वह हमारे देखने में नहीं आ सकी है।

गृहस्थावस्था का अन्तिम जीवन आपने बम्बई में व्यतीत किया। श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन की उन्नति के मूल कारण आपही थे। श्री आचार्य संघ को उत्तर प्रांत में लाने का मुख्य प्रयत्न आपका ही था। इसीलिए आप संघ के साथ हो लिए थे। और फिर संघ में ही रह गये थे।

श्री जैनेश्वरी दीक्षा लेकर आपने कितने ही बड़े काम किये थे। आपने नीमाड़ गुजरात बागड़ मालवा आदि प्रान्तों में विहारकर

शास्त्रोक्त मार्ग का अनुपम प्रचार किया था। तथा साथ में चतुर्विंशति तीर्थंकर महास्तुति, सुधर्म ध्यान प्रदीप और सुधर्म श्रवकाचार ऐसे संस्कृत भाषा में महाग्रन्थों की रचना भी की थी। आपने कुशलगढ़ में मुनि ऐलक क्षुल्लक भट्टारक ब्रह्मचारियों के मध्य श्रेष्ठ समाधिमरण पूर्वक पौष शुक्ला द्वादशी सोमवार विक्रम सं० १९९५ के सन्ध्याकाल में इस नश्वर शरीर का त्याग किया।

आप की इस यात्रा के समय कुशलगढ़ स्टेट ने अपना बैण्ड ध्वजा निशान आदि लवाजमा भेज दिया था, उनकी निषद्या बनाने के लिए स्टेटने नदी के किनारे एक सुन्दर स्थान भी दिया है। आफीसर लोग, नागरिक सब शवयात्रा के साथ थे। तथा स्टेट भर में सदा के लिए उस दिन की स्मृति में राज्य छुट्टी रखने और किसी भी जीव की हिंसा नहीं होने देने की घोषणा सरकार ने कर दी थी। यह स्टेट की सराहनीय भक्ति का नमूना है।

निषद्या स्थान पर कूआ बाग धर्मशाला बनगई है, छतरी बन गई है और उस छतरी में उनके चरण कमल प्रतिष्ठित होकर स्थापन किये जा चुके हैं। उनके चरण कमलों की स्थापना स्वयं आचार्य श्री १०८ कुंथु सागर महाराज ने की थी। आचार्य श्री कुंथु सागर जी महाराज आचार्य श्री सुधर्मसागर जी को अपना विद्या गुरु मानते थे। तथा उन्होंने अपने समस्त स्वरचित संस्कृति ग्रन्थों में आचार्य सुधर्मसागरजी को अपना विद्यागुरु के नाम से सर्वत्र उल्लेख किया है। आचार्य सुधर्म सागर जी के गृहस्थावस्था के पुत्र वैद्यराज पं० जयकुमार जी आयुर्वेदाचार्य नागौर (राजस्थान) में सकुटुम्ब रहते हुए अपना स्वतन्त्र वैद्यक व्यवसाय चला रहे हैं।

५—न्यायालंकार पं० मक्खनलालजी शास्त्री—आप संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् हैं। और हिन्दी भाषा के सम्मान्य लेखक

और वक्ता हैं आपने देहली नगर में आर्यसमाज के साथ लगातार छह दिन तक शास्त्रार्थ कर बड़ी शानदार विजय प्राप्त की थी। उसी समय वहां के अग्रवाल खण्डेलवाल पद्मावती पुरवाल आदि समस्त पंचायत ने तथा प्रान्त और दूर से आये हुये समस्त जैनियों ने मिल कर "वादीभ केसरी,, यह सुप्रसिद्ध उपाधि आपको प्रदान की थी। इसके सिवा न्याया-लंकार, विद्यावारिधि की उपाधियाँ भी आपको प्राप्त हैं। भा० दि० जैन महासभा ने आपकी निःस्वार्थ अनुपम सेवा से प्रसन्न होकर धर्मवीर की सम्मान्य उपाधि प्रदान की है।

इस समय आप समस्त दि० जैन समाज में एक अच्छे मान-नीय विद्वान् गिने जाते हैं। आपने वर्षों तक उक्त महासभा के मुख पत्र साप्ताहिक जैन गजट की सम्पादकी का उत्तरदायित्व पूर्णकार्य बड़ी सुयोग्यता से किया था तथा अधार्मिक वातावरण को हटाते हुये धर्म का उद्योत किया है।

आपने पञ्चाध्यायी, पुरुषार्थसिध्युपाय तथा उत्तरार्ध राज वार्ति कालंकार की अत्यन्त विस्तृत स्वतन्त्र टीकायें लिखी हैं जिनमें प्रत्येक पदार्थ का विवेचन बड़ी योग्यता और सरलता के साथ किया हैं। आपने भा० दि० जैन महासभाश्रित परीक्षालय के मंत्रित्व का कार्य भी बड़ी योग्यता के साथ किया है।

इस समय आप श्री गो० दि० जैन सिद्धान्त महाविद्यालय मोरेना का संचालन बहुत योग्यता और उत्तरदायित्व के साथ कर रहे हैं। साथ में जैन धर्म के प्रौढ़ तत्वों को बतानेवाले तथा उनकी रक्षा करने वाले "जैन दर्शन" पाक्षिक पत्र का संपादन भी महत्वपूर्ण कर रहे हैं। गवालियर स्टेट ने आपको आ० मजिस्ट्रेट भी बनाया था, आपको सैकेन्ड क्लास पावर के अधिकार थे। उस कार्य को

आपने करीब २० वर्ष तक प्रभावक एवं न्याय रूप में किया, फल स्वरूप राज्य ने आपको पोशाक और प्रमाण पत्र भेंट किये हैं।

६—बाबू श्रीलालजी जौहरी—आप इस समय करीब २५ वर्षों से जयपुर में जवाहरात का व्यापार करते हैं और सकुटुम्ब वहीं पर रहते हैं। जवाहरात को परख करने में आपकी जैसी प्रसिद्धि है वैसे ही आप जवाहरात के व्यवसाय में भी एक प्रतिष्ठित प्रामाणिक जौहरी माने जाते हैं। विशेषता यह है कि सभी भाई और पूरा घराना ही दृढ धार्मिक है।
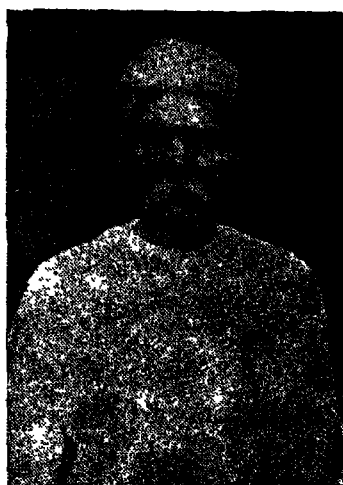
श्री पं० लालाराम जी शास्त्री

इस ग्रन्थ के टीकाकार—श्रीमान् धर्मरत्न, सरस्वतीदिवाकर, विद्वच्छिरोमणि, समाज में प्रसिद्ध एवं संस्कृत सिद्धान्त के पूर्ण मर्मज्ञ प्रभावक अनुभवी विद्वान् श्रद्धेय पं० लालाराम जी शास्त्री महोदय हैं।

आपने अनेक गम्भीर महान ग्रन्थों को बड़े सरल रूप में हिन्दी टीकाएँ की हैं। तथा ग्रन्थों के मर्मस्थलों को बहुत ही उत्तमता के साथ स्पष्ट और विशद किया है। आपकी टीकाओं में ग्रन्थ का कठिन भाग भी सरलता से समझाया गया है। आपकी बनाई हुई टीकाओं में खास विशेषता यह है कि मूलग्रन्थ के अनुसार ही आशय रहता हैं। ग्रन्थ के बाहर की कोई भी बात स्वतन्त्र रूप से लिखी हुई आपकी टीकाओं में प्रक्षिप्त नहीं की जाती है।

आपके द्वारा टीका किये हुए बहुत से ग्रन्थ हैं जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं—आदिपुराण, उत्तरपुराण, शान्तिपुराण, धर्मामृत श्रावकाचार, सुबोधसार, चारित्रसार, आचारसार. बोधामृतसार, ज्ञानामृतसार, सुधर्मोपधर्मदेशामृतसार, प्रश्नोत्तर. श्रावकाचार, समन्तभद्र कृत जिनशतक, पात्र केशरी स्तोत्र संशयि वदन विदारण, गौतम चरित्र, सुभौम चरित्र, सूक्ति मुक्तावली, तत्त्वानुशासन, वैराग्यमणिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा (यशस्तिलक ग्रन्थ स्थित), वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, लघीयस्त्रय, चतुर्विंशतिसंधान चतुर्विंशतितीर्थंकर महास्तुति, चतुर्विंशतितीर्थंकर स्तोत्र, सुधर्मध्यान प्रदीप, सुधर्म श्रावका चार, शान्ति सिंधु, मुनिधर्म प्रदीप, दशभक्त्यादि संग्रह, मोक्षशास्त्र, भाव संग्रह, आशाधर सहस्त्र नाम, जिनसेन सहस्त्र नाम, मूलाचार प्रदीप, सार समुच्चय, आलाप पद्धति, दशलाक्षणिक जयमाला आदि।

इनके सिवा षोडश संस्कार, क्रियामंजरी. बालबोध जैनधर्म तीसरा चौथा भाग, जैनधर्म, जैनदर्शन आदि कितनी ही स्वतंत्र पुस्तकें श्रद्धेय धर्मरत्नजी ने लिखी हैं।

आचार्य शान्ति सागर पूजन, आचार्य शान्ति सागर छाणी पूजन, आचार्य कुंथुसागर पूजन, श्री सम्मेद शिखर पूजन, श्री

अकंपन संघ पूजन, पूज्य विष्णु कुमार मुनि पूजन, भक्तामर शतद्वयी, नमस्कारात्मक सहस्त्रनाम शान्त्यष्टक, आदि संस्कृत पद्य रचनात्मक स्वतंत्र ग्रन्थों की रचना भी आपने बहुत सुन्दर और प्रासाद् गुण युक्त की है ।

आपने आदि पुराण समीक्षा की परीक्षा लिखी थी उसका प्रभाव भी जैन समाज में बहुत अधिक पड़ा था आपने इन ग्रन्थों को लिखकर तथा अनेक ग्रन्थों की सरल टीकाएं लिखकर समाज को जो लाभ पहुंचाया है तथा हिन्दी और संस्कृत साहित्य की जो उन्नति की है उसके लिये समाज आपका सदैव ऋणी रहेगा।

आप वर्षों तक भा० दि० जैन महासभा के साप्ताहिक मुखपत्र जैनगजट के सफल सम्पादक रह चुके हैं तथा भा० दि० जैन महा सभा के सहायक मंत्री भी रह चुके हैं। उक्तमहासभा ने आपकी दूरदर्शिता पूर्ण निस्पृह सेवा से प्रसन्न होकर आपको " धर्मरत्न ,, की महत्वशालिनी उपाधि से विभूषित किया है। आप भा० दि० जैन शास्त्री परिषद् के सभापति तथा सरंक्षक भी रह चुके हैं।

भा० दि० जैन सिद्धान्त संरक्षिणी सभा का जो प्रथम अधिवेशन पैठन (औरंगाबाद निजाम) में हुआ था उसके आप ही सभा-पति नियत हुए थे तथा आपने उस अधिवेशन का कार्य बड़ी सफलता के साथ किया था। उसी सभा का दूसरा अधिवेशन श्री अंदेश्वर पार्श्वनाथ में (जिला डूंगरपुर कुशलगढ के निकट) हुआ था उसमें आपको उक्त सभा ने अपना संरक्षक बनाया है तथा उसी अधिवेशन में उस सभा ने आपको "सरस्वती दिवाकर" प्रभावशालिनी उक्त उपाधि प्रदान की है।

श्रीमान् सरस्वती दिवाकरजी की यह साहित्य सेवा जैन साहित्य के प्रचार के लिए पूर्ण सहायक हुई है। जैन समाज हृदय से इन परोपकारी महा विद्वान् का अभिनन्दन करेगा। । हम भी शास्त्री जी का सादर अभिनन्दन करते हैं।

इस समय आप सपरिवार मैनपुरी (यू० पी०) में रहते हैं। आपके सुपुत्र भाई राजेन्द्रकुमार जी वहां दूकान करते हैं श्रीमान धर्मरत्न जी इस समय भी कुछ अनुभवात्मक हितकारी सुन्दर रचनायें करते ही रहते हैं। हमारे श्रद्धेय धर्मरत्नजी चिरंजीवी और स्वस्थ रहते हुए इसी प्रकार बहुत समय तक समाज का धार्मिक लाभ पहुँचाते रहे यही श्री जिनेन्द्रदेव से प्रार्थना है।

भाद्रपद शु० २ वि० सं० २०१३ ब्रह्मचारी चांदमलचूड़ीवाल

नागौर (मारवाड़)

इस ग्रन्थ की विषय सूची

विषय— श्री श्लोक संख्या

विषय—	श्री श्लोक संख्या

❀ श्रीवीतरागाय नमः ❀

आचार्यवर्य श्री देवसेन विरचित

— भाव-संग्रह —

धर्मरत्न, सरस्वती दिवाकर, पं० लालाराम शास्त्री द्वारा निर्मित
हिन्दी भाषा टीका सहित

❀ मंगलाचरण ❀

वन्दे शान्तिजिनेन्द्रं श्रीजिनभक्तं समन्तभद्रं च ।
वन्दे शान्तिपयोधिं रत्नत्रयलब्धये भक्त्या ॥

मैं लालाराम शास्त्री रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये भक्तिपूर्वक श्रीशान्तिनाथ जिनेन्द्रदेव को वन्दना करता हूँ, परम जिनभक्त श्री समन्तभद्रस्वामी की वन्दना करता हूं और आचार्यश्री शान्तिसागर की वन्दना करता हूं ।

आचार्य विरचित—मंगलाचरण और प्रतिज्ञा

पणमिय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं ।
वोच्छामि भावसंगह मिणमो भव्वप्पबोहट्टं ॥ १ ॥
प्रणम्य सुरसेननुतं मुनिगणधरवन्दितं महावीरम् ।
वक्ष्ये भावसंग्रहमेतं भव्यप्रबोधनार्थम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो महावीर स्वामी आचार्य श्री देवसेन के द्वारा वन्दनीय हैं तथा मुनि और गणधर देवों के द्वारा वन्दनीय हैं ऐसे श्री महावीर स्वामी को नमस्कार कर मैं (आचार्य श्रीदेवसेन) भव्यजीवोंको आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये इस भाव संग्रह ग्रंथकी रचना करता हूँ ॥ १ ॥

जीवस्स हुंति भावा जीवा पुण दुविह भेयसंजुत्ता ।
मुत्ता पुण संसारी, मुत्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥ २ ॥
जीवस्य भवन्ति भावा, जीवाः पुनर्द्विविधभेदसंयुक्ताः ।
मुक्ता पुनः संसारिणो, मुक्ताः सिद्धा निरवलेपाः ॥ २ ॥

अर्थ—भाव सब जीवों के ही होते हैं अन्य अजीवादिक पदार्थोंके भाव नहीं होते । तथा समस्त जीवों के दो भेद हैं:—एक मुक्त और दूसरे संसारी । जो जीव राग द्वेष मोह आदि समस्त विकारोंसे रहित हैं और समस्त कर्मोंसे रहित हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मुक्त जीव कहते हैं ।

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणिय तइलोया।
असरीरा गइरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥ ३ ॥
लोकाग्रशिखरवासिनः केवलज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकाः।
अशरीरा गतिरहिताः सुनिश्चलाः शुद्धभावस्थाः ॥ ३ ॥

अर्थ—वे सिद्ध परमेष्ठी वा मुक्त जीव लोक शिखर पर विराजमान हैं। अपने केवलज्ञानके द्वारा तीनों लोकों को एक ही समयमें साक्षात् देखते और जानते हैं। तथा वे सिद्ध परमेष्ठी शरीर रहित हैं, चारों गतियों के परिभ्रमणसे रहित हैं, चारों गतियों में से किसी गतिमे भी नहीं हैं, अत्यन्त निश्चल हैं और अपने आत्मा के शुद्ध भावों मे सदा लीन रहते हैं ॥ ३ ॥

जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिच्चं।
ते परिणामे गिण्हदि सुहासुहे कम्मसंगहणे ॥ ४ ॥
ये संसारिणः। जीवाश्चतुर्गतिपर्यायपरिणता नित्यम्।
ते परिणामान् गृह्णन्ति शुभाशुभान् कर्म-संग्रहणे ॥४॥

अर्थ—जो जीव सदा काल चारों गतियों की पर्यायों में परिणत होते रहते हैं ऐसे जीवों को संसारी जीव कहते हैं। तथा ऐसे संसारी जीव कर्मों का संग्रह करने के लिये शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मो को ग्रहण करते रहते हैं।

भावार्थ—देवगति, मनुष्यगति, तिर्यञ्चगति और नरकगति ये चार गतियां हैं। जो जीव इन चारों गतियों में परिभ्रमण करते रहते हैं वे जीव संसारी कहलाते हैं और ऐसे जीवों के शुभ

परिणाम वा अशुभ परिणाम होते ही रहते हैं। उन्हीं शुभ या अशुभ परिणामों से समस्त कर्मों का संग्रह होता रहता है ॥४॥

भावेण कुणइ पावं पुण्णं भावेण तहय मुक्खं वा।
इयमंतर णाऊणं जं सेयं तं समायरहं ॥ ५ ॥
भावेन करोति पापं पुण्यं भावेन तथा च मोक्षं वा।
इत्यन्तरं ज्ञात्वा यच्छ्रेयस्तं समाचरत ॥ ५ ॥

अर्थ—यह जीव अपने ही परिणामों से पाप उपार्जन करता है, अपने ही परिणामों से पुण्य उपार्जन करता है और अपने ही परिणामों से मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने ही परिणामों में इतना भारी अन्तर समझकर हे भव्यजीव! आत्मा के जो परिणाम आत्माका कल्याण करनेवाले हों उन्हीं परिणामों का तू आश्रय ले।

भावार्थ—शुभ अशुभ वा शुद्ध भाव अपने आधीन हैं। यह जीव किसी जीव को मारने के भाव भी कर सकता है और उसके बचाने के भी भाव उत्पन्न कर सकता है। दोनों प्रकार के भाव उत्पन्न करना उसीके आधीन है। तथा आत्मा का कल्याण जीवों की रक्षा करने से होता है और उनके मारने के परिणामों से पाप होता है। यही समझकर जीवों को अशुभ भावों का—पापरूप भावों का त्याग कर देना चाहिये और शुभ भावों को धारण करना चाहिये। देखो—हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहलाते हैं। इन्हीं पापोंके करनेसे यह जीव नरक जाता है; परन्तु स्वयंभू रमण समुद्रमे उत्पन्न होने वाला तन्दुल मत्स्य

इन पांचों पापोंमें से कोई पाप नहीं करता परन्तु जीवों के हिंसा करने के भाव करता रहता है। उन भावोंके ही कारण वह सातवें नरक जाता है। यही समझकर अपने भाव वा परिणाम सदा संभालते रहना चाहिए। पांचों पापों के करने के भाव कभी नहीं करने चाहिए। पाप कर्म वा पुण्यकर्मों का बन्ध भावों से ही होता है। इसलिए संसारी जीवों को नरकादिके दुःखों से बचने के लिए पाप रूप अशुभ भावोंका त्याग करना ही आत्मा का कल्याण करनेवाला है।

सेवो सुद्धो भावो तस्सुवलंभोय होइ गुणठाणे।
पणदहपमादरहिए सयलवि चारित्तजुत्तस्स ॥६॥

सेव्यः शुद्धो भावः तस्योपलंभश्च भवति, गुणस्थाने।
पंचदशप्रमादरहिते सकलस्यापि चारित्रयुक्तस्य ॥६॥

अर्थ—इन तीनों प्रकारके भावों में शुद्ध भाव ही सेव्य है, धारण करने योग्य है। तथा उस शुद्ध भाव की प्राप्ति सकल चारित्र को धारण करने वाले महामुनियों के पन्द्रह प्रमादों से रहित ऐसे सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में होती है।

भावार्थ—अशुभ भावतो त्याग करने योग्य हैं ही परन्तु शुभ भाव भी त्याग करने योग्य हैं। क्योंकि जिस प्रकार अशुभ भावों से नरकादि दुर्गतियों का बन्ध होता है। उसी प्रकार शुभभावों से देवादि शुभ गतियों का बन्ध होता है। इस प्रकार शुभ अशुभ दोनों ही कर्म बन्ध करनेवाले हैं। केवल शुद्धभाव ही कर्मबन्धन

से छुड़ाकर मोक्षकी प्राप्ति कराने वाला है। इसलिये शुद्धभाव ही उपादेय और आत्माका कल्याण करने वाला है। शेष शुभ और अशुभभाव दोनों ही त्याज्य है। वह शुद्ध भाव श्रेणी आरोहण करनेवाले महामुनियों के ही होता है। शुद्ध भावों को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ महामुनि ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि मोक्षका कारण निर्ग्रन्थलिंग ही है। अन्य किसी अवस्थासे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपाव संजणया।
ते पंचभाव मिस्सा होंति गुणट्ठाणमासेज्ज ॥७॥
शेषौ यौ द्वौ भावौ शुभाशुभौ पुण्यपापसंजनकौ।
तौ पंचभावमिश्रौ भवतो गुणस्थानमाश्रित्य ॥७॥

अर्थ—शुद्धभावों को छोड़कर शेष जो शुभ अशुभ भाव हैं वे दोनों ही पुण्य पापों को उत्पन्न करनेवाले हैं। तथा वे दोनों ही शुभ अशुभ भाव, औदयिक आदि पांचों भावों से मिलकर गुणस्थानों के आश्रयसे रहते हैं ॥ ७ ॥

अउदइउ परिणामउ खय उवसमिउ तहा उवसमो खइओ।
एए पंच पहाणा भावा जीवाण होंति जियलोए ॥ ८ ॥
औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकस्तथौपशमिकःक्षायिकः
एते पंच प्रधाना भावा जीवानां भवन्ति जीवलोके ॥ ८ ॥

अर्थ औदयिक, पारिणामिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक ये पांच भाव समस्त जीवों के प्रधान वा मुख्य भाव कहलाते हैं।

भावार्थ—ये पांच भाव मुख्य है। इन्हीं पांचो भावों में जब अशुभ शुभ शुद्ध भाव मिलजाते हैं तब गुणस्थानों की रचना बन जाती है ॥ ८ ॥

तेचिय पज्जाय गया चउदहगुणठाण णामगा भणिया।
लहिऊण उदय उवसम खयउवमम खउ हु कम्मष्स॥९॥
ते चैव पर्यायगताश्चतुर्दशगुणस्थाननामका भणिताः।
लब्ध्वा उदयमुपशमं क्षयापशमं क्षयं हि कर्मणः ॥ ९ ॥

अर्थ—वे शुभ अशुम और शुद्धभाव ही कर्मों के उदय होने पर, उपशम होने पर, क्षयोपशम होने पर, वा क्षय होने पर अनेक प्रकारकी पर्यायों को प्राप्त होजाते हैं और उन भावों की वे पर्याये ही चौदह गुणस्थानों के नामसे कही जाती हैं।

भावार्थ—कर्मों के उदय होने से औदयिक भाव होते है, कर्मों के उपशम होने से औपशमिकभाव होते हैं' कर्मोके क्षयोपशम होनेसे क्षायोपशमिकभाव होते हैं, और कर्मोके क्षय होनेसे क्षायिक भाव होते हैं। इन्हीं भावोंमें शुभ अशुभ शुद्ध भाव मिलने से चौदह गुणस्थान बन जाते हैं।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियत्ति सुहमो य ॥१०॥
उवसन्त खीणमोहो सजोइकेवलिजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥११॥

मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतं च।
विरतं प्रमत्तं इतरदपूर्वमनिवृत्ति सूक्ष्मं च ॥ १० ॥
उपशान्तक्षीणमोहे सयोग केवलि जिने। अयोगी च।
एतानि चतुर्दश गुणस्थानानि क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान १ सासादन गुणस्थान २ मिश्र-गुणस्थान ३ अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ४ देशविरत अथवा विरत विरत गुणस्थान ५ प्रमत्त विरत ६ इतर अर्थात् अप्रमत्त विरत ७ अपूर्व करण गुणस्थान ८ अनिवृत्तिकरण गुणस्थान। ९ सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान १० उपशान्तमोह गुणस्थान ११ क्षीणमोह गुणस्थान १२ सयोगि केवली गुणस्थान १३ अयोगि केवली गुणस्थान १४ ये अनुक्रमसे चौदह गुणस्थान कहलाते हैं। जो जीव समस्त कर्मों को नष्ट कर इनसे पार हो जाते हैं उनको सिद्ध वा मुक्त समझना चाहिये।

अब आगे अनुक्रमसे इन्हीं गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं।

मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे सम्भवइ उदइयो भावो ।
तेण य मिच्छादिट्ठी ठाणं पावेइ सो तइया ॥१२॥
मिथ्यात्वस्योदयेन च जीवे संभवति औदयिको भावः ।
तेन च मिथ्यादृष्टिस्थानं प्राप्नोति स तत्र ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्मके उदय से इस जीवके औदयिकभाव प्रगट होते हैं। तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय होनेसे प्रगट हुए औदयिक भावों से इस जीवके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है।

भावार्थ—आठ कर्मोंमें एक मोहनीय कर्म है जो सब कर्मों में प्रबल है। उसके अट्ठाईस भेद है। मोहनीय कर्मके मूलमें दो भेद हैं-दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद है.-मिथ्यात्व सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इसी प्रकार चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुंवेद, नपुंसकवेद। अनादि मिथ्यादृष्टी जीव के दर्शन मोहनीय का एक मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है, तथा सादि मिथ्यादृष्टी के तीनों दर्शन मोहनीय कर्मों का उदय रहता है। इसका भी कारण यह है कि प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होने के समय ही मिथ्यात्व कर्म तीन भागों मे बट जाता है। इसके पहले वह एक मिथ्यात्व रूप ही रहता है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टी जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय रहता है और उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।

आगे उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से कैसे भाव होते हैं सो दिखलाते हैं:—

मिच्छत्तरस पउत्तो जीवो विवरीय दंसणो होई।
ण मुणइ हियंच अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो ॥ १३॥

मिथ्यात्वरसप्रयुक्तो जीवो विपरीतदर्शनो भवति।
न जानाति हितं चाहितं पित्तज्वरयुक्तो यथा पुरुषः।१३।

अर्थ—इस मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से यह जीव विपरीत दृष्टी हो जाता है और पित्तज्वर वाले पुरुष के समान अपने हित अहित को नहीं जान सकता।

कडुवं मण्णइ महुरं महुरं पि य तं भणेइ अइ कडुयं।
तह मिच्छत्तपउत्तो उत्तमधम्मं ण रोचेई ॥ १४ ॥
कटुकं मन्यते मधुरं मधुरमपि च तद् भणति अतिकटुकम्।
तथा मिथ्यात्वप्रवृत्तः उत्तमधर्माय न रोचते ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार पित्तज्वर वाला पुरुष कडवे पदार्थ को मीठा कहता है और मीठे पदार्थ को कडवा कहता है, इसी प्रकार मिथ्यात्व में प्रवृत्त हुआ यह जीव उत्तम धर्म मे रुचि नहीं कर सकता।

भावार्थ—यहा पर दर्शन अथवा दृष्टि शब्द का अर्थ श्रद्धान करना है। श्रद्धान दो प्रकार का होता है-एक सम्यक् श्रद्धान और दूसरा मिथ्या श्रद्धान। सम्यक् श्रद्धान आत्मा का एक गुण है जो मिथ्यात्व कर्म के उदय से विपरीत हो जाता है। इसी को मिथ्या श्रद्धान कहते हैं। जिस प्रकार पित्तज्वर वाले पुरुष को मीठा पदार्थ भी कडवा लगता है उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के उदय से यह जीव यथार्थ धर्म में रुचि वा श्रद्धान नहीं करता और इसीलिये ही वह अपने आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता।

यही बात आगे दिखलाते हैं :—

जइ कणय मज्ज कोद्दव महुरामोहेण मोहियो संतो।
ण मुणय कज्जाकज्जं मिच्छादिट्ठी तहा जीवो ॥ १५ ॥
यथा कनकमद्यकोद्रवमधुरमोहेन मोहितः सन्।
न जानाति कार्याकार्यं मिथ्यादृष्टिस्तथा जीवः ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार धतूरा मद्य और कोदों की मधुरता के मोह से मोहित हुआ यह जीव काय अकार्य को नहीं जानता, अपना हित नहीं पहचानता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी जीव भी मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपना हित अहित वा कार्य अकार्य नहीं जान सकता। विपरीत श्रद्धान होने के कारण वह अपने आत्मा का स्वरूप अथवा समस्त तत्त्वों का स्वरूप विपरीत ही समझता है और इसीलिये वह अपने आत्मा का अहित ही करता रहता है।

आगे उसी मिथ्यात्व के भेद बतलाते हैं।

तं पि हु पंचपयारं वियरो एयंतविणयसंजुत्तं।
संसय अण्णाणगयं विवरीओ होइ पुण बंभो ॥ १६ ॥
तदपि हि पंचप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तम्।
संशयाज्ञानगतं विपरीतो भवति पुनः ब्राह्मः ॥१६॥

अर्थ—वह मिथ्यात्व पांच प्रकार है—विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञानगत वा अज्ञान मिथ्यात्व। इन पांचों प्रकार के मिथ्यात्वों में से ब्राह्म मत विपरीत मिथ्यात्व है।

मण्णइ जलेण सुद्धिं तित्तिं मंसेण पियरवग्गस्स ।
पसुकयवहेण सग्गं धम्मं गोजोणिफासेण ॥ १७ ॥
मन्यते जलेन शुद्धिं तृप्तिं मांसेन पितृवर्गस्य ।
पशुकृतवधेन स्वर्गं धर्मं गोयोनिस्पर्शनेन ॥ १७ ॥

अर्थ—जो लोग जल स्नान से आत्माकी शुद्धि मानते हैं, मांस भक्षण से पितृवर्ग की तृप्ति मानते हैं, पशुओं का वध करने वा पशुओं का होम करने से स्वर्ग की प्राप्ति मानते हैं और गाय की योनि का स्पर्श करने से धर्म की प्राप्ति मानते हैं, इन सब मे धर्म की विपरीतता किस प्रकार है यह सब आगे दिखलावेंगे ॥ १७ ॥

आगे जल से आत्मा की शुद्धि मानने वालों के लिये कहते हैं

जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुच्चेइ णिययपावेण ।
तो तत्थ वसिय जलयरा सव्वे पावंति दिवलोयं ॥१८॥
यदि जलस्नानप्रवृत्ता जीवा मुच्यन्ते निजपापेन ।
तर्हि तत्र वसन्तो जलचराः सर्वे प्राप्नुवन्ति दिवलोकम् ॥

अर्थ—यदि जल स्नान करने से ही वे जीव अपने पापोंसे छूट जाते हों तो जल में ही निवास करने वाले समस्त जलचर जीवों को स्वर्ग की प्राप्ति अवश्य हो जानी चाहिये। भावार्थ-स्वर्ग की प्राप्ति पापों के नाश हो जाने से होती है। तीर्थ स्नान करने से पापों का नाश नहीं होता, पापों का नाश तो जप तप ध्यान से होता है। जिस तीर्थ स्नान से लोग स्वर्गप्राप्ति मानते

हैं उसी तीर्थ में अरबों खरबों मत्स्य मछली, मगर, कच्छप, आदि जलचर जीव रहते हैं और वे सब एक दूसरे का भक्षण करते रहते हैं और इस प्रकार वे महा पाप उपार्जन करते रहते हैं। यदि तीर्थ स्नान से ही पापों की निवृत्ति मानी जाय तो प्रतिक्षण महापाप उपार्जन करने वाले उन समस्त जलचरों को स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये परंतु यह असंभव बात है। इसलिये जल स्नान से पापों की शुद्धि मानना विपरीत श्रद्धान है। हमने फर्रुखाबाद में स्वयं देखा है कि कितने ही लोग गंगा स्नान कर उसी गंगा के किनारे गोमुखी में माला डालकर जप करते हैं और मछली मारने के लिये एक एक वंशी भी डालदेते हैं। इस प्रकार तीर्थ स्नान और जप करते हुए भी मछली मारने का महा पाप उत्पन्न करते रहते हैं। यह सब उनका विपरीत धर्म है।

आगे—तीर्थ स्नान से पाप नष्ट क्यों नहीं होते यही बात दिखलाते हैं।

जं कम्मं दिढवद्धं जीव पएसेहि तिविहजोएण।
तं जलफासणिमित्तं कह फुहहि तित्थण्हाणेण ॥ १६ ॥
यत्कर्म दृढबद्धं जीवप्रदेशैस्त्रिविधयोगेन।
तज्जलस्पर्शनिमित्तं कथं स्फुटति तीर्थस्नानेन ॥१६॥

अर्थ—जो कर्म मन वचन काय के योग से जीव के प्रदेशों के साथ दृढतासे बंधे हुए हैं वे कर्म तीर्थ-स्नान करने मात्र से केवल जल का स्पर्श करने से कैसे छूट सकते हैं?

भावार्थ—कर्मों का बंध योग और कषायों के निमित्त से होता है। इसलिये वह योगों का निग्रह करने से और कषायों का त्याग करने से ही छूट सकता है। केवल जल के स्पर्श करने मात्र से वे कर्म कभी नहीं छूट सकते। कर्म के प्रदेश और कर्म सहित आत्मा के प्रदेश अत्यंत सूक्ष्म हैं। इसलिये जलका स्पर्श वहांतक पहुंच ही नहीं सकता। फिर भला उस जल से आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है? कभी नहीं हो सकती।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

मलिणो देहो णिच्चं देही पुण णिम्मलो सया रूवी।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणेण णहि सुद्धी ॥ २० ॥
मलिनं देहं नित्यं देही पुनः निर्मलः सदाऽरूपी।
क इह जलेन शुद्ध्यति तस्मात् स्नानेन न हि शुद्धिः ॥२०॥

अर्थ—यह शरीर मल मूत्र से भरा हुआ है, रजोवीर्य से उत्पन्न हुआ है और रुधिर मांस आदि घृणित वस्तुमय है। इसलिये वह सदा मलिन ही रहता है। तथा इस शरीर में रहने वाला आत्मा सदा निर्मल रहता है और वह सदा अरूपी ही रहता है। ऐसी अवस्था में विचार करना चाहिये कि इस तीर्थ जल से किसकी शुद्धि होती है। आत्मा अरूपी है, इसलिये उसकी शुद्धि तो हो नहीं सकती तथा रुधिर मांस मय यह शरीर सदा अशुद्ध ही रहता है इसलिये वह भी शुद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार

जल से × आत्मा की शुद्धि कभी नहीं हो सकती तथा शरीर की भी शुद्धि नहीं हो सकती।

× गीता में लिखा है।

अत्यंत मलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरंतरं दृष्ट्वा कस्य शौचं विधीयते॥

अर्थ—शरीर अत्यंत मलिन है और आत्मा अत्यंत निर्मल है। आत्मा और शरीर इन दोनों मे महान अंतर है। फिर भला तीर्थ स्नान से किसकी शुद्धि हो सकती है अर्थात् किसी की नहीं।

और भी लिखा है—

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति।
शतशोपि जलैर्धौतं मद्यभांडमिवाशुचि॥

अर्थ—यह चित्त अंतरंग में अत्यंत दुष्ट है इसलिये वह तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकता जिस प्रकार मद्य से भरा हुआ घड़ा सदा अशुद्ध ही रहता है यदि उसे सौ सौ बार जलसे धोया जायतो भी वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह मलिन हृदय तीर्थ स्नान से कभी शुद्ध नहीं हो सकता।

अरण्ये निर्जले देशेऽशुचित्वाद् ब्राह्मणो मृतः।
वेदवेदागतत्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति॥
यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः।
अथस्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकम्॥

आगे आत्मा की शुद्धि किस प्रकार होती है यही बात दिखलाते हैं।

मुज्झइ जीवो तवसा इंदियखल णिग्गहेण परमेण।
रयणत्तयसंजुत्तो जह कणयं अग्गिजोएण ॥ २१ ॥
शुद्ध्यति जीवस्तपसा इन्द्रियखल निग्रहेन परमेण।
रत्नत्रय संयुक्तो यथा कनकं अग्नियोगेन ॥ २१ ॥

अर्थ—वेद वेदांग को जाननेवाला कोई एक ब्राह्मण कभी जल रहित वन में अथवा जल रहित किसी देश मे पहुँच गया और वहां पर वह विना जल शुद्धि किये ही मरगया। अब बतलाइये वह किस गति को प्राप्त होगा। यदि वह बिना शुद्धि के कारण नरक गति को प्राप्त होगा तो उसके सब वेद निरर्थक हो जाते हैं। उसने जो समस्त वेद वेदांग पढ़े हैं उनका पढ़ना जानना सब निष्फल हो जाता है। यदि वह वेद वेदांग पढने के कारण स्वर्ग को जाता है तो फिर जल शुद्ध व्यर्थ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की शुद्धि जल से कभी नहीं हो सकती।

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेक कुरु पाडुपुत्र न वारिणा शुध्द्यति चान्तरात्मा ॥

अर्थ—हे अर्जुन यह शुद्ध आत्मा एक नदी है जो सयम रूपी जल से भरी हुई है, सत्य वचन ही इसके प्रवाह हैं, शील पालन करना ही इसके किनारे हैं और दया करना ही इसकी

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि के संयोग से सोना शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार यह रत्नत्रय से सुशोभित होने वाला आत्मा तपश्चरण से तथा इन दुष्ट इंद्रियों का परम निग्रह करने से ही शुद्ध होता है।

लहरें हैं। हे अर्जुन तू ऐसी शुद्ध आत्मा रूपी नदी में ही स्नान कर अर्थात् ऐसे शुद्ध आत्मा में लीन हो तभी इस आत्मा की पूर्ण शुद्धि हो सकती है। यह अंतरात्मा जल से कभी शुद्ध नहीं हो सकता।

चित्तं समाधिभिः शुद्धं वदनं सत्यभाषणैः।
ब्रह्मचर्यादिभिः कायः शुद्धो गंगां विनापि सः॥

समाधि वा ध्यान धारण करने से चित्त शुद्ध होता है, सत्य भाषण से मुख शुद्ध होता है और ब्रह्मचर्य आदि से शरीर शुद्ध होता है इस प्रकार वे सब विना गंगा स्नान के ही शुद्ध हो जाते हैं।

कामरागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते जलेन शुद्ध्यन्ति स्नात्वा तीर्थशतैरपि॥

अर्थ—जो पुरुष कामके रागसे मदोन्मत्त हैं और जो स्त्रियों के वशीभूत हैं ऐसे पुरुष सैकडों तीर्थों में स्नान करने पर भी उस जलसे कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

गंगातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः।
आम्लैरप्याचरन् शौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति॥

भावार्थ—इस आत्मा की शुद्धि रत्नत्रय से होती है इन्द्रियों का निग्रह करने से होती है और तपश्चरण से होती है। तीर्थ-स्नान से आत्मा की शुद्धि कभी नहीं हो सकती।

अर्थ—जिन जीवोंके भाव दुष्ट हैं वे पुरुष यदि समस्त गङ्गाके जलसे शुद्धि करें तथा अनेक पर्वतोंके समान मिट्टी के ढेरसे शुद्धि करें, उस मिट्टी को रगड रगडकर गङ्गाजलमें शुद्धि करें तथापि वे दुष्ट परिणामों को धारण करनेवाले पुरुष कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं वाचां यमश्चेन्द्रियनिग्रहस्तप.।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि, मोक्षस्य मार्गं परि दर्शयन्ति ॥

अर्थ—पुरुषके लिये मनका विशुद्ध होना तीर्थ है. वचनों का संयम धारण करना वा मौन धारण करना तीर्थ है, इन्द्रियोंका निग्रह करना तीर्थ है और तपश्चरण करना तीर्थ है। ये सब शरीर जन्य तीर्थ हैं जो मोक्षमार्ग की ओर संकेत करते हैं, मोक्ष-मार्ग को दिखलाते हैं।

चित्तं रागादिभिर्दुष्टमलीकवचनैर्मुखम्।
जीवघातादिभिः कायस्तस्य गङ्गा पराङ्मुखी ॥

अर्थ—जिनका चित्त रागद्वेषसे दुष्ट है, जिनका मुख मिथ्या वचनों से दुष्ट है जिनका मुख मिथ्या वचनों से दुष्ट है और जिनका शरीर जीवों का वध वा हिंसा करने के कारण दुष्ट है ऐसे जीवों से गङ्गा भी प्रतिकूल रहती है।

आगे तीर्थस्नान से आत्मा की शुद्धि मानने वालों को कैसा फल मिलता है यही बात दिखलाते हैं।

ण्हाणाओ चिय सुद्धिं जीवा इच्छंति जे जडत्तेण।
भमिहिंति ते वराया चउरासी जोणि लक्खाइं॥ २२ ॥
स्नानादेव शुद्धिं जीवा इच्छन्ति ये जडत्वेन।
भ्रमिष्यन्ति ते वराकाश्चतुरशीतियोनिलक्षाणि ॥२२॥

अर्थ—जो जीव अपनी जड बुद्धिके कारण स्नान करनेमात्र से ही आत्मा की शुद्धि मानते हैं वे तुच्छ पुरुष × चौरासीलाख योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।

आगे कैसे जीव कभी शुद्ध नहीं होते सो दिखलाते हैं:—

× चौरासीलाख योनियां—

णिच्चचदुरधादुसत्तय तरुदस वियलिंदियेसु छच्चेवं।
सुरणिरयतिरियचउरो चउदस मणुजे सदसहस्सा॥

नित्य निगोदके सात लाख, इतरनिगोदके सात लाख, पृथिवी कायिक के सात लाख, जल कायिक के सात लाख, अग्नि कायिक के सात लाख, वायु कायिक के सात लाख, वनस्पति कायिक के दस लाख, दो इन्द्रियके दो लाख, तेइन्द्रियके दो लाख, चौ इन्द्रियके दो लाख, देवोंके चार लाख, नारकियों के चार लाख, पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के चार लाख और मनुष्यों के चौदह लाख। इस प्रकार समस्त संसारी जीवों की चौरासी लाख योनियां हैं।

जे तियरमणासत्ता विसयपमत्ता कसायरसविसिया ।
ण्हंता वि ते ण शुद्धा गिहवावारेसु वट्टंता ॥२३॥
ये स्त्रीरमणासक्ता विषयप्रमत्ता कषायरसवशिताः ।
स्नान्त अपि ते न शुद्धा गृहव्यापारेषु वर्तमानाः ॥२३॥

अर्थ—जो जीव स्त्रियों के भोगों में सदा आसक्त रहते हैं, विषय भोगों में लगे रहते हैं और जो क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारों कषायों के वशीभूत रहते हैं ऐसे घरके व्यापार में लगे रहने वाले पुरुष स्नान करने मात्रसे कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

सव्वस्सेण ण लित्ता मायापउरा य जायणासीला ।
किं कुणइ तेसु ण्हाणं अब्भंतर गहिय पावाणम् ॥२४॥
सर्ववस्तुना न तृप्ता माया प्रचुराश्च याचनाशीलाः ।
किं करोति तेषां स्नानमभ्यन्तर गृहीत पापानाम् ॥२४॥

अर्थ—जिनको समस्त पदार्थों का दान देदिया जाय तो भी जो कभी तृप्त न हों' जो सदा काल अनेक प्रकार की मायाचारी करते रहते हों, जो सदा याचना करते रहते हों और जिन्होंने अपने आत्मामें अनेक पापों का संग्रह कर रक्खा हो ऐसे जीवों की शुद्धि के लिये भला स्नान क्या कर सकता है अर्थात् कुछ भी नहीं।

भावार्थ—यद्यपि स्नान करने से अनेक जीवोंका घात होता है जलमें अनेक सूक्ष्म त्रस जीव रहते हैं बिना छने पानीसे स्नान

करने से उन समस्त त्रस जीवों का तथा जलमें रहने वाले जल कायिक जीवों का घात हो जाता है। इसके सिवाय जिस फर्श पर वह जल गिरता है वहां भी मिट्टी जलके सयोग से अनेक जीव उत्पन्न होकर मर जाते हैं। इस प्रकार स्नान करने से अनेक प्रकार की हिंसा होने पर भी भगवान् अरहन्त देव की पूजा करने के लिये और सुपात्र वा पात्रों को दान देनेके लियेछ्ने हुए पानी से स्नान करने का विधान है। गृहस्थ लोगों को समस्त कामों में छना हुआ पानी ही काममें लाना चाहिये। लिखा भी है।

"यः कुर्यात् सर्व कर्माणि वस्त्रपूतेन वारिणा।
स मुनिः स महासाधुः स योगी स महाव्रती॥

अर्थात्—जो गृहस्थ अपने सब काम छने हुए पानी से करता है वह गृहस्थ मुनि, साधु योगी महाव्रती के समान माना जाता है। इससे यह बात सहज रीति से समझ में आजाती है कि विना छने पानी से स्नान करने से अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा होती है और हिंसा होने से महा पापों का सग्रह होता है। इसलिये स्नान करने मात्र से पापों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती किंतु पापों की वृद्धि होती है। इसलिये स्नान करने मात्र से आत्मा की शुद्धि मानना तो बहुत दूर की बात है। वह तो कभी भी नहीं हो सकती।

आगे शुद्धता के कारण बतलाते हैं।

वयणियमसीलजुत्ता णिहय कसाया दयावहाजइणो।
एहाणरहिया वि पुरिसा वंभंचारी सया सुद्धा॥ २५॥

व्रतनियमशीलयुक्ता निहतकषाया दयापरा यतयः ।
स्नानरहिता अपि पुरुषा ब्रह्मचारिणः सदा शुद्धाः ॥२५॥

अर्थ—जो मुनि पंच महा व्रत धारण करते हैं समिति गुप्ति आदि के समस्त नियम पालन करते हैं पूर्ण शीलव्रतों का पालन करते हैं, जिन्होंने अपने समस्त कषाय नष्ट कर दिये हैं जो सदा काल समस्त जीवों की दया पालन करने में तत्पर रहते हैं और पूर्ण रीति से विना किसी प्रकार का दोष लगाये पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ऐसे पुरुष विना स्नान किये ही सदा शुद्ध रहते हैं।

भावार्थ—शरीर और आत्मा दोनों की शुद्धि का कारण पूर्ण ब्रह्मचर्य है। यदि उसके साथ व्रत नियम शील पालन किये जायं, आत्मा को अशुद्ध करने वाले समस्त कषायों को नष्ट कर दिया जाय और समस्त जीवों का दया की जाय, कभी किसी जीव की हिंसा न की जाय तो फिर उस जीव के पूर्व संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार उस आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि होती जाती है।

इस प्रकार संक्षेप से स्नानके दोष बतलाये। अब आगे मांस भक्षण के दोष बतलाते हैं।

मंसेण पियरवग्गो पीणिज्जइ एरिसो सुई जेसिं ।
तेहि मसेसं गोत्तं हणिऊण य भक्खियं णियमा ॥
मांसेन पितृवर्गः तृप्यते ईदृशी श्रुतिर्येषाम् ।
तैरशेषं गोत्रं हत्वा च भक्षितं नियमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—जिन ब्राह्मणों के वेद और स्मृतियों में मांस भक्षण करने से पितर लोग तृप्त होते हैं ऐसा लिखा है तथा जो लोग

मनुस्मृतिमें लिखा है—

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हरिणेन तु ।
औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पंच वै ॥
षण्मासांश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै ।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु ॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः ।
शश कूर्मज मांसेन मासानेकादशैव तु ।
संवत्सरं तु गव्येन पयसा पायसेन च ।
वार्ध्रीणसस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी ॥
काल शाकं महाशल्काः खड्ग लोहामिषं मधु ।
आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी ऐसा ही लिखा है— यथा—

हविष्यान्नेन वै मासं पायसेन तु वत्सरम् ।
मात्स्यहारिणकौरभ्रशाकुनच्छागपार्षतैः ॥
ऐणरौरववाराह शाशैर्मांसैर्यथाक्रमम् ।
मांसवृद्ध्याभितृप्यन्ति दत्तैरिह पितामहैः ॥
खड्गामिषं महाशल्कं मधुमुन्यन्नमेव च ।
लोहामिषं महाशाकं मांसं वार्ध्रीणसस्य च ॥
यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते ।
तथा वर्षा त्रयोदश्यां मघासु च विशेषतः ॥

उन वेद और स्मृतियों को मानते हैं और उसके अनुसार चलते हैं। उनको समझना चाहिये कि वे लोग नियमसे अपने ही घरके वा गोत्रके समस्त जीवों को मारकर खा जाते हैं।

लगभग इनसे मिलते जुलते श्लोक मत्स्यपुराण अध्याय १ में श्लोक संख्या तीस से पैंतीस तक में हैं।

संक्षेपसे इन का अभिप्राय यह है कि मत्स्य के मांससे श्राद्ध करना अर्थात् ब्राह्मणों को श्राद्ध में मत्स्य का मांस खिलाने से पितर लोक दो महीने तक तृप्त रहते हैं हिरणके मांस से तीन महीने तक, मेढाके मांससे चार महीने तक, पक्षियों के मांस से पांच महीने तक, बकरी के मांस से छः महीने तक चितेरा मृगके मांससे सात महीने तक, एण जातिके हिरणके मांस से आठ महीने तक, भुंवारके मांससे नौ महीने तक, जंगली सूअर वा भैंसा के मांससे दश महीने तक और खरगोश के मास से ग्यारह महीने तक पितर तृप्त होते हैं। गाय के दूध कीखीर से बारह महीने तक तृप्त होते हैं। वार्धीणसके मांससे बारह वर्ष तक पितर तृप्त होते हैं। गेंडा, महामत्स्य काल शाक लाल वर्ण का बकरा आदि से अनन्त तृप्ति होती है।

इस प्रकार स्मृतियों में मांस खाने खिलाने का वीभत्स वर्णन हैं। शतपथ ब्राह्मणमें भी लिखा है—

"राज्ञे वा ब्राह्मणाय वा महोक्षं वा महाजं वा पचेत्"

अर्थात् राजा वा ब्राह्मण के लिए बडा बैल वा बडा बकरा पकाना चाहिये। वशिष्टस्मृतिमें भी यही बात लिखी है।

आगे इसी बातका समर्थन करते हैं ।

जे कयकम्मपउत्ता सुयणा हिंडंति चउगई घोरे ।
संसारे गिरहंता संबंधा सयल जीयेहिं ॥ २७ ॥
ये कृतकर्मप्रयुक्ताः स्वजना हिण्डन्ते चतुर्गतिघोरे ।
संसारे गृह्णन्तः संबन्धान् सकलजीवैः ॥ २७ ॥
तिरियगई उववण्णा संपत्ता मच्छयाइ जे जम्मं ।
हरिऊण अवरपक्खे तेसिं मंसेहिं विविहेहिं ॥ २८ ॥
तिर्यग्गतावुत्पन्नाः सम्प्राप्ता मत्स्यादि ये जन्म ।
हत्वा अपरपक्षे तेषां मांसैर्विविधैः ॥ २८ ॥
कुणइ सराहं कोई पियरे संसारतारणत्थेण ।
सो तेसिं मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥ २९ ॥
करोति श्राद्धं कश्चित्पितुः संसारतारणार्थम् ।
स तेषां मांसानि च तेषां नाम्ना खादयति ॥२९॥

अर्थ—जो अपने माता पिता भाई बन्धु आदि मरकर अपने कर्मोंके उदय के अनुसार चारों गतियों में परिभ्रमण करते फिरते हैं और इस प्रकार इस संसार में परिभ्रमण करते हुए समस्त जीवों के साथ यथा योग्य सम्बन्ध ग्रहण करते रहते हैं उनमें से वे माता पिताके जीव तिर्यञ्च गति मे भी उत्पन्न होते हैं। किसी बकरा मत्स्य आदि योनि में भी उत्पन्न होते हैं तथा पूर्व जन्मकी उन्हींकी सतान श्राद्धपक्षमें उन्हीं माता पिताओं के जीवको इस संसारसे पार करनेके लिए श्राद्ध करते हैं और उस श्राद्ध में उन्हीं

के जीवों को जो मरकर बकरा मत्स्य हिरण आदि की योनियों में उत्पन्न हुए हैं मारकर खिलाते हैं और स्वयं खाते हैं। इस प्रकार श्राद्ध करनेवाले वे लोग अपने माता पिताओं को स्वर्ग में पहुँचाने के लिए वा तारने के लिये श्राद्ध करते हैं उस श्राद्धमें वे लोग उन्हीं माता पिताओं के जीवों को मारकर उसका मांस उन्हीं के नामसे खाते हैं वह कितने आश्चर्य की बात है ?

आगे इसी बातको उदाहरण देकर बतलाते हैं।

बंकेण जह सताओ हरिणो हणिऊण तण्णिमित्तेण ।
पइ ऊण सोत्तियाणं दिण्णो खद्धोसयं चैव ॥३०॥
वकेन यथा स्वतातो हरिणो हत्वा तन्निमित्तेन ।
प्रीणयित्वा श्रोत्रियेभ्यो दत्तः भक्षितः स्वयं चैव ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार एक वकने अपने पिताके श्राद्धमें अपने ही पिता के जीव हरिण को मारकर श्रोत्रियों को खिलाया था और स्वयं भी खाया था।

भावार्थ—एक बक नामका व्यक्ति था उसका पिता मरकर हरिण हुआ था। जब उस बक ने अपने पिताका श्राद्ध किया तो उस श्राद्धमें अपने पिताके जीव हरिण को ही मारकर पकाया और श्रोत्रियों को खिलाकर स्वयं भी खाया था। इस प्रकार उसने अपने पिता को तृप्त करने के लिये वा उसे तारने के लिए अपने ही पिता के जीव हरिण को मारा था और उसका मांस श्रोत्रियों को खिलाकर स्वयं ने खाया था।

आगे मांस से होने वाले श्राद्ध के दोष बतलाते हैं।

मांसासिणो ण पत्तं मंसं ण हु होइ उत्तमं दाणं।
कह सो तिप्पइ पियरो परमुहगसियाइं भुंजंतो ॥३१॥
मांसाशिनो न पात्रं मांसं न हि भवति उत्तमं दानम्।
कथं स तृप्यति पिता परमुखग्रसितानि भुञ्जानः ॥३१॥

अर्थ—पहली बात तो यह है कि मांस खाने वाले पुरुष कभी भी दान देने के पात्र नहीं माने जा सकते। दूसरी बात यह है कि मांस का दान देना कभी भी दान नहीं कहला सकता। फिर भला उसको उत्तम दान तो कह ही कैसे सकते हैं? तीसरी बात यह है कि दूसरे के मुखमें ग्रास देकर भोजन कराने से पितरों की तृप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। आगे भी इसी बात को दिखलाते हैं—

अण्णम्मि भुंजमाणे अण्णो जइ धाइएत्थ पच्चक्खं।
तो सग्गम्मि वसंता पियरा तित्तिं खु पावंति ॥३२॥
अन्यस्मिन् भुंजमाने यदि तृप्यत्यत्र प्रत्यक्षम्।
ततः स्वर्गे वसन्तः पितरस्तृप्तिं खलु प्राप्नुवन्ति ॥३२॥

अर्थ—इस लोकमें यदि किसी एक को भोजन कराने से दूसरा मनुष्य तृप्त हो जाता हो, तब ही स्वर्ग में रहने वाले पितर लोग भी तृप्त हो सकते हैं।

भावार्थ—देवदत्तके भोजन करने से यज्ञदत्त का पेट कभी नहीं भरता। फिर भला किसी के खालेनेसे स्वर्गमें रहने

वाले पितर लोग कैसे तृप्त हो सकते हैं, कभी नहीं हो सकते। इसलिये श्राद्ध में पितरों को तृप्त करने के लिये किसी को खिलाना विडम्बना मात्र है, इसके सिवाय और कुछ नहीं है।

आगे और भी इस के दोष दिखलाते हैं—

जइ पुत्तदिण्णदाणे पियरा तिप्पंति चउगइ गया वि ।
तो जण्णहोमण्हाणं जव तव वेयाइ अकियत्था॥२३॥
यदि पुत्रदत्तदानेन पितरः तृप्यन्ति चतुर्गतिं गता अपि।
तर्हि यज्ञहोमस्नानं जपः तपो वेदादय अकृतार्थाः ॥२३॥

अर्थ—जो पितर लोग मरकर अपने २ कर्मके अनुसार चारों गतियों में से किसी एक गति में प्राप्त हो चुके हैं वे यदि पुत्रके द्वारा दिए हुए दानसे ही तृप्त हो जायं तो फिर यज्ञ, होम, स्नान जप-तप वेद आदि सब व्यर्थ हो जाते हैं।

भावार्थ—स्वर्ग नरक आदि की प्राप्ति अपने आप किये हुए पुण्य पापसे होती है। जो स्वय जप तप करता है, दान देता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है और हिंसा झूठ चोरी आदिके करने से नरकादिक की प्राप्ति होती है। माता पिता भाई बन्धु आदि जीवों ने जैसा कर्म किया होगा उनको वैसी ही नरक स्वर्ग आदि की गति प्राप्ति हुई होगी। फिर भला पुत्र के द्वारा दिये हुए दान से उन पितरों का उद्धार कैसे हो सकता है ? यदि फिर भी थोडी देरके लिये मान लिया जाय कि पुत्र के दानसे ही पितरों का उद्धार हो जाता है तो फिर जो लोग जप करते हैं, तपश्चरण

करते हैं स्वयं दान देते हैं वा और भी अनेक प्रकारके पुण्य कर्म करते हैं उनका वह जप तप दान आदि सब व्यर्थ होजाता है । फिर तो स्वर्ग की प्राप्ति पुत्र के द्वारा दिये हुए दान पर ही निर्भर रही। परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है ।

आगे इसी बातको स्पष्ट रीति से बतलाते हैं ।

कयपाओ णरय गओ णिज्जय पुत्तेण पियरु सग्गम्मि ।
पिंडं दाऊण फुडं एहाइ य तित्थाइं भणिऊण ॥३४॥
कृतपापो नरके गतो नीयते पुत्रेण पिता स्वर्गे ।
पिंडं दत्वा स्फुटं स्नाति च तीर्थानि भणित्वा ॥३४॥
जइ एवं तो पियरो सग्गं पत्तो वि जाइ णरयम्मि ।
पुत्तेण कए दोसे बंभं हच्चाइगरुएण ॥ ३५ ॥
यद्येवं तर्हि पिता स्वर्गं प्राप्तोपि जायते नरके ।
पुत्रेण कृतेन दोषेण ब्रह्महत्यादि गुरुकेन ॥ ३५ ॥

अर्थ—जो माता पिता अपने अनेक पाप करने के कारण नरक योनि में उत्पन्न हुए थे वे माता पिता के जीव यदि पुत्र के द्वारा पिण्डदान देने से वा तीर्थस्नान करने से स्वर्गमें जा सकते हैं तो फिर जो माता पिता पुण्य कर्म करने के कारण स्वर्गमें उत्पन्न हुए थे वे माता पिताके जीव यदि उसके पुत्रके द्वारा कोई ब्रह्महत्या आदि महा पाप किये जाते हैं तो उस पुत्रके उस दोष से उस पापसे वे स्वर्गमें उत्पन्न हुए माता पिताके जीव नरक में भी जा सकते हैं ।

भावार्थ—यदि पुत्रके दान आदि से माता पिताके जीव नर्क में से स्वर्ग भी जा सकते हैं तो फिर स्वर्ग में भी उत्पन्न हुए माता पिता के जीव भी पुत्रके पापसे नरक मे भी जा सकते हैं। परन्तु ऐसा होना सर्वथा असम्भव है।

आगे इसी विषय को फिर दिखलाते हैं।

अण्णकए गुण दोसे अण्णो जइ जाइ सग्ग णरयम्मि।
जो कुणइ पुण्ण पावं तस्सफलं सो ण वेएइ ॥ ३६ ॥
अन्यकृताभ्यां गुणदोषाभ्यामन्यो यदि याति स्वर्गनरकेषु।
यः करोति पुण्यपापं तस्य फलं स न वेदयति ॥३६॥

अर्थ—यदि किसी एक पुरुषके गुण वा दोष से कोई दूसरा जीव स्वर्ग नरक जाता है तो फिर कहना चाहिये कि जो पुरुष स्वयं पुण्य वा पाप करता है उसका फल उसको नहीं मिल सकता। वह भी किसी दूसरे को मिल सकता है।

णहु वेयइ तस्स फलं कत्ता पुरिसो हु पुण्ण पावस्स।
जइ तो कह ते सिद्धा भूयग्गामा हु चत्तारि ॥३७॥
न हि वेदयति तस्य फलं कर्ता पुरुषः हि पुण्यपापयोः।
यदि तर्हि कथं ते सिद्धा भूतग्रामा हि चत्वारः ॥३७॥

अर्थ—जो पुरुष पुण्य करता है वा पाप करता है यदि उसका फल उसको नहीं मिलता तो फिर मनुष्य तिर्यञ्च देव नारकी इन चार प्रकार के जीवों की सिद्धि कैसे हो सकेगी?

भावार्थ—जो पुरुष पुण्य करता है उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती

है, जो पाप करता है उसको नरक की प्राप्ति होती है। जो पुण्य अधिक करता है साथ में थोड़ा पाप भी करता है उसको मनुष्य गति का प्राप्ति होती है और पाप अधिक करता है और साथमें थोड़ा पुण्य भी करता है उसको तिर्यञ्च गति का प्राप्ति होती है। यह सब तभी सिद्ध हो सकता है जब कि यह जीव स्वयं किये हुए पुण्य पाप का फल स्वयं भोगता है। यदि पुत्र के किये हुए पुण्य पाप से माता पिताओं को सुख दुःख भोगना माना जाय तो इन चारों गतियों की सिद्धि कभी नहीं हो सकती। तथा बिना पुत्र वालों को फिर क्या गति होगी ? इस प्रकार विचार करने से सिद्ध होता है कि पुत्रके किये दानसे माता पिताओंका उद्धार कभी नहीं हो सकता न पुत्रके पापसे माता पिता नरक में जा सकते हैं। जो जीव स्वयं जैसा पुण्य या पाप करता है उसका फल उसीको मिलता है। एक के द्वारा किये हुए पुण्य पापका फल दूसरे को कभी नहीं मिल सकता।

आगे निश्चित सिद्धान्त बतलाते हैं।

जो कुणइ पुण्णपावं सो चिय भुंजेइ णत्थि संदेहो।
सग्गं वा णरयं वा अप्पाणो णेइ अप्पाणं ॥ ३८ ॥
यः करोति पुण्यपापं स एव भुनक्ति नास्ति संदेहः।
स्वर्गं वा नरकं वा आत्मना नयति आत्मानम् ॥३८॥

अर्थ—जो जीव जैसा पुण्य वा पाप करता है उसका फल वही भोगता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इस प्रकार

यह आत्मा अपने आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को स्वर्ग वा नरक में ले जाता है।

भावार्थ—यह आत्मा पुण्य वा पाप अपने ही आत्मा के द्वारा वा अपने ही आत्मा के भावों से उपार्जन करता है और फिर उसी पुण्य से वह अपने आत्मा को स्वर्ग में पहुंचाता है और अपने किये हुए पाप से नरक में पहुंचाता है। किसी अन्य के द्वारा किये हुए दान पुण्य से दूसरा आत्मा न तो स्वर्ग जा सकता है और न किसी दूसरे के द्वारा किये पाप से किसी अन्य जीव का आत्मा नरक में जा सकता है। इसलिये पितरों के उद्धार के लिये श्राद्ध करना व्यर्थ है।

आगे श्राद्ध व ल यज्ञ आदि में जीव वध करने के महादोष उन्हीं के शास्त्रों के कथन से दिखलाते हैं।

एवं भणंति केई जल थल गिरिसिहर अग्गिकुहरेसु।
चहुविह भूयग्गामे वसइ हरी णत्थि संदेहो ॥ ३९ ॥
एवं भणन्ति केचिज्जलस्थलगिरिशिखराग्निकुहरेषु।
चतुर्विधभूतग्रामेषु वसति हरिर्नास्ति सन्देहः ॥३९॥

अर्थ—कोई कोई मत वाले ऐसा कहते हैं कि जल में स्थल में पर्वतों के शिखर पर अग्नि में गुफा वा छिद्रों में तथा सब प्रकार के जीवों में भगवान हरि रहते हैं इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। लिखा भी है:—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णु मयंजगत् ॥

अर्थात्—जल में भी विष्णु है स्थल में भी विष्णु है है पर्वत के मस्तक पर भी विष्णु है अग्नि जल आदि सब में विष्णु है। कहां तक कहा जाय यह समस्त संसार और समस्त जीव विष्णुमय है। ऐसा कोई कोई मानते हैं।

आगे ऐसा मानने वालों के लिये कहते हैं।

सव्वगओ जइ विण्हू णिवसइ देहम्मि सव्व देहीणं ।
तो रुक्खाइहणण सो णिहओ होइ णियमेण ॥ ४० ॥
सर्वगतो यदि विष्णुः निवसति देहे सर्वदेहिनाम् ।
तर्हि वृक्षादि घातेन स निहतो भवति नियमेन ॥४०॥

अर्थ—यदि विष्णु समस्त संसार में व्याप्त है तो वह विष्णु समस्त संसारी जीवों में भी रहता है, और यदि वह विष्णु समस्त संसारी जीवों में रहता है तो फिर किसी वृक्षको काटने से वह विष्णु भी काटा गया ऐसा समझना चाहिये। लिखा भी है।

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च विष्णुः संपूज्य भक्तितः ।
मत्स्यादीनां कथं मांसं भक्षितुं कल्प्यते बुधैः ॥

अर्थात्—मत्स्य, कूर्म वा कच्छप, कृष्ण, बुद्ध, कल्की, नरसिंह,

वामन, राम, परशुराम वराह वा शूकर ये सब दश विष्णु के अवतार माने हैं। इनमें से सबकी मूर्ति बनाकर भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं फिर भला बुद्धिमान पंडित लोग इन्हीं मत्स्य आदि के मांस खाने का विधान क्यों करते हैं।

आगे इसी बात को दिखलाते हैं।

किडिकुम्म मच्छरूवं पडिमं काऊण विण्हु भणिऊण।
अच्चेयणम्मि पुज्जइ गंधक्खयधूवदीवेहिं ॥ ४१ ॥
किटिकूर्ममत्स्यरूपां प्रतिमां कृत्वा विष्णुं भणित्वा।
अचेतनां पूजयंति गंधाक्षतधूपदीपैः ॥ ४१ ॥
जो पुण चेयणवंतो विण्हू पच्चक्ख मच्छ किडिरूवो।
सो हणिऊण य खद्धो दिण्णो पियराण पावेहिं ॥४२॥
यः पुनः चैतन्यवान् विष्णुः प्रत्यक्षं मत्स्यकिटिरूपः।
स हत्वा च भक्षितो दत्तः पितृभ्यः पापैः ॥ ४२ ॥

अर्थ—सूअर कच्छप मत्स्य इन सबकी प्रतिमा -नाकर और उसको विष्णु मानकर गंध, अक्षत, दीप, धूप आदि से उस अचेतन प्रतिमा की पूजा करते हैं। फिर भला मत्स्य कच्छप सूअर आदि चैतन्य जीवों में प्रत्यक्ष विष्णु विद्यमान है फिर भी उन मत्स्यादिक को और उनमें रहने वाले भगवान विष्णु को मारकर वे पापी अपने पितरों को खाने के लिये देते हैं। यह कैसी विपरीत और आश्चर्य की बात है।

आगे भी यही बात दिखलाते हैं ?

जइ देवो हणिऊणं मंसं गसिऊण गम्मए सग्गं।
तो णरयं गंतव्वं अवरेणिह केण पावेण ॥ ४३ ॥
यदि देवं हत्वा मांसं ग्रसित्वा गम्यते स्वर्गम्।
तर्हि नरकं गन्तव्यं अपरेणेह केन पापेन ॥ ४३ ॥

अर्थ—यदि अपने देवको ही मारकर और उसका मांस खाकर यह जीव स्वर्ग में जाता है तो फिर अन्य ऐसे कौन से पाप हैं जिनसे यह जीव नरक जायगा।

भावार्थ—अपने साक्षात् देव को मारकर उसका मांस खा जाना सब से बड़ा पाप है इससे बढकर और कोई पाप नहीं हो सकता। यदि ऐसे महा पाप से भी यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर नरक में जाने योग्य संसार भर में कोई महा पाप नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि जीवों को मारने और मांस खाने से स्वर्ग की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। ये दोनों ही काम नरक के कारण हैं। लिखा भी है—

अल्पायुषो दरिद्राश्च नीचकर्मोपजीविनः।
दुष्कुलेषु प्रसूयन्ते ये नराः मांस भोजिनः ॥
येत्ति मनुष्यो मांसं निर्दयचेताः स्वदेहपुष्ट्यर्थम्।
याति स नरकं सततं हिंसापरिवृत्तचित्तत्वात् ॥

अर्थात्—जो पुरुष मांस भक्षण करते हैं वे मनुष्य मरकर नीच कुल में उत्पन्न होते हैं। नीच कर्म करने वाले होते हैं। दरिद्री

होते हैं और अल्प आयु वाले होते हैं। जो निर्दय मनुष्य अपने शरीर को पुष्ट करने के लिये मांस भक्षण करता है उसका चित्त सदाकाल हिंसा करने में ही लगा रहता है और इसीलिये वह जीव बार बार नरक में ही उत्पन्न होता है।

आगे फिर भी यही बात दिखलाते हैं।

हणिऊण पोढछेलं गम्मइ सग्गस्स एस वेयत्थो।
तो सूणारा सव्वे सग्गं णियमेण गच्छंति ॥ ४४ ॥
हत्वा प्रौढच्छागं गच्छति स्वर्गं एप वेदार्थः।
तर्हि सूनकाराः सर्वे स्वर्गं नियमेन गच्छन्ति ॥ ४४ ॥

अर्थ—यदि वेदका अर्थ यही है कि मोटाताजी बकरा मार कर खा जाने से यह जीव स्वर्ग में चला जाता है तो फिर संसार में जितने पाप कर्म करने वाले हैं वे अवश्य ही स्वर्ग मे चले जायंगे।

सव्वगओ जइ विएहू छागसरीरम्मि किं ण सो अत्थि।
जं णित्ताणो वहियो चडप्फडंतो णिरुस्सासो ॥ ४५ ॥
सर्वगतो यदि विष्णुः छागादि शरीरे किं न सोस्ति।
यद् निस्त्राणः हतः संतप्यमानो निः श्वासः ॥ ४५ ॥

अर्थ—यदि विष्णु सर्व व्यापक हैं तो क्या वह उस मोटे ताजे बकरे के शरीर में नहीं हैं? अवश्य है। फिर भी श्रोत्रिय लोग जिस बकरे का कोई रक्षक नहीं है, जो तडफ रहा है और

श्वासें छोड रहा है ऐसे उस बकरे को मार ही डालते हैं। यह कितनी विपरीत बात है। लिखा भी है—

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थं यो निहन्यते।
तस्य मांसाशिनः सोपि सर्वेयान्ति सुरालयम् ॥
तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रज्ञैस्तस्य निश्चयात्।
पुत्रबंध्वादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥

अर्थात्—कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ में जो पशु मारा जाता है और जो लोग उसका मांस खाते हैं वे सब और वह पशु सब स्वर्ग में जाकर उत्पन्न होते हैं। परंतु ऐसा कहने वालों को समझना चाहिये कि यदि उनका ऐसा निश्चय है तो फिर वे लोग अपने पुत्र भाई आदि का होम क्यों नहीं करते जिससे वे सब लोग अनायास ही स्वर्ग में जा पहुंचे। और भी लिखा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोग तृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
संतुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव,
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोपि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बांधवैः ॥

अर्थात्—जिस पशु को यज्ञ में मारना चाहते हैं वह पशु उन श्रोत्रियों से कहता है कि हे भाई! तू जो मुझे मार कर स्वर्ग पहुंचाना चाहता है सो भाई मुझे तो स्वर्ग के फल भोगने की लालसा नहीं है, न मैं आप लोगों से स्वर्ग पहुंचाने की प्रार्थना

करता हूं मैं तो सदा काल तृण भक्षण करने में ही संतुष्ट रहता हूं इसलिये मुझे मारना सर्वथा अनुचित है। यदि यह बात निश्चित है कि इस यज्ञ में मारे हुए प्राणी सब स्वर्ग में चले जायंगे तो फिर आप लोग अपने माता पिता पुत्र भाई आदि कुटुंवियों का ही इस यज्ञ में होम क्यों नहीं करते ? जो वे सब अनायास ही स्वर्ग में पहुंच जाय ?

आगे अन्य प्रकार से भी ऐसी हिंसा का निषेध करते हैं।

अण्णं इयणि सुणिज्जइ सत्थे हरिवंभरुद्दभत्ताणं।
सव्वेसु जीवरासिसु अंगे देवा हु णिवसंति ॥ ४६ ॥
अन्यदितिश्रूयते शास्त्रे हरिब्रह्मरुद्रभक्तानाम्।
सर्वेषां जीव राशीनां अंगे देवा हि निवसन्ति ॥ ४६ ॥

अर्थ—इन के मत में यह भी लिखा है कि ब्रह्मा विष्णु महादेव समस्त जीवों के अंगों में निवास करते हैं यथा—

नाभिस्थाने वसेद् ब्रह्मा विष्णुः कंठे समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥
नासाग्रे च शिवं विंद्यात्तस्यान्ते च परोपरः।
परात्परतरं नास्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥

अर्थात्—समस्त जीव राशियों की नाभि में ब्रह्मा निवास करते हैं, विष्णु कंठ में निवास करते हैं, तालु के मध्य भाग में रुद्र निवास करते हैं, ललाट पर महेश्वर रहते हैं, नाक के अग्र

भाग पर शिव रहते हैं तथा नासिका के अंत में अन्य देवता रहते हैं।

आगे किसी भी जीव के मारने से इन ब्रह्मा विष्णु महादेव की भी हिंसा होती है, ऐसा दिखलाते हैं।

सव्वेसु जीवरासिसु ए ए णिवसंति पंच ठाणेसु ।
जइ तो किं पसु वहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥ ४७ ॥
सर्वेषु जीवराशिषु एते निवसन्ति पंचस्थानेषु ।
यदि तर्हि किं पशुवधेन न मारिता भवन्ति ते सर्वे ॥४७॥

अर्थ—इस संसार में रहने वाले समस्त संसारी जीवों के नाभि कठ तालु ललाट और नासिका इन पांचों स्थानों में ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रहते हैं फिर भला किसी भी प्राणी के मारने से उनकी मान्यतानुसार इन ब्रह्मा विष्णु महेश का भी घात अवश्य हो जाता है। इस प्रकार किसी भी जीव को हिंसा करने से इन देवों की भी हिंसा अवश्य होती है।

आगे इसी बात को स्पष्ट कहते हैं—

देवे वहिऊण गुणा लब्भइ जइइत्थ उत्तमा केई ।
तो रुक्ख वंदणाया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥ ४८ ॥
देवान् बुद्ध्वा गुणान् लभन्ते यद्यत्रोत्तमाः केचित् ।
तर्हि वृक्षवन्दनया अपरे पारधिका सर्वे ॥ ४८ ॥

अर्थ—इस संसार में यदि उत्तम पुरुष देवों को मारकर ही

गुण प्राप्त करना चाहते हैं, स्वर्गादिक की प्राप्ति करना चाहते हैं तो वे सब लोग हत्यारे पारधी हैं जो लोग वृक्षों की वंदना करके भी प्रसन्न होते हैं अर्थात् वृक्ष वा पोधों तक को नहीं तोड़ते ऐसे लोगो को छोडकर शेष जीवों को मारने वाले सब पारधी हैं। लिखा भी है—

नहि हिंसाकृते धर्मः सारंभे नास्ति मोक्षता।
स्त्री संपर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया॥

अर्थात्—हिंसा करने पर कभी धर्म नहीं हो सकता, घर के वा व्यापार आदि के आरंभ कार्य करते हुए कभी मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते, स्त्री समागम करने पर कभी पवित्रता नहीं हो सकती और मांस भक्षण करने पर कभी दया नहीं हो सकती।

तिलसर्षपमात्रं वा यो मांसं भक्षयेत् द्विजः।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

अर्थात्—जो ब्राह्मण तिल वा सरसों के समान भी मांस भक्षण करता है वह जीव जबतक सूर्य चन्द्रमा विद्यमान रहेंगे तब तक कभी नरक से नहीं निकल सकता।

आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात्।
विप्राणां पतनं दृष्टवा तस्मान्मांसं न भक्षयेत्॥

अर्थात्—ब्राह्मण लोग पहले आकाश गामी थे परंतु मांस भक्षण करने से वे पतित होगये और पृथ्वी पर चलने लगे। इस

प्रकार उक्त के पतन को देखकर कभी भी मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।

आगोपालं क्रियत्सिद्धं धान्यं मांसं पृथक् पृथक् ।
मांसमानय इत्युक्ते न कश्चिद्धान्यमानयेत् ॥

अर्थात्—धान्य वा अन्न अलग पदार्थ है और मांस अलग पदार्थ है । इस बात को बालक वृद्ध आदि सब जानते हैं । क्योंकि मांस लाओ ऐसा कहने पर कोई भी बालक वा वृद्ध अन्न वा धान्य नहीं लाता ।

स्थावरा जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिता ।
जंगमेषु भवेन्मांसं फलं तु स्थावरेषु च ॥

अर्थात्—संसार में दो प्रकार के जीव हैं । एक स्थावर और जंगम वा त्रस । इनमें से त्रस जीवों से मांस उत्पन्न होता है तथा स्थावर वृक्षादिकों पर फल लगते हैं ।

मांसं तु इन्द्रियं पूर्णं सप्तधातुसमन्वितम् ।
यो नरो भक्षते मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥

अर्थात् —मांस समस्त इन्द्रियों से पूर्ण होता है और रुधिर मज्जा आदि सातों धातुओं से मिला रहता है । इसलिये जो मनुष्य मांस भक्षण करता है वह अनंत सागरों तक इस संसार में परि भ्रमण करता रहता है ।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चैव घातकः ।
उपदेष्टानुमंता च षडेते समभागिनः ॥

मांस को लाने वाला, पकाने वाला, खाने वाला जीव को मारने वाला और उसकी अनुमोदना करने वाला इन छहों जीवों को समान पाप लगता है।

मांसाशनातिसक्ते क्रूरनरे नसं तिष्ठते सुदया।
निर्दयमनसि न धर्मो धर्मविहीने च नैव सुखिता स्यात् ॥

जो क्रूर मनुष्य मांस भक्षण करने में अत्यंत आसक्त रहता है उसके हृदय में कभी भी उत्तम दया नहीं हो सकती तथा जिसका हृदय अत्यंत निर्दय है उस हृदय में कभी भी धर्म नहीं ठहर सकता और धर्म रहित मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता।

न कर्दमे भवेन्मांसं न काष्ठेषु तृणेषु च।
जीवशरीराद् भवेन्मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

न तो कीचड में मांस है न काठ वा लकडी में मांस है और न तृणों में घास फूंस में मांस है। मांस सदा जीवों के शरीर से ही उत्पन्न होता है। इसलिये मांस भक्षण कभी नहीं करना चाहिये।

सर्वं शुक्रं भवेद् ब्रह्मा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते।
ईश्वरोप्यस्ति संघाते तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥

संसार में शुक्र वा वीर्य सब उत्पत्ति के कारण होने से ब्रह्मा कहलाते हैं तथा पुष्टि वा पालन करने के कारण मांस को विष्णु

संज्ञा है । इस प्रकार इन जीवों का घात करने से ईश्वर का भी घात होता है । इसलिये मांस भक्षण नहीं करना चाहिये ।

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्नवा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्नवा निम्बः ॥

मांस जितना है वह सब जीवों के शरीरमें ही उत्पन्न होता है परन्तु जितने जीवों के शरीर हैं वे सब मांस नहीं होते उनमें से कुछ जीवों के शरीर मांस रूप होते हैं और कुछ जोवों के शरीर मांस रूप नहीं होते । जैसे चलने फिरने वाले मत्स्य आदि के शरीर मांस रूप होते हैं और वृक्षादिक के शरीर मांस रूप नहीं होते । जैसे नीमका वृक्ष वृक्ष ही होता है परन्तु जितने वृक्ष हैं वे सब नीम के वृक्ष नहीं होते । क्योंकि कोई वृक्ष आमके होते हैं हैं कोई नीबूके होते हैं । इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ।

कश्चिदाहेति यत्सर्वं धान्यपुष्पफलादिकम् ।
मांसात्मकं न तत्किं स्याज्जीवांगत्वप्रसंगतः ॥

कोई कोई यह कहते हैं कि संसार में जितने धान्य फल फूल आदि हैं वे सब जीवके शरीर के ही अङ्ग हैं इसलिये वे मांस रूप ही क्यों नहीं कहला सकते । परन्तु उनका यह कहना सर्वथा अनुचित है । क्योंकि—

जीवत्वेन हि तुल्या वै यद्यप्येते भवन्तु ते ।
स्त्रीत्वे सति यथा माता अभक्ष्यं जंगमं तथा ॥

यद्यपि जीव होने के कारण जंगम और स्थावर दोनों प्रकार

के जीव समान हैं परन्तु मांस उत्पन्न होने के लिये समान नहीं हैं। स्थावर जीवोंके शरीर में कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार स्त्री पना होने पर भी माता माता है वह स्त्री नहीं हो सकती इसी प्रकार जंगम जीवों का शरीर कभी भी भक्षण करने योग्य नहीं हो सकता।

यद्वद्गरुडः पक्षी पक्षी न तु एव सर्व गरुडोस्ति।
रामैव चास्ति माता माता न तु सार्विका रामा॥

जिस प्रकार गरुड तो पक्षी होता है परन्तु जितने पक्षी हैं वे सब गरुड नहीं हो सकते। इसी प्रकार स्त्री ही माता है परन्तु माता सब रूपसे स्त्री नहीं हो सकती।

शुद्धं दुग्धं न गोमांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम्।
विषघ्नं रत्नमादेयं विषं च विपदे मम्ः॥

जिस प्रकार रत्न और विष दोनों ही समुद्रसे उत्पन्न होते हैं तथापि रत्न विषको दूर करनेवाला है इसलिये उपादेय है और विष विपत्तिका कारण है इसलिए त्याज्य है। इसी प्रकार दूध भी गायसे उत्पन्न होता है और मांस भी गायसे उत्पन्न होता है परन्तु दूध शुद्ध है और मांस शुद्ध नहीं है। यह केवल वस्तु की विचित्रता है।

हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे।
विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये स्मृतम्॥

यद्यपि दूध और मांस दोनों की उत्पत्ति का समान कारण है गायसे ही दोनों उत्पन्न होते हैं तथापि मांस त्याज्य है और दूध पीने योग्य है। देखो विष वृक्षके पत्ते आयु बढाते हैं और उसकी जड़ मृत्युका कारण है।

पंचगव्यं तु तैरिष्टं गोमांसे कापथः कृतः।
तत्पित्तजाप्युपादेया प्रतिष्ठादिषु रोचना॥

ब्राह्मण लोग पंचगव्य मानते हैं परन्तु गोमांस उसमें भी वर्जित है तथा उसी गायके पित्त से उत्पन्न हुआ गोरोचन वे लोग अपने प्रतिष्ठादिक के काम में ले आते हैं।

इति हेतोर्न वक्तव्यं सादृश्यं मांसधान्ययोः।
मांसं निन्द्यं न धान्यं स्यात् प्रसिद्धेयं श्रुतिर्जनैः॥

इन सब कारणों को समझ कर यह कभी नहीं कहना चाहिये कि मांस और धान्य दोनों समान हैं। मांस और धान्य कभी समान नहीं हो सकते। मांस महा निंद्य है और धान्य नहीं है। यह बात सब लोग जानते हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

इस प्रकार संक्षेप से मांस के दोष बतलाये हैं।

आगे गोयोनि वन्दना के दोष दिखलाते हैं।

वंदइ गोजोणि सया तुण्डं परिहरइ भणिवि अपवित्तं।
विवरीयाभिणिवेसो एसो फुडु होइ मिच्छोवि॥४६॥
वन्दते गोयोनिं सदा तुण्डं परिहरति भणित्वाऽपवित्रम्।
विपरीताभिनिवेश एष स्फुटं भवति मिथ्यात्वमपि॥४६॥

अर्थ—जो लोग गायके मुखको अपवित्र कहकर छोड़ देते हैं और उसकी योनि को वन्दना करते हैं यह उनका विपरीत श्रद्धान है इसीको प्रगट वा साक्षात् मिथ्यात्व कहते हैं ।

आगे योनि वन्दना के दोष दिखलाते हैं ।

पावेण तिरियजम्मे उव्वण्णा तिणयरी पसू गावी ।
अविवेया विट्ठासी सा कह देवत्तणं पत्ता ॥ ५० ॥
पापेन तिर्यग्जन्मनि उत्पन्ना तृणचारिणी पशुः गौः ।
अविवेकिनी विष्ठाशिनी सा कथं देवत्वं प्राप्ता ॥५०॥

अर्थ—जो गाय अपने पाप कर्मके उदयसे तिर्यञ्च योनि में पशुपर्याय में उत्पन्न हुईहै जो पशु कहलाती है, घास भुस खाती है जो विवेक रहित है, हित-अहित का कुछ विचार नहीं कर सकती और विष्ठा भी भक्षण करती है ऐसी गाय भला देवता कैसे होसकती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती ।

अहवा एसो धम्मो विट्ठं भक्खंतया वि णमणीया ।
तो किं वज्झइ दुज्झइ ताडिज्जय दीहदंडेन ॥ ५१ ॥
अथवैष धर्मो विष्ठां भक्षयन्त्यपि नमनीया ।
तर्हि किं वध्यते दुह्यति ताड्यते दीर्घदण्डेन ॥५१॥

अर्थ— यदि आप लोगों ने यही मान लिया है कि गाय चाहे विष्ठाभक्षण करती रहे तथापि वह वन्दनीय है तो फिर उसे क्यों बांधते हो, क्यों दुहते हो और बड़ी लकड़ी लेकर क्यों उसे मारते हो।

भावार्थ—जो देवताके समान वन्दनीय है तो फिर उसे कभी नहीं बाँधना चाहिये, कभी नहीं मारना चाहिये और कभी नहीं दुहना चाहिये।

आगे और भी दिखलाते हैं।

सुरही लोयस्सागे वक्खाणय एस देवि पश्चक्खा।
सव्वे देवा अंगे इमिए णिवसंति णियमेण ॥ ५२ ॥
सुरभिः लोकस्याग्रे कथ्यते एषा देवी प्रत्यक्षा।
सर्वे देवा अंगे अस्या निवसन्ति नियमेन ॥ ५२ ॥
पुण रवि गोसवजएणे मंसं भक्खंति सा वि मारित्ता।
तस्सेव वहेण फुडं ण मारिया होंति ते देवा ॥ ५३ ॥
पुनरपि गवोत्सवयज्ञे मांसं भक्षयन्ति तामपि मारयित्वा।
तस्या एव वधेन स्फुटं न मारिता भवन्ति ते देवाः ॥५३॥

अर्थ— जो लोग सब लोगों के सामने यह कहते हैं कि यह गाय प्रत्यक्ष देवता है इसके शरीर में नियम रूपसे सब देवता निवास करते हैं। ऐसा कहते हुए भी वे लोग गवोत्सव यज्ञ में वा गो यज्ञमें उसी गाय को मारकर उसका मांस खा जाते हैं। क्या उस गायके मारने से समस्त देवों का वध नहीं हो जाता! अवश्य हो जाता है।

भावार्थ—गवालंभन (गो वध का विषय वेदादि शास्त्रों में प्रायः अनेक स्थलमें आता है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण अष्टक ३ अध्याय ६ अनुवाक नवम मे लिखा है कि "अज

जातीय अविजातीयऔर आरण्य ये पशु मुख्य नहीं है किन्तु गो जातीय पशुको ही सर्व पशुके स्थान में प्रयोग करना। इसलिये उत्तम दिन में गो जातीय पशुका आलंभन करना। तथा च तत्पाठः तदाहुः—अपशवो वा एते यदजावयश्चारण्याश्च एते वै सर्वे पशवः यद्गव्या इति। गव्यान्पशूनुत्तमेऽहन्यालभते। तेनैवा भयान् पशूनवरुन्धे इति।

इसी का अर्थ सायण भाष्य में इस प्रकार लिखा है—

तत्र पशु विषये रहस्याभिज्ञा एवमाहुः। अजजातीय। अविजातीया आरण्याश्च ये सन्ति ते मुख्याः पशवो न भवन्ति। किन्तु गो जातीया एत एव सर्वे पशव. सर्वपशुस्थाने प्रयोक्तव्या इति। तस्मादुत्तमेऽहनि गो जातीयान् पशूनालभेत। तेनैव गवालंभनेन ग्राम्यानारण्यांश्चोभयान् प्राप्नोति ॥

खदिर गृह्यसूत्र पटल ३ खण्ड ४ में भी गाय का हवन करना लिखा है।

आगे श्रोत्रिय लोगों के लिए कहते हैं।

सोत्तिय गव्वुव्वुढा मंसं भक्खंति रमिहि महिलाओ।
अपवित्ताइं अशुद्धादेहच्छिद्दाइं वंदंति ॥ ५४ ॥
श्रोत्रिया गर्वोत्कटा मांसं भक्षयन्ति रमन्ते महिलाः।
अपवित्राणि अशुद्धानि देहच्छिद्राणि वन्दन्ते ॥५४॥

अर्थ—अपने अभिमानसे मदोन्मत्त हुए ये श्रोत्रिय लोग मांस भक्षण करते हैं, स्त्रियोंके साथ संभोग करते हैं तथा गोयोनि

ऐसे अपवित्र और अशुद्ध ऐसे शरीर के छिद्रों की वंदना करते हैं।

आगे श्रोत्रियका यथार्थ लक्षण कहते हैं।

सो सोत्तियो भणिज्जइ णारीकडिसोत्त वज्जिओ जेण।
जो तु रमणामत्तो ण सोत्तिओ सो जडो होई ॥५५॥
स श्रोत्रियो भण्यते नारीकटिस्रोतो वर्जितं येन।
यस्तु रमणासक्तो न श्रोत्रियः स जडो भवति ॥५५॥

अर्थ—जिस महापुरुषने स्त्री के कटिभाग के स्रोतका सर्वथा त्याग कर दिया है अर्थात् जो कभी स्त्री सेवन नहीं करता, सदा काल ब्रह्मचारी रहता है उसको श्रोत्रिय कहते हैं। जो पुरुष स्त्री सेवन करने में आसक्त रहता है वह कभी श्रोत्रिय नहीं हो सकता उसे जड कहना चाहिये।

श्रोत्रिय का आजकल क्या अर्थ करते हैं—यह दिखाते हैं।

अहवा पसिद्धवयणं सोत्तं णारीण सेवए जेण।
मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो ॥ ५६ ॥
अथवा प्रसिद्ध वचनं स्रोतो नारीणां सेव्यते येन।
मूत्रप्रवाहद्वारं श्रोत्रियः तेन स उक्तः ॥ ५६ ॥

अर्थ—आज कल श्रोत्रियों के लिये प्रसिद्ध बात यह देखी जा रही है कि जो पुरुष स्त्रियों के स्रोतका सेवन करता है वही श्रोत्रिय माना जाता है।

भावार्थ—वास्तविक श्रोत्रिय का लक्षण तो ऊपर लिखा है। श्रोत्रिय सर्वथा ब्रह्मचारी होता है। मद्य मांस आदि निद्य पदार्थों का सेवन कभी नहीं करता और न कभी किसी जीव की हिंसा करता है। परन्तु जो लोभी है, लालची है, ठग है, मद्य मांस भक्षण का अभिलाषी है और उसी सेवन में आसक्त है वही पुरुष बनावटी श्रोत्रिय है तथा मांस भक्षण के लिये पशुयज्ञ का विधान करता है अथवा श्राद्ध आदि में पशु हत्या का विधान करता है। इस प्रकार वह स्वयं भी नरक जाता है और अन्य यजमानों को भी ले जाता है।

आगे ऐसे विपरीत मिथ्यात्व का फल दिखलाते हैं।

इय विवरीयं उत्तं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं ।
तेण पउत्तो जीवो णरय गई जाइ णियमेण ॥ ५७ ॥
इति विपरीतं उक्तं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमम् ।
तेन प्रयुक्तो जीवो नरकगतिं याति नियमेन ॥ ५७ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो मिथ्यात्व महा पापका कारण है और अत्यन्त विषम है ऐसे विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप कहा। जो पुरुष इस विपरीत मिथ्यात्वमें प्रवृत्त होता है वह नियमसे मरकर नरक में जाता है।

अवि सहइ तत्थ दुक्खं सक्करपमुहणरयविवरेसु ।
कह सो सग्गं पावइ णिहय पसू खद्धपलगासो ॥ ५८ ॥
अपि सहते तत्र दुःखं शर्कराप्रमुखनरकविवरेषु ।
कथं स स्वर्गं प्राप्नोति निहत्य पशून् खादितपलग्रासः ॥

अर्थ—नरक में जाकर वह प्राणी रत्नप्रभा, शर्करा प्रभा आदि 'सातों नरकों की भूमियों में वा किसी एक भूमि में अत्यन्त महा दुःख सहन करता है सो ठीक ही है। क्योंकि जो पशुओं को मारता है और उनका मांस भक्षण करता है उसको स्वर्गकी प्राप्ति भला कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। उसको तो नियमसे नरक की प्राप्ति होगी।

जइ कहव तत्थ णिग्गइ उप्पज्जइ पुणु वि तिरियजोणीसु ।
मारियइ सोत्तिएहिं णित्ताणो पुण वि जएणम्मि ॥५९॥
यदि कथमपि ततो निर्गच्छति उत्पद्यते पुनरपि तिर्यग्योनिषु ।
मार्यते श्रोत्रियैः निस्त्राणः पुनरपि यज्ञे ॥ ५९ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार वहां से निकलता भी है तो फिर उसी तिर्यञ्च योनि में उत्पन्न होता है और अन्य श्रोत्रियों के द्वारा यज्ञ में मारा जाता है वहां पर उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता।

णियभासाए जंपइ मे मंतो कहइ आसि मे रइयं ।
एवं वेयविहाणे संपत्ता दुग्गई तेण ॥ ६० ॥
निज भाषायां जल्पति मे मे कथयति आसीत् मया रचितम् ।
एवं वेदविधानेन सम्प्राप्ता दुर्गतिः तेन ॥ ६० ॥

अर्थ—जब वह श्रोत्रियों के द्वारा मारा जाता है तब वह अपनी भाषा में मे मे शब्द कहता है अर्थात् वह कहता है कि यह सब मेरा ही बनाया हुआ है मैंने ही पहले किसी यज्ञ में

पशुओं को मारा था इसलिये ऐसे हो यज्ञ में अब मैं मारा जाता हूँ। इस प्रकार वेद के कहे अनुसार वह जीव अनेक प्रकार की दुर्गतियों में प्राप्त होता है और फिर फिर मर कर नरक जाता है।

इस प्रकार वह इस संसार में महा दुःख भोगता रहता है।

इय विलवंतो हएणइ गलयं मुहनासरंध रुंधित्ता।
भक्खियइ सोत्तिएहिं विहिणा वहुवेय वंतेहिं ॥ ६१ ॥
इति विलपन् हन्यते गलितं मुखनासिकारन्ध्रं रुद्ध्वा।
भक्ष्यते श्रोत्रियैः विधिना बहुवेदविद्भिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक वेदों को जानने वाले श्रोत्रिय लोग उस पशु के नाक और मुख के छिद्रों को बंद कर देते हैं और फिर जो पशु विलाप करता है और उसके मुख नाक के छिद्रों से रुधिर निकलता है ऐसे उस पशु को वे लोग कथित की विधि के अनुसार मार कर खा जाते हैं।

अस विवरीयं कहियं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं।
जो परिहरइ मणुस्सो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६२ ॥
इति विपरीतं कथितं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमम्।
यः परिहरति मनुष्यः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार जो यह विपरीत मिथ्यात्व महा पाप का कारण है और अत्यंत विषम है उसका स्वरूप कहा। जो मनुष्य

इस विपरीत मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देता है वही जीव स्वर्गादिक के उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप कहा।

एयंतमिच्छदिट्ठी वुद्धो एयंत णय समालंवो।
एयंते खणियत्तं मएणइ जं लोय मज्झम्मि ॥ ६३ ॥
एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बुद्धः एकान्तनयसमालंवी।
एकान्तेन क्षणिकत्वं मन्यते यल्लोकमध्ये ॥ ६३ ॥

अर्थ—एकांत वादी वुद्ध है वह केवल एकांत नयको मानता है तथा संसार में जितने पदार्थ हैं उन सबको एकांत नयसे क्षणिक मानता है। भावार्थः-समस्त पदार्थ क्षणिक हैं जो उत्पन्न होकर एक क्षण ठहरते हैं दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार बौद्ध मानते हैं।

आगे ऐसा मानने में अनेक दोष दिखलाते हैं।

जइ खणियत्तो जीवो तरिहि भवे कस्य कम्मसंवंधो।
संवंध विणा ण घडई देहग्गहणं पुणो तस्स ॥ ६४ ॥
यदि क्षणिको जीवस्तर्हि भवेत्कस्य कर्मसम्बन्धः।
सम्बन्धं विना न घटते देहग्रहणं पुनः तस्य ॥ ६४ ॥

अर्थ—यदि यह जीव क्षणिक है' एक ही क्षण रहकर नष्ट

सुव्वयतित्थे उज्झो खीर कदंवुत्ति सुद्ध सम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तोविय पव्वओ वक्को।
विवरीयमयं किच्चा विणासियं सव्व संजयं लोए।

हो जाता है तो फिर कर्म का संबंध किसको होगा और कौन उसका फल भोगेगा। तथा विना कर्मों के संबंध के यह जीव आगे के शरीर को किस प्रकार धारण कर सकेगा।

भावार्थ—यह जीव जैसा कर्म बंध करता है वैसा ही फल भोगता है, कर्म बंध के अनुसार ही नया शरीर धारण करता है। कर्म बंध के अनुसार ही नरक स्वर्ग में जाता है तथा कर्म बंध के अनुसार ही अनेक प्रकार के सुख दुख भोगता है। यदि जीव को क्षणिक माना जायगा तो फिर वह किस प्रकार कर्मबंध कर सकेगा और किस प्रकार उसका फल भोग सकेगा। विना कर्मबंध और उसका फल भोगे नया शरीर भी वह धारण नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में वह कोई पदार्थ ही नहीं ठहर सकता है।

आगे जीव को क्षणिक मानने में और भी दोष बतलाते हैं।

तत्तो पत्ता सव्वे सत्तम णरयं महाघोरं ॥ (दर्शनसार)

भगवान् मुनिसुव्रत नाथ के समय में एक क्षीर कदंब नाम के उपाध्याय शुद्ध सम्यक्त्वी थे। उसका पुत्र पर्वत और उनका शिष्य वसु दोनों ही कुटिल परिणामी थे। इन दोनों ने ही विपरीत मिथ्यात्व की कल्पना की थी तथा लोगों के समस्त संयम का नाश किया था। इसीलिये वे दोनों मरकर महाघोर सातवें नरक में उत्पन्न हुए थे।

तवयरणं वयधरणं चीवरगहणं च सीसमुंडणयं ।
सत्तहडियासु भिक्खा खणियत्ते णेव संभवई ॥ ६५ ॥
तपश्चरणं व्रतधारणं चीवरग्रहणं च शिरोमुण्डनम् ।
सप्तहटिकासु भिक्षा क्षणिकत्वे नैव सम्भवति ॥ ६५ ॥

अर्थ—यदि जीव को क्षणिक माना जायगा तो फिर तपश्चरण करना भी संभव नहीं हो सकता न व्रत धारण करना संभव हो सकता है, न वस्त्र धारण करना संभव हो सकता है, न मस्तक मुंडाना संभव हो सकता है और न सात घरों में भिक्षा मांगना संभव हो सकता है है।

भावार्थ—जीव को क्षणिक मानने से संसार के कोई भी काम सभव नहीं हो सकते। जब यह जीव दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो वह कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

आगे ज्ञानको क्षणिक मानने में दोष दिखलाते हैं।

णाणं जइ खणभंगी कह सो बालत्तवविलसियं मुणइ ।
तह बहिरगओ संतो कह आवइ पुणवि णियगेहं ॥६६॥
ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि कथं तत् बालत्वविलसितं जानाति ।
तथा बहिर्गतः सन् कथमागच्छति पुनरपि निजगृहम् ॥६६॥

अर्थ—यदि ज्ञान को क्षणिक माना जाय, ज्ञान भी दूसरे क्षण में नष्ट हो जाता है ऐसा माना जाय तो वह अपने बालकपने में किये हुए कामों को कैसे जान सकेगा, और यदि उसका

ज्ञान दूसरे ही क्षण में नष्ट हो जाता है तो फिर घर मे निकल कर बाहर गया हुआ जीव फिर लौटकर अपने घर कैसे आ सकेगा ? भावार्थः-स्मरण ज्ञान बना रहने से ही बालकपने की बातें स्मरण रहती हैं और स्मरण ज्ञानसे ही बाहर गया हुआ जीव घर लौट आता हैं।

आगे चेतना शक्ति को क्षणिक मानने से उत्पन्न हुए दोष दिखलाते हैं।

जइ चेयणा अणिच्चा तो किं चिरजाय वाहि समराई।
वहराइ वि मित्ताइ वि कह जाणइ दिट्ठमित्ताइं ॥६७॥
यदि चेतना अनित्या तर्हि कथं चिरजातव्याधिं स्मरति।
वैरिण अपि मित्राण्यपि कथं जानाति दृष्टिमात्रेण ।६७।

अर्थ—यदि आत्मा की चैतन्य शक्ति भी अनित्य वा क्षणिक है तो यह जीव अपने शरीर में उत्पन्न हुई चिरकाल की व्याधि का स्मरण कैसे करलेता है तथा देखने मात्रसे ही अपये शत्रु वा मित्रों को कैसे पहिचान लेता है।

भावार्थ—जीवादिक समस्त पदार्थ कभी किसी कालमे भी क्षणिक सिद्ध नहीं हो सकते। यह जीव चिरकालकी व्याधिको भी स्मरण करलेता है और देखते ही शत्रु वा मित्रको पहचान लेता है। उस जीवको चेतना में बिना नित्यता माने ये दोनों ही काम कभी नहीं हो सकते।

आगे सर्वथा क्षणिक मानने वाले में और भी दोष दिखलाते हैं।

पत्त पडियं ण दूसइ खाइ पलं पियइ मज्जु णिल्लज्जो ।
इच्छइ सग्गगमणं मोक्खग्गमणं च पावेण ॥ ६८ ॥
पात्रे पतितं न दूषयति खादति पलं पिबति मद्यं निर्लज्जः ।
इच्छति स्वर्गगमनं मोक्षगमनं च पापेन ॥ ६८ ॥

अर्थ—क्षणिकवादी लोग अपने पात्र में (वर्तन में) आये हुए भक्ष्य अभक्ष्य आदि पदार्थों मे कोई दोष नहीं मानते। वे लोग निर्लज्ज होकर मांस भी खाते हैं और मद्य भी पीते हैं। तथा इस प्रकार महा पाप करते हुए भी उस पापके फलसे स्वर्ग प्राप्त होजाने की वा मोक्ष प्राप्त हो जाने की इच्छा करते हैं। परन्तु ऐसे पापों से स्वर्ग वा मोक्षकी प्राप्ति होना सर्वथा असंभव है।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं।

असिऊण मंसगासं मज्जं पविऊणगम्मए सग्गं।
जइ एवं तो मुंडय पारद्धिय चेव गच्छन्ति ॥ ६९ ॥
अशित्वा मांसग्रासं मद्यं पीत्वा गम्यते स्वर्गम्।
यद्येवं तर्हि शौण्डाः पारर्द्धिकाश्चैव गच्छन्ति ॥ ६९ ॥

अर्थ—यदि मांस भक्षण करने से वा मद्य पीनेसे ही वे जीव स्वर्ग चले जाते हों तो संसार मे मद्य पीने वाले और मांस भक्षण करने वाले हत्यारे पारधी आदि सबको स्वर्ग की प्राप्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होना सर्वथा असंभव है। मांस और मद्य दोनों ही अत्यन्त निन्द्य और घृणित पदार्थ हैं तथा इनका सेवन

करने वाले निन्द्य कहे जाते हैं। फिर भला उनको स्वर्ग की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती।

इय एयंतविणडिओ बुद्धो ण मुणेइ वत्थुसब्भावं।
अण्णाणी कयपावो सो दुग्गइ जाय णियमेण ॥७०॥
इति एकान्तविनटितो बुद्धो न मनुते वस्तुस्वभावम्।
अज्ञानी कृतपापः स दुर्गतिं याति नियमेन ॥ ७० ॥

अर्थ—इस प्रकार एकान्त मिथ्यात्व को मानता हुआ जीव वस्तुका स्वभाव नहीं समझता। वह अत्यन्त अज्ञानी है और इसी लिये अपने किये हुए पापों के कारण नियमसे दुर्गति को प्राप्त होता है।

आगे पदार्थों का यथार्थ स्वभाव दिखलाते हैं।

णिच्चाणिच्चं दव्वं सव्वं इह अत्थि लोयमज्झम्मि।
पज्जाएण अणिच्चं णिच्चं फुडु होइ दव्वेण ॥ ७१ ॥
नित्यमनित्यं द्रव्यं सर्वमिहास्ति लोकमध्ये।
पर्यायेणानित्यं नित्यं स्फुटं भवति द्रव्येण ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोकाकाश में जितने द्रव्य भरे हुए हैं वे सब नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। पर्यायार्थिक नयसे वे सब द्रव्य अनित्य हैं अर्थात् उनकी पर्याये सदा बदलती रहती हैं इसलिये अनित्य हैं और द्रव्यार्थिक नयसे वे सब द्रव्य नित्य हैं।

भावार्थ—एक बालक वा एक पौधा प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। यह उसका बढना ही पर्यायका बदलना है। इस प्रकार उस बालक

कों वा पौधा को अनित्य भी कह सकते हैं परन्तु उस बालक के माता पिता वा उस पोधा को लगाने वाला कोई पुरुष बड़ा होने पर भी उसको "यह वही बालक है जो पन्द्रह वर्ष पहले उत्पन्न हुआ था" ऐसा समझता है तथा पौधा लगाने वाला भी "यह वही वृक्ष है जो मैंने दश वर्ष पहले लगाया था" ऐसा समझता है और ऐसा ही कहता है। इसलिये वह बालक वा पौधा नित्य भी माना जाता है। इस प्रकार वस्तुका स्वभाव नित्य अनित्य उभय स्वरूप है। वह सर्वथा क्षणिक वा सर्वथा नित्य कभी नहीं हो सकता।

आगे इसका उपसंहार कहते हैं।

इय एयंतं कहियं मिच्छत्तं गुरुयपापसंजणयं।
एत्तो उड्ढं वोच्छं वेणइय णाम मिच्छत्तं ॥ ७२ ॥
इति एकान्तं कथितं मिथ्यात्वं गुरुकपापसञ्जनकम्।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये वैनयिकं नाम मिथ्यात्वम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—इस प्रकार महापाप उत्पन्न करने वाले एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप कहा *। अब आगे वैनयिक नामके मिथात्व का स्वरूप कहते है।

इस प्रकार दूसरे एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप जानना।

---

* सिरि पासणाहतित्थे सरयू तीरे पलासणयरत्थे।
पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्ति मुणी ॥
तिमिफरणासणेण हि अगहिय पव्वज्जओ परिब्भट्ठो।
रत्तंवर धरित्ता पवड्ढियं तेण एयंतं ॥

आगे वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं।

वेणइयमिच्छादिट्ठी हवइ फुडं तापसो हु अण्णाणी।
णिग्गुणजणम्मि विणओ पउंजमाणो हु गयविवेओ ॥७३॥
वैनयिकमिथ्यादृष्टिः भवति स्फुटं तापसो ह्यज्ञानी।
निर्गुणजने विनय प्रयुज्यमानो हि गतविवेकः ॥७३॥

अर्थ—वैनयिक मिथ्यादृष्टी तापसी होते हैं वे अज्ञानी होते हैं और विवेक रहित होते हैं तथा निर्गुण लोगों को भी विनय किया करते हैं।

मंसस्स णत्थि जीवो जह फले दुद्ध दहिय सक्करए।
तम्हा तं वंछित्तो तं भक्खंतो ण पाविट्ठी ॥
मज्जं ण वज्जिणिज्जं दव दव्वं जह जलं तदा एदं।
इय लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्व सावज्जं ॥
अण्णो करेइ कम्मं अण्णो तं भुजईह सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चाणिरय मुववण्णो ॥
(दर्शनसार)

अर्थ—श्री पार्श्वनाथके तीर्थ के समय सरयू नदीके किनारे एक पलाश नामका नगर था। उसमें पिहिताश्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति नामका मुनि अनेक शास्त्रों का जानकार था। वह विना दीक्षा लिए ही मुनि होगया था और मत्स्यका मांस खा खा कर भ्रष्ट होगया था। भ्रष्ट होकर उसने लाल वस्त्र पहन लिए थे तथा रक्ताम्बर नामसे उसने इस एकान्त मत को वृद्धि की थी। उसने इस संसार में घोषणा की थी कि जिस प्रकार फल दूध दही

विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं ।
अमुणिय गुणागुणेण य विणयं मिच्छत्त णडियेण ।७४।
विनयतः इह मोक्षः क्रियते पुनस्तेन गर्दभादीनाम् ।
अज्ञानतगुणागुणेन च विनयः मिथ्यात्वनटेन ॥७४॥

अर्थ—जो लोग गुण अवगुण को नहीं जानते ऐसे मिथ्या-दृष्टी नटों को समझना चाहिये कि यदि विनय करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है तो उनको गधा चांडाल आदि सबका विनय करनी चाहिये । परन्तु वे लोग उनका विनय नहीं करते ।

शाकर आदि में जीव नहीं है उसी प्रकार मांसमें भी जीव नहीं हैं । इसलिए जो लोग मांस खाने की इच्छा करते हैं वा मांस भक्षण करते हैं वे पापी नहीं कहला सकते । इसी प्रकार मद्यका भी त्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य है, पतला पदार्थ है उसी प्रकार मद्य भी द्रव द्रव्य है, एक पतला पदार्थ है । इस प्रकार घोषणा कर उसने समस्त पाप कर्मों की प्रवृत्ति की थी । इसके सिवाय उसने यह भी घोषणा की थी कि यह जीव क्षणिक है उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है इसलिये जो जीव पाप करता है वा पुण्य करता है उसका फल वह नहीं भोगता वह तो दूसरे ही क्षणमें नष्ट हो जाता है इसलिये उस पाप वा पुण्य का फल कोई दूसरा ही जीव भोगता है । यही रक्तांबर वा एकान्त मत का सिद्धान्त है । इस प्रकार कल्पना कर उसने बहुतसे लोगों को वश कर लिया था और फिर अन्तमें मर कर वह नरक में उत्पन्न हुआ था ।

जक्खय णायाईणं दुग्गाखंवाइ अण्णदेवाणं ।
जो णवइ धम्महेउं जो विय हेऊ च सो मिच्छो ॥७५॥
यक्षनागादीन् दुर्गास्कन्धाद्यन्यदेवान् ।
यो नमति धर्महेतोः योपि च हेतुश्च स मिथ्यात्वम् ।७५।

अर्थ—जो लोग धर्म समझकर यक्ष नाग आदि अन्य देवों को नमस्कार करते हैं उनका कारण भी मिथ्यात्व ही समझना चाहिये।

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्म के उदयसे ही इनको देव समझकर पूजा करते हैं।

पुत्तत्थ माउसत्थं कुणइ जणो देवि चण्डियाविणयं ।
मारइ छेलयसत्थं पुज्जइ कुलाइं मज्जेण ॥ ७६ ॥
पुत्रार्थमायुष्यार्थं करोति जनो देवीचण्डिकाविनयम् ।
मारयति छागसार्थं पूजयति कुलानि मद्येन ॥ ७६ ॥

अर्थ—बहुतसे लोग पुत्र उत्पन्न होनेके लिये वा अपना आयु बढाने के लिए चण्डी मुण्डी आदि देवी देवताओं की विनय करते हैं, उनके सामने बकरे आदि का बध करते हैं तथा मद्य से अपने कुलकी पूजा करते हैं।

णवि होइ तत्थ पुण्णं किज्जंति णिक्किट्ठरुद्द सब्भावा ।
णय पुत्ताइं दाउं सक्का ते सत्तिहीणा जे ॥ ७७ ॥
नापि भवति तत्र पुण्यं कुर्वन्ति निकृष्टरुद्रस्वभावान् ।
न च पुत्रादिं दातुं शक्तास्ते शक्तिहीना ये ॥ ७७ ॥

अर्थ –चण्डी मुण्डी आदि देवता आदर्श देवता नहीं है और उनके स्वभाव क्रूर हैं इसलिये उनकी विनय करने से वा उनकी पूजा करने से पुण्य की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसके सिवाय वे सब चण्डी मुण्डी आदि देवता पुत्र देने के लिए वा आयु बढाने के लिये कभी समर्थ नहीं हो सकते। क्योंकि वे सब ऐसी शक्ति से हीन हैं।

जइ ते होंति समत्था कत्थ गया पंडवाइया पुरिसा।
कत्थगया चक्केसा हलहरणारायणा कत्थ ॥ ७८ ॥
यदि ते भवन्ति समर्थाः कुत्र गताः पाण्डवाद्याः पुरुषाः।
कुत्र गताश्चक्रेशा हलधरनारायणाः कुत्र ॥ ७८ ॥

अर्थ—यदि वे चण्डी मुण्डी आदि देवता पुत्र देने वा आयु बढाने के लिये समर्थ होते तो फिर पाण्डव आदि महा पुरुष कहां चले गये, चक्रवर्ती कहां चले गये तथा नारायण प्रति नारायण हलधर आदि सब कहां चले गये।

भावार्थ—चक्रवर्ती नारायण, हलधर आदि महा पुरुष होते हैं, अनेक देव इनके आधीन और सेवक होते हैं। फिर भी वे देवता अपने स्वामी की आयु न बढ़ा सके और आयु समाप्त होने पर वे लोग स्वर्ग मोक्ष वा नरक में चले ही गये। इससे सिद्ध होता है कि उन देवों में कोई इस प्रकार की शक्ति नहीं है। वे इन बातों के लिये सर्वथा असमर्थ हैं। इसलिये इस निमित्त उनकी पूजा वा विनय करना सर्वथा व्यर्थ है।

जइ देवय देइ सुयं तो किं रुद्देण सेविया गउरी ।
दिव्वं वरिस सहस्सं पुत्तत्थं तारयभएण ॥ ७६ ॥
यदि देवो ददाति सुतं तर्हि किं रुद्रेण सेविता गौरी ।
दिव्यं वर्षसहस्रं पुत्रार्थं तारकभयेन ॥ ७६ ॥

अर्थ—यदि देव लोग किसी को पुत्र दे सकते होते तो फिर महादेवजी तारक के भयसे पुत्र उत्पन्न करने के लिये दिव्य सहस्र वर्ष तक पार्वती सम्पर्क क्यों करते रहते ।

भावार्थ—पुत्र उत्पन्न करने के लिये ही महादेव ने पार्वती के साथ समागम किया था और देवताओं के हजार वर्ष तक किसी एकान्त वनमें जाकर समागम करते रहे थे ।

तम्हा सयमेव सुओ हवेइ मिठणाण रइपउत्ताणं ।
अण्णाण मूढलोओ वाहिज्जइ धुत्तमणुएहिं ॥ ८० ॥
तस्मात्स्वयमेव सुतो भवेत् मिथुनानां रतिप्रवृत्तानाम् ।
अज्ञानो मूढलोको वाध्यते धूर्तमनुष्यैः ॥ ८० ॥

अर्थ—इससे सिद्ध होता है रति कर्म में प्रवृत्त होने वाले स्त्री पुरुषों के अपने आप पुत्र उत्पन्न हो जाता है । तथापि धूर्त लोग अज्ञानी मूर्ख लोकों को चंडी मुंडी आदि देवताओं का विनय करने के लिये बाधित करते रहते हैं ।

संते आउसि जीवइ मरणं गलयम्मि णत्थि संदेहो ।
णव रक्खइ कोवि तहिं संतं सोसेइ ण हु कोई ॥ ८१ ॥

सति आयुषि जीवति मरणं गलिते नास्ति सन्देहः ।
न च रक्षति कोपि तस्मात् सत् शोषयति नहि कश्चित् ॥

अर्थ—जब तक आयु कर्म बना रहता है तबतक यह जीव जीवित रहता है तथा जब आयु कर्म पूर्ण हो जाता है, खिर जाता वा नष्ट हो जाता है तब यह जीव मर जाता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। जिस समय आयु कर्म पूर्ण हो जाता है उस समय कोई भी देव उस जीव की रक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब तक आयु कर्म रहता है तबतक उस आयु कर्म को कोई भी देव नष्ट नहीं कर सकता।

भावार्थ—कोई भी देव आयु पूर्ण होने पर किसी को भी रक्षा नहीं कर सकता तथा आयु रहते हुए किसी को मार नहीं सकता। यह निश्चित सिद्धांत है।

इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते है।

जइ सव्व देवयाओ मणुयं रक्खंति पुज्जियाओ य।
तो किं सो दहवयणो ण रक्खिओ विज्जसहस्सेण ।८२।
यदि सर्वदेवता मनुजं रक्षयन्ति पूजिताश्च ।
तर्हि किं स दशवदनो न रक्षितो विद्यासहस्रेण ॥८२॥

अर्थ—यदि पूजा वा वंदना किये हुए समस्त देवता मनुष्यों की रक्षा कर सकते हैं तो फिर रावण के पास हजारों विद्याएं थीं, फिर उन विद्याके अधिपति देवताओं ने उस रावण की रक्षा क्यों नहीं की ? रावण के पास जो चक्र था उसकी भी एक हजार

देवता रक्षा करते थे, परंतु आयु पूर्ण होने पर उसी चक्र से वह रावण मारा गया। इससे सिद्ध होता है कि कोई देव न किसी की रक्षा कर सकता है और न किसी को मार सकता है।

आगे किनकी पूजा विनय करनी चाहिये, सो कहते हैं।

इय णाउं परमप्पा अट्ठारसदोसवज्जिओ देवो।
पणविज्जइ भत्तीए जइ लब्भइ च इच्छियं वत्थुं ॥ ८३ ॥
इति ज्ञात्वा परमात्मानं अष्टादशदोषवर्जितो देवः।
प्रणम्यते भक्त्या येन लभ्यते इच्छितं वस्तु ॥ ८३ ॥

अर्थ—यही समझ कर अठारह दोषों से रहित जो अरहंत परमात्मा हैं उन्हीं को भक्ति पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। भगवान अरहंत देवको नमस्कार करने से समस्त इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—भगवान अरहत देव वीतराग हैं। अठारह दोषों से रहित हैं और सर्वज्ञ हैं। इसलिये वे ही नमस्कार करने योग्य और पूजा करने योग्य हैं। यद्यपि वे भगवान पूजा वा नमस्कार करने से कुछ देते नहीं हैं क्योंकि वे तो वीतराग हैं फिर भी उनका आत्मा समस्त दोषों से रहित होने के कारण अत्यंत शुद्ध और निर्मल है। इसलिये उनको भक्ति करने से, पूजा नमस्कार करने से विशेष पुण्य की प्राप्ति होती है तथा उस विशेष पुण्य से इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। इसके सिवाय शुद्ध निर्मल आत्मा की भक्ति पूजा करने से अपने आत्माको शुद्ध और

निर्मल करने की भावना उत्पन्न होती है तथा उस भावना के अनुसार वह जीव अपने आत्माका वैसा ही बनाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार अपने आत्मा का कल्याण करता हुआ स्वयं अरहंत अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

वेणइयं मिच्छत्तं कहिये भव्वाण वज्जणट्ठ तु।
एत्तो उड्ढं वोच्छं मिच्छत्तं संसयं णाम ॥ ८४ ॥
वैनयिकं मिथ्यात्वं कथितं भव्यानां वर्जनार्थं तु।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये मिथ्यात्वं संशयं नाम ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से वैनयिक मिथ्यात्व का

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाणं समुब्भवो अत्थि।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णग्गा'य केई य ॥
दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्तीय सव्वदेवाणं।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहिं मूढेहिं ॥

अर्थ—वैनयिक मिथ्यात्व की उत्पत्ति समस्त तीर्थंकरों के समय में होती है। इन वैनयिक मिथ्यादृष्टी लोगों में कोई जटा धारी होते हैं कोई अपने मस्तक को मुंडा लेते हैं, कोई चोटी रखलेते हैं और कोई नग्न होते हैं। उन लोगों ने यह कल्पना कर रक्खी है कि चाहे दुष्ट हो चाहे गुणी हो सबकी पूजा भक्ति करनी चाहिये। सब देवों को नमस्कार या दंडवत करना चाहिये, सब की पूजा भक्ति करनी चाहिये। ऐसी कल्पना इन अज्ञानियों ने कर रक्खी है।

स्वरूप कहा। इन सब मिथ्यात्वों का स्वरूप भव्य जीवों का त्याग करने के लिये कहा है। भव्य जीवों को इन समस्त मिथ्यात्वों का त्याग कर देना चाहिये। अब आगे संशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं।

इस प्रकार तीसरे वैनयिक मिथ्यात्व का स्वरूप कहा। अब संशय मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं।

संसय मिच्छादिट्ठी णियमा सो होइ जत्थ सग्गंथो।
णिग्गंथो वा सिज्झइ कंबलगहणेण सेवडओ॥ ८५॥
संशयमिथ्यादृष्टिर्नियमात्स भवति यत्र सग्रन्थः।
निर्ग्रन्थो या सिद्ध्यति कंबलग्रहणेन श्वेतपटः॥८५॥

अर्थ—संशय मिथ्यादृष्टी श्वेतपट होते हैं जिन के मन में यह संशय नियम से बना ही रहता है कि मोक्षकी प्राप्ति निर्ग्रंथ लिंग से दिगम्बर अवस्था से) होती है अथवा सग्रंथलिंग से (परिग्रह सहित अवस्था से)इसीलिये ये लोग वस्त्र कंबल आदि बहुत सा परिग्रह रखते हैं।

आगे यही बात दिखलाते हैं।

दंडं दुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं पि धम्म उवयरणं।
मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुद्धो समायरइ॥ ८६॥
दण्डं दुग्धिकं चेलं अन्यत्सर्वं हि धर्मोपकरणम्।
मन्यते मोक्षनिमित्तं ग्रन्थे लुब्धः समाचरति॥८६॥

इत्थी गिहत्थवग्गे तम्हि भवे चेव अत्थि णिव्वाणं ।
कवलाहारं च जिणे णिद्दा तण्हा य ससङ्ओ ॥ ८७ ॥
स्त्रीगृहस्थवर्गे तस्मिन् भवे चैव अस्ति निर्वाणम् ।
कवलाहार च जिने निद्रा तृष्णा च संशयितम् ॥८७॥

अर्थ—वे जो लोग परिग्रह में बहुत ममत्व रखते हैं, दंड कुंडी वस्त्र आदि अपने काम आने वाले समस्त पदार्थों को मोक्ष के कारण भूत धर्मोपकरण मानते हैं, इसके सिवाय अपने गृहस्थ धर्म में रहती हुई स्त्री मोक्ष प्राप्त कर लेती है अरहंत भगवान् कवलाहार करते हैं तथा उन अरहंत भगवान् के निद्रा तंद्रा भी होती है। इस प्रकार की मान्यता वास्तविक धर्म के विरुद्ध है।

आगे अनुक्रमसे इन सबमें दोष दिखलाते हैं।

जइ सग्गन्थो मुक्खं तित्थयरो किं मुंचहि णियरज्जे ।
रयण णिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जरे रण्णे॥८८॥
यदि सग्रन्थो मोक्षः तीर्थकरः किं मुञ्चति निजराज्यम् ।
रत्ननिधानैः समं किं निवसति निर्जनेऽरण्ये ॥ ८८ ॥

अर्थ—यदि परिग्रहों के रखते हुए भी मोक्ष को प्राप्ति हो जाती है तो फिर तीर्थङ्करों को अपना राज्य छोडने की क्या आवश्यकता थी, अनेक प्रकार रत्न तथा निधियों के छोड़ने की भी क्या आवश्यकता थी और फिर सबको छोड़कर निर्जन वनमें जाने की क्या आवश्यकता थी।

और भी देखो —

रयण णिहाणं छंडइ सो किं गिण्हेहि कंबली खण्ड ।
दुद्धिय दंडं च पडं गिहत्थजोग्गं पि जं किं पि ॥ ८९ ॥
रत्ननिधानं त्यजति स किं गृह्णाति कम्बलखण्डम् ।
दुग्धिकं दण्डं च पटं गृहस्थयोग्यमपि यत् किमपि ॥८९

अर्थ—यदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती तो तीर्थङ्कर रत्न और निधियों को छोड़कर अन्य परिग्रह क्यों ग्रहण करते है ?

वस्तु स्थिति यह है कि समस्त पदार्थों का त्याग कर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। सग्रन्थ अवस्थासे मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

और भी—

गेहे गेहे भिक्खं पत्तं गहिऊण जाइए किं सो ।
किं तस्स रयणविट्ठी घरे घरे णिवडिया तत्थ ॥९०॥
गृहे गृहे भिक्षां पात्रं गृहीत्वा याचते किं सः ।
कि तस्य रत्नवृष्टिः गृहे गृहे निपतिता तत्र ॥ ९० ॥

अर्थ—जिन तीर्थङ्करों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए समस्त राज्यका त्याग पर मुनि अवस्था धारण की वे ही तीर्थङ्कर मुनि होकर भी फिर हाथ में पात्र लेकर घर घर भोजन मांगने के लिए क्यों जाते हैं ? क्या रत्नवृष्टि भी घर घर बरसी थी।

भावार्थ—जब गृहस्थ अवस्थासे ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है तो फिर राज्य और समस्त परिग्रह के त्याग करने की क्या आवश्यकता थी। और यदि त्याग ही किया तो फिर वस्त्र दण्ड आदि क्यों धारण किये और हाथमें पात्र लेकर घर घर भिक्षा क्यों मांगी। इसलिये त्याग कर फिर ग्रहण करना सर्वथा मिथ्यावाद है।

आगे इस सबका सारांश दिखलाते हैं।

ण हु एवं जं उत्तं संसयमिच्छत्तरसियचित्तेण।
णिग्गंथ मोक्खमग्गो किंचण वहिरंतण चएण ॥९१॥
न हि एवं यदुक्तं संशयमिथ्यात्वरसिकचित्तेन।
निर्ग्रंथमोक्षमार्गः किंचन बाह्यान्तरत्यागेन ॥ ९१ ॥

अर्थ—जिसका हृदय संशय मिथ्यात्व के रससे रसिक हो रहा है उसका यह सब ऊपर कहा हुआ मत ठीक नहीं है। क्योंकि मोक्षका मार्ग निर्ग्रन्थ अवस्था ही है। जिसमे वस्त्र दंड आदि समस्त बाह्य परिग्रहों का भी त्याग हो जाता है। ऐसी वीतराग निर्ग्रन्थ अवस्था ही मोक्षका मार्ग है। सग्रन्थ अवस्था मोक्ष का मार्ग कभी नहीं है।

आगे स्त्री मुक्तिका निषेध करते हैं।

जइ तप्पइ उग्गतवं मासे मासे य पारणं कुणइ।
तइ वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥९२॥

यदि तप्यते उग्रतपः मासे मासे च पारणं करोति ।
तथापि न सिध्यति स्त्री कुत्सितलिंगस्य दोषेण ॥९२॥

अर्थ—स्त्री लिङ्ग कुत्सित लिंग है अर्थात् स्त्री का शरीर वा स्त्री की पर्याय निन्द्य है। इसलिये चाहे कोई स्त्री उग्रसे उग्र तपश्चरण करती रहे और चाहे प्रत्येक महीनेका उपवास कर प्रत्येक महीने के अन्त में पारणा करती रहे तथापि स्त्री को मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ।

आगे इसका कारण बतलाते हैं ।

मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं ।
णिच्चं जोणिस्सास्रो पुण दाड्ढं णत्थि चित्तस्स ॥ ९३ ॥
मायाप्रमादप्रचुराः प्रतिमासं तासु भवति प्रस्खलनम् ।
नित्यं योनिस्रावः पुनःदार्ढ्यं नास्ति चित्तस्य ॥ ९३ ॥

अर्थ—स्त्री को मोक्षका प्राप्ति क्यों नहीं होती इसका कारण यह है कि स्त्रियों में मायाचार की मात्रा अधिक होती है तथा प्रमाद भी अधिक होता है। इसके सिवाय प्रत्येक महीनेमें उनके रजका स्खलन होता रहता है, योनिसे रजःस्राव होता रहता है और इसलिये उनका चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता ।

भावार्थ—चित्तके स्थिर न रहने से उनसे कभी ध्यान नहीं हो सकता। विना ध्यानके कर्मों का नाश नहीं हो सकता और विना कर्मोंके नाश किये मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इस प्रकार स्त्रियों को मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ।

आगे स्त्रियों के शरीर के और दोष बतलाते हैं ।

सुहमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणा हि कक्खेसु ।
उपत्ती होइ सआ अण्णे सु य तणुपएसेसु ॥ ६४ ॥
सूक्ष्मापर्याप्तानां मनुष्याणां योनिनाभिकक्षेषु ।
उत्पत्तिर्भवति सदा अन्येषु च तनुप्रदेशेषु ॥ ६४॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि में, नाभि में, कांख में तथा और भी कितने ही शरीर के प्रदेशों में सदा काल सूक्ष्म अपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति होती रहती है ।

भावार्थ—स्त्रियों को योनि, नाभि, कांख में सम्मूर्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं । वे जीव मनुष्य के आकारके पंचेन्द्रिय होते हैं अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और अपर्याप्तक होते हैं । यही कारण है कि स्त्रियों से जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग कभी नहीं हो सकता । क्योंकि वे जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं । इसलिये स्त्रियां केवल संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी आदि हिंसा का त्याग कर सकती हैं मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे समस्त जीवों की सर्वथा हिंसा का त्याग उनसे नहीं हो सकता । इसलिये वे पूर्ण संयम धारण नहीं कर सकतीं।

आगे इसी बातको दिखलाते हैं ।

ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविह संजमोद्धरणं ।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥६५॥

न ह्यस्ति तेन तासां स्त्रीणां द्विविधसंयमधारणम् ।
संयमधारणेन विना नहि मोक्षस्तेन जन्मना ॥९५॥

अर्थ—संयम दो प्रकारका होता है एक प्राणिसंयम और दूसरा इन्द्रिय संयम। त्रस स्थावर समस्त जीवों को रक्षा करना किसी भी जीव का घात न करना प्राणिसंयम है और समस्त इन्द्रियों को वशमें रखना इद्रिय संयम है। ये दोनों प्रकार के संयम पूर्ण रूप से स्त्रियों के नहीं पल सकते। क्योंकि मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से समस्त प्राणियों की हिंसा का

चक्रिसुहलभृत् कृष्णप्रभृत्युत्कटभूभृताम ।
स्कन्धावारसमूहेषु प्रस्रवोच्चार भूमिषु ॥
शुक्रसंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचि देहेषु सद्यः सम्मूर्च्छयन्ति ये ॥
भूत्वा घनांगुलासंख्यभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यन्त्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्च्छिमा नराः ॥

अर्थ—चक्रवर्ती, हलधर नारायण आदि बड़े २ राजाओं के स्कन्धावार में मलमूत्रके स्थानों में शुक्र (वीर्य) कफ, नाकका मल, कर्ण दन्त आदि के मलमें तथा अत्यन्त अपवित्र शरीर में शीघ्र ही सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उन जीवों का शरीर घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। वे अपर्याप्तक होते हैं तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य होते हैं वे उत्पन्न होकर शीघ्र ही मर जाते हैं ।

त्याग होना चाहिये परंतु उसके शरीर से सम्मूर्च्छन मनुष्यों की हिंसा होती है इसलिये पूर्ण संयम उनसे कभी नहीं पल सकता है। तथा विना संयम के मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये स्त्रियों को उसी जन्म में उसी स्त्री पर्याय में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। स्त्रियां अपने योग्य आर्यिका के व्रत धारण कर स्त्री लिंग को छेद कर देव हो सकती हैं और फिर वहां से आकर मनुष्य पर्याय में उत्तम मनुष्य हो सकती हैं और फिर तपश्चरण कर उस मनुष्य पर्याय से मोक्ष जा सकती हैं। सीता का जीव वा अन्य कितनी ही स्त्रियों के जीव इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करेंगे।

आगे शंकाकार इस विषय में प्रश्न करते हैं।

अहवा एयं वयणं तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो।
किं णत्थि णाणदंसण उवओगो चेयणा तस्स ॥९६॥
अथवा एतद् वचनं तासां जीवो न भवति किं जीवः।
किं नास्ति ज्ञानदर्शनं उपयोगः चेतना तस्य ॥ ९६ ॥

अर्थ—कदाचित् कोई यह प्रश्न करते हों कि क्या स्त्रियों का जीव, जीव नहीं है ? क्या उन स्त्रियों के ज्ञान दर्शन नहीं है ? अथवा उनके क्या उपयोग नहीं है अथवा चेतना नहीं है ? स्त्रियों के क्या नहीं है जिससे कि वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकतीं।

भावार्थ—मनुष्यों के समान ही उन स्त्रियों के भी जीव है उनके भी ज्ञान दर्शन है उपयोग है चेतना है। इसलिये वे भी मनुष्यों के समान ही मोक्ष जा सकती हैं।

आगे इसी का उत्तर देते हैं।

जइ एवं तो इत्थि धीवरि कल्लालि वेसआईणं ।
सव्वेसिमत्थि जोवो सयलाओ तरिहि सिज्झंति ॥९७॥
यद्येवं तर्हि स्त्री धीवरी कल्लारिका वेश्यादीनाम् ।
सर्वासामस्ति जीवो सकलास्तर्हि सिद्ध्यन्ति ॥ ९७ ॥

अर्थ—यदि शंकाकार इस प्रकार कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि यदि मनुष्यों के समान ही स्त्रियोंका जीव है तो धीवरी कलारी वेश्याएं आदि महा हिंसा करने वाली स्त्रियों के भी जीव है इसलिये वे समस्त स्त्रियां भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगी।

भावार्थ—यदि जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा मानते हो तो फिर महा पाप करने वाले जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगे तथा स्त्रियों को भी जीव होने से ही मोक्ष की प्राप्ति मानते हो तो धीवरी वेश्याएं आदि दिन रात महा पाप उत्पन्न करने वाली स्त्रियां भी मोक्ष प्राप्त करलेंगी परंतु ऐसा होना असंभव है।

आगे यही बात दिखलाते हैं।

तम्हा इत्थी पज्जय पडुच्च जीवस्स पयडि दोसेण ।
जाओ अभव्व कालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥९८॥

तस्मात्स्त्रीपर्यायं प्रतीत्य जीवस्य प्रकृतिदोषेण ।
जातः अभव्यकालः तस्मात्तासां न निर्वाणम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—अतएव स्त्री पर्याय को लेकर प्रकृति के दोषसे जीवका अभव्यकाल प्राप्त हो जाता है इसलिये स्त्री को मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

भावार्थ—रत्नत्रय के व्यक्त होने की योग्यता को भव्यकाल कहते हैं और रत्नत्रय के व्यक्त होने की योग्यता न होनेको अभव्य काल कहते हैं। स्त्रियों के शरीर में अनेक सम्मूर्च्छन मनुष्य प्रति समय उत्पन्न होते और मरते रहते हैं इसीलिये स्त्रियों के पूर्ण संयम की प्राप्ति नहीं होती और इसलिये उनको मोक्ष को प्राप्ति नहीं होती।

आगे मोक्ष की प्राप्ति किन्हें होती है सो दिखलाते हैं ।

अइ उत्तमसंहणणो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो ।
मोक्खस्स होइ जुग्गो णिग्गंथो धरिय जिणलिंगो ॥६६

अत्युत्तमसंहननः उत्तम पुरुषः कुलागतः सन् ।
मोक्षस्य भवति योग्यो निर्ग्रन्थो धृतजिनलिंगः ॥६६॥

अथ—जिस पुरुष का उत्तम संहनन हो, जो उत्तम पुरुष हो सत्कुलमें उत्पन्न हुआ हो, वह पुरुष जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।

भावार्थ—बिना उत्तम संहनन के मोक्ष की प्राप्ति नहीं, स्त्रियों का उत्तम संहनन नहीं होता इसलिये उनको मोक्ष की प्राप्ति

भी नहीं होती। इसके सिवाय स्त्रियों का पर्याय निंद्य पर्याय है उत्तम पर्याय नहीं है। स्त्रियों के शरीर में अनेक सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, प्रतिमास रजःस्राव होता रहता है, इसलिये भी उनको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके सिवाय जिन लिंग निर्ग्रन्थ अवस्थ धारण नहीं कर सकती इसलिये भी वे मोक्ष प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। स्त्रियों को ऋद्धियाँ भी प्राप्त नहीं हो सकतीं तो फिर भला मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। इसलिये मोक्ष की प्राप्ति सज्जाति उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए चरम शरीरी महा पुरुषों को ही होती है। वह भी निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने, उत्तम ध्यान धारण करनेवाले पुरुषों को ही होती है।

आगे गृहस्थ अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, ऐसा दिखलाते हैं।

गिहलिंगे वट्टंतो गिहत्थवावार गहियतियजोओ।
अत्तरउद्दारूढो मोक्खं ण लहेहि कुलजो वि॥ १००॥

गृहस्थलिंगे वर्तमानः गृहस्थव्यापारगृहीतत्रियोगः।
आर्तरौद्रारूढः मोक्षं न लभते कुलजोपि॥ १००॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है वह भी जब-तक गृहस्थ लिंग में रहता है अर्थात् गृहस्थी में रहता है, गृहस्थी के व्यापार में मन वचन काय तीनों योगों को लगता रहता है

तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान में लगा रहता है तबतक वह उत्तम पुरुष भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

भावार्थ—ग्रहस्थावस्था में ध्यान वा रौद्र ध्यान इन दोनों में से कोई न कोई ध्यान लगा ही रहता है और गृहस्थी के व्यापार में आरभी उद्योगी आदि हिंसा होती ही रहती है, परिग्रह रहता है। ऐसी अवस्था में भला कर्मों का नाश कैसे हो सकता है। ऐसी अवस्था में तो कर्मों का आस्रव ही होता है और वह भी अधिकतर अशुभ कर्मों का आस्रव होता है। इसलिये यह निश्चित सिद्धांत है कि गृहस्थ लिंग से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे फिर भी यही बात दिखलाते हैं।

वज्झब्भंतरगंथे वट्टंतो इंदियत्थपरिकलिओ।
जइवि हु दंसणवंतो तहा वि ण सिज्झइ तम्हि भवे॥१०१॥
वाह्याभ्यन्तरग्रन्थे वर्तमानः इन्द्रियार्थपरिकलितः।
यद्यपि हि दर्शनवान् तथापि न सिद्ध्यति तस्मिन् भवे।१०१।

अर्थ—जो सद्गृहस्थ उत्तम पुरुष शुद्ध सम्यग्दर्शन सहित हो तथापि वह यदि वाह्य आभ्यंतर परिग्रहों को धारण करता है और इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता है तो वह उस भव में उस अवस्था से कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता।

भावार्थ—मिथ्यात्व कषाय आदि अंतरंग परिग्रहों के धारण करने से चित्त की शुद्धता नहीं हो सकती तथा विना मन के शुद्ध

हुए धर्म्यध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर भला शुक्लध्यान की बात तो बहुत दूर हो जाती है। ऐसी अवस्था में भला मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो सकती है। इसी प्रकार वस्त्र आदि बाह्य परिग्रह रखने से अनेक प्रकार के दोष आते हैं। वस्त्र मैले होने पर धोने पड़ते हैं, वस्त्र धोने में अनेक जीवों की हिंसा होती है, न धोने पर उन में अनेक जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वस्त्र फट जाँय वा उनको कोई ले जाय तो आर्त्तध्यान होता है तथा याचना करनी पड़ती है। इस प्रकार केवल वस्त्र रखने में ही महा पाप होता है फिर भला समस्त परिग्रहों के रखने में तो अनेक महा पाप होते ही हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों को सेवन करने में अनेक महा पाप होते ही हैं। इसके सिवाय इन्द्रियों की लंपटता बढ़ती है और इस प्रकार उसके इन्द्रिय संयम कभी नहीं हो सकता। इसलिये गृहस्थ अवस्था में वा परिग्रह सहित अवस्था में मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।

आगे और भी दिखलाते हैं।

जइ गिहवंतो सिज्झइ अगहिय णिग्गंथलिंग सग्गंथो।
तो किं सो तित्थयरो णिस्संगो तवइ एगागी ॥१०२॥

यदि गृहवान् सिध्यति अगृहीतनिर्ग्रन्थलिंगः सग्रन्थः।
तर्हि किं स तीर्थंकरो निःसंगस्तपति एकाकी ॥ १०२ ॥

अर्थ—यदि गृहस्थ अवस्था में ही बिना निर्ग्रंथ लिंग धारण किये सग्रंथ अवस्था में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर

तीर्थंकर देव समस्त परिग्रहों का त्याग कर अकेले एकांत स्थान में जाकर तपश्चरण क्यों करते हैं।

भावार्थ—भगवान ऋषभदेव ने भी समस्त परिग्रहों का त्याग कर निर्जन वनमें जाकर तपश्चरण किया था। इससे सिद्ध होता है कि सग्रंथ अवस्था मे कभी भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

आगे कवलाहार का निषेध करते हैं।

केवलभुत्ती अरुहे कहिया जा सेवडेण तहिं तेण।
सा णत्थि तस्स णूणं णिहयमणो परमजोईणं ॥१०३॥
कवलभुक्तिः अर्हति कथिता या श्वेतपटेन तस्मिन् तेन।
सा नास्ति तस्य नूनं निहतमनः परमयोगिनः ॥१०३॥

अर्थ—श्वेतपट लोग कहते हैं कि भगवान अरहंत देव समवशरण में विराजमान होते हुए भी कवलाहार करते हैं अर्थात् आहार को हाथसे उठाकर मुंहमें देकर भोजन करते हैं। परन्तु ऐसी मान्यता तर्क-संगत नहीं है। क्योंकि भगवान अरहन्तदेव परम योगी हैं। उनका मन भी नष्ट होगया है, केवल द्रव्य मन है जो बिना भाव मनके कुछ काम नहीं करता। इसके सिवाय यह भी समझने की बात है कि अरहन्त भगवानके मोहनीय कर्म का सर्वथा अभाव होगया है तथा बिना मोहनीय कर्म के उदय के वेदनीय कर्म कुछ काम नहीं कर सकता। इसलिये भगवान अरहन्त देव के न क्षुधा पिपासा आदि दोष हैं और न वे कवलाहार करते हैं।

आगे अरहन्त अवस्था किस प्रकार प्राप्त होती है यही दिखलाते हैं ।

गुत्तित्तयजुत्तस्स य इन्दियवावाररहियचित्तस्स ।
भाविंदियमुक्खस्स×य जीवस्स य णिच्चलं झाणं ।१०४।
गुप्तित्रययुक्तस्य च इन्द्रियव्यापाररहितचित्तस्य ।
भावेन्द्रियमुख्यस्य च जीवस्य निश्चलं ध्यानम् ।१०४।

अर्थ—जो निर्ग्रन्थ मुनि मन, वच, काय के समस्त व्यापारो को रोककर मनोगुप्ति वचनगुप्ति कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों का पालन करते हैं तथा जिनका चित्त इन्द्रियों के व्यापार मे सर्वथा रहित होता है और जिनके भावेन्द्रिय की मुख्यता रहती है ऐसे योगी पुरुषों के निश्चल ध्यान होता है ।

झाणेण तेण तस्स हु जीव मणस्साण समरसीयरणं ।
समरसभावेण पुणो संवित्ती होइ णियमेण ॥१०५॥
ध्यानेन तेन तस्य हि जीव मनआणसमरसीकरणम् ।
समरसभावेन पुनः संवित्ति भवति नियमेन ।१०५॥

अर्थ—उस ध्यान के द्वारा उन योगी का आत्मा और मन दोनों एक रूप हो जाते हैं, दोनों समान रसरूप परिणत होजाते हैं

× भावेन्द्रिय का अर्थ चेतना है । यह केवल ध्यान का लक्षण है । केवल ज्ञानके पहली अवस्था का है ।

तथा उस समरसी भावसे उन योगी के नियमसे संवित्ती हो जाती है।

भावार्थ—अपने आत्माका अपने ही आत्मामें लीन हो जाना संवित्ती कहलाती है। वह संवित्ती निश्चल ध्यान से ही होती है।

आगे फिर भी यही दिखलाते हैं।

संवित्तीए वि तहा तण्हा णिद्दा य छुहा य तस्स णस्संति।
णट्ठेसु तेसु पुरिसो खवयस्सेणिं समारुहइ ॥ १०६ ॥
संवित्तावपि तथा तृष्णा निद्राक्षुधा च तस्य नश्यति।
नष्टेषु तेषु पुरुषः क्षपकश्रेणिं समारोहति ॥ १०६ ॥

अर्थ—जब यह आत्मा निश्चल ध्यानके द्वारा अपने आत्मा में लीन हो जाता है उस समय उस योगी के तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा पिपासा आदि सब नष्ट हो जाते हैं तथा निद्रा, तन्द्रा क्षुधा आदि के नष्ट होने से फिर वह योगी क्षपक श्रेणी में आरूढ होजाता है।

भावार्थ—श्रेणी दो प्रकार की है एक उपशम श्रेणी और दूसरी क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणी चढने वाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का उपशम करता जाता है परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में जाकर उन कर्मोंका उदय होने से नीचे के गुणस्थानों में आजाता है। क्षपक श्रेणी चढनेवाला योगी अपने चारित्र मोहनीय कर्मों का क्षय करता जाता है और फिर दशवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान में पहुँच जाता है तथा बारहवें गुणस्थानके अंत में ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्मोंका नाश कर केवल-

ज्ञान प्राप्त करलेता है और इस प्रकार वह तेरहवें गुणस्थान में पहुंच कर अरहन्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

खवएसु य आरूढो णिद्दाईकारणं तु जो मोहो।
जाइ खयं णिस्सेसो तक्खीणे केवलं णाणं ॥१०७॥
क्षपकेषु च आरूढो निद्रादिकारणं तु यो मोहः।
याति क्षयं निःशेषः तत्क्षये केवलं ज्ञानम् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जब वह योगी अपने निश्चल ध्यानके द्वारा क्षपक श्रेणी में आरूढ हो जाता है तब उसका निद्रा तन्द्रा क्षुधा आदि का कारण मोहनीय कर्म सर्वथा पूर्ण रूपसे नष्ट होजाता है। और उस मोहनीय कर्म के सर्वथा नष्ट होने से उस महा योगी के केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है।

तं पुण केवल णाणं दसट्ठदोसाण हवइ णासम्मि।
ते दोसा पुण तस्सहु छुहाइया णत्थि केवलिणो ॥१०८॥
तत्पुनः केवलज्ञानं दशाष्टदोषाणां भवति नाशे।
ते दोषाः पुनस्तस्य हि क्षुधादिका न सन्ति केवलिनः ।१०८

अर्थ—यह केवल ज्ञान क्षुधा पिपासा आदि अठारह दोषों के नाश होने पर ही होता है। इसलिये उन केवली भगवान के वे क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोष कभी नहीं होते।

भावार्थ—क्षुधा, तृषा, बुढापा, भय, जन्म, मरण, रोग, शोक रति, अरति विस्मय, स्वेद (पसीना) खेद, मद, निद्रा, राग, द्वेष,

मोह ये अठारह दोष कहलाते हैं। जब इनका सर्वथा नाश होजाता है तभी केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। बिना इनका नाश हुए केवल ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होताहै कि केवली भगवानके क्षुधा तृषा कोई रोग नहीं है और इसीलिये उन्हें कवलाहार की आवश्यकता ही नहीं हो सकती। यदि केवली भगवान के भी आहार की आवश्यकता मानी जायगी तो फिर उनके अनन्त शक्ति का भी सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

जइ संति तस्स दोसा केत्तियमित्ता छुहाइ जे भणिया।
ण हवइ सो परमप्पा अणंतविरिओ हु सो अहवा॥१०६।
यदि सन्ति तस्य दोषाः कियन्मात्राः क्षुधादिका ये भणिताः।
न भवति स परमात्मा अनन्तवीर्यो हि सोऽथवा॥१०६॥

अर्थ—यदि उन केवली भगवान के क्षुधा तृषा आदि दोष थोडे से भी माने जायगें तो फिर वे भगवान न तो परमात्मा हो सकते हैं और न वे अनन्तवीर्य को धारण करनेवाले कहे जा सकते हैं।

भावार्थ—जो लोग क्षुधा-तृषासे पीडित रहते हैं वे हम आप लोगों के समान न तो परमात्मा हो सकते हैं और न अनन्तवीर्य वा अनन्त शक्ति धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार केवली भगवान भी यदि क्षुधा से पीडित होते हैं तो वे भी परमात्मा नहीं हो सकते और क्षुधा से पीडित होने के कारण अनन्त सुखी वा

अनन्त वीर्यवान भी नहीं हो सकते। इसलिये केवली भगवान के क्षुधा, तृषा आदि दोष मानना सर्वथा मिथ्या है। परमात्मा होने पर भी यदि उन्हें भूख प्यास लगता है तो फिर उनमे और हममें कोई अन्तर ही नहीं रहता है। इसके सिवाय यह भी समझना चाहिये कि जो मनुष्य आहार लेते हैं उनको नींद भी आती है तथा और आकुलताएं प्रगट होती हैं। इसलिये परमात्मा भगवान अरहन्त देवके क्षुधादिक दोष मानना और कवलाहार मानना तर्क संगत प्रतीत नहीं है।

आगे भगवान अरहन्त देव के शरीर की स्थिति विना आहार के किस प्रकार रहती है सो दिखलाते हैं।

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पहारो य।
उज्जमणो विय कमसो आहारो छव्विहो णओ॥११०॥
नोकर्मकर्माहारौ कवलाहारश्च लेपाहारश्च।
ओजो मनोपि च क्रमशः आहारः षड्विधो ज्ञेयः।११०।

अर्थ—नोकर्म अहार कर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार उस प्रकार अहारके छह भेद हैं।

णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं।
कवलाहारो णरयसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो॥१११॥
नोकर्मकर्माहारौ जीवानां भवतः चतुर्गति गतानाम्।
कवलाहारो नरपशूनां वृक्षेषु च लेपाहारः॥१११॥

अर्थ—इन छह प्रकारके अहारों मे से नौकर्माहार और

कर्माहार चारों गतियों मे परिभ्रमण करनेवाले समस्त जीवों के होते हैं, कवलाहार मनुष्य तथा पशुओं के होता है और वृक्षों के लेपाहार होता है।

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो ॥११२॥
पक्षिणामोज आहारः अण्डमध्येषु वर्तमानानाम्।
देवेषु मन आहारः चतुर्विधो नास्ति केवलिनः ।११२।

अर्थ—अंडे के भीतर रहने वाले पक्षियों के ओजाहार होता है और देवों के मानसिक अहार होता है। इस प्रकार छहों प्रकार के आहार की व्यवस्था है। इनमें से चार प्रकार का अहार केवली भगवानके नहीं होता।

भावार्थ—प्रत्येक जीवके जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती रहती हैं उनको नो कर्माहार कहते हैं। ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के योग्य जो पुद्गल वर्गणा आती हैं उनको कर्माहार कहते हैं। मुंहमें रखकर जो खाया जाता है उसको कवलाहार कहते हैं, लेप करदेना लेपाहार है, अंडों के ऊपर बैठकर जो मुर्गी आदि पक्षी अंडों के भीतर गर्मी पहुंचाती है वह ओजाहार है तथा देवों के जो नियत समय पर क्षुधा लगने पर मनसे अमृत झरता है उसको मानसिक आहार कहते हैं। इनमें से कवलाहार, लेपाहार, ओजाहार और मानसिक आहार भगवान केवली के कभी नहीं होते।

णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ ।
ण हु णिच्छयेण सो विहु स वीयराओ परो जम्हा ।११३।
नोकर्मकर्माहारौ उपचारेण तस्य आगमे भणितौ ।
न हि निश्चयेन सोपि हि स वीतरागः परो यस्मात् ।११३।

अर्थ—यद्यपि केवली भगवान के नो कर्म आहार और कर्म आहार आगम मे बतलाया है परंतु वह भी उपचार मे बतलाया है । निश्चय नय से देखा जाय तो वह भी नहीं है । इसका भी कारण यह है कि केवली भगवान परम वीतरागी हैं । इसलिये उनके आहार की कल्पना हो ही नहीं सकती है ।

भावार्थ—यद्यपि केवली भगवान् के प्रत्येक समय में कर्म वर्गणा आती हैं तथापि वे ठहरती नहीं हैं, उसी समय खिर जाती हैं । इसलिये भगवान के उपचार से ही नोकर्म वा कर्म आहार माना है तथा उपचार से ही आस्रव माना है । इसलिये वास्तव में वह नहीं के समान है । भगवान के कषायों का सर्वथा अभाव है और विना कषायों के कर्म ठहर नहीं सकते । इसलिये भगवान के कर्म बंध का भी सर्वथा अभाव माना है । घातिया कर्मों के नष्ट होने से भगवान के अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं, अनंत दर्शन, अनत ज्ञान, अनंत सुख और अनंत वीर्य प्रगट हो जाते हैं । ऐसी अवस्था में क्षुधा लगने और कवलाहार लेने की कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ है और असत् है ।

आगे कवलाहार के दोष बतलाते हैं।

जो जेमइ सो सोवइ सुत्तो अण्णे विविसयमणुहवइ।
विसए अणुहवमाणो स वीयराओ कहं णाणी ॥११४॥
यो जेमति स स्वपिति सुप्तो अन्यानपि विषयाननुभवति।
विषयाननुभवमानः स वीतरागः कथं ज्ञानी ॥ ११४ ॥

अर्थ— जो पुरुष कवलाहार करता है वह सोता भी है, जो सोता है वह पुरुष अन्य अनेक इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है तथा जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह वीतराग और सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?

भावार्थ—इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना और वीतराग होना दोनों परस्पर विरोधी हैं। जो इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करता है वह कभी वीतराग नहीं हो सकता, क्योंकि विषयों का अनुभव राग से ही होता है, बिना राग के विषयों का अनुभव कभी नहीं हो सकता। यदि केवली भगवान कवलाहार लेकर सोते हैं और विषयों का अनुभव करते हैं तो वे कभी वीतराग नहीं हो सकते और जो वीतराग नहीं हैं वे कभी सर्वज्ञ नहीं हो सकते।

इसलिये मानना चाहिये कि—

तम्हा कवलाहारो केवलिणो णत्थि दोहिं वि णएहिं।
मण्णंति य आहारं जेते मिच्छाय अण्णाणी ॥११५॥

तस्मात्कवलाहारः केवलिनो नास्ति द्वाभ्यामपि नयाभ्यां ।
मन्यन्ते चाहारं ये ते मिथ्याज्ञानिनः ॥ ११५ ॥

अर्थ—इसलिये यह सिद्धांत निश्चित रूप से सिद्ध है कि केवली भगवान के निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों नयों से कवलाहार नहीं है। फिर भी केवली भगवान के कवलाहार मानना अज्ञानता ही है।

आगे और कहते हैं—

अण्णं जं इय उत्तं संसयमिच्छत्तकलियभावेण ।
अम्हं चि थविरकप्पो कंवलगहणेण ण हु दोसो ॥११६॥
अन्यद्यदित्युक्तं संशयमिथ्यात्वकलितभावेन ।
अस्माकं स्थविरकल्पः कम्बलग्रहणेन न हि दोषः ।११६

अर्थ—जिनके परिणाम संशय मिथ्यात्व से भरे हुए हैं वे कहते हैं कि हम तो स्थविर कल्पी हैं, इसलिये हमको कंबल ग्रहण करने में कोई दोष नहीं लगता।

कवलि वत्थं दुद्धिय दंडं कणयं च रयणभंडाइं ।
सग्गग्गमणणिमित्तं मोक्खस्स य होइ णिब्भंत ॥ ११७ ॥
कम्बलं वस्त्रं दुग्धिकं दण्डं कनकं च रत्नभाण्डादीनि ।
स्वर्गं गमननिमित्तं मोक्षस्य च भवति निर्भ्रान्तम् ॥११७

अर्थ—ऐसा कहा जाता है कि कंबल, वस्त्र, कुंडी, दंड सोना रत्नों के बर्तन ये सब स्वर्ग मोक्ष के कारण हैं इसमें किसी प्रकार की भ्रांति नहीं है।

पर ऐसी मान्यता उचित नहीं है क्योंकि—

ण उ होइ थविरकप्पो गिहत्थकप्पो हवेइ फुडुऐसो ।
इय सो धुत्तेहिं कओ थविरकप्पस्स भग्गेहिं ॥ ११८ ॥
न हि भवति स्थविर कल्पो गृहस्थकल्पो भवति स्फुटमेषः ।
इति धूर्तैः कृतः स्थविरकल्पस्य भग्नैः ॥ ११८ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि कंबल दंड वस्त्र कुंडी सोना रत्नों के बर्तन रखना आदि स्थविर कल्प नहीं है किंतु यह तो गृहस्थ कल्प है। इस गृहस्थकल्प को स्थविर कल्प मानने की कल्पना स्थविर कल्प से च्युत लोगों ने की है।

भावार्थ—वस्त्र, कंबल, दंड सोना आदि रखना गृहस्थों का काम है। मुनियों के लिए तो इन सबका त्याग बतलाया है। फिर जो लोग मुनि होकर भी वस्त्र दण्ड आदि रखते हैं और उनको मोक्षका साधन बतलाते हैं यह कैसे? यह परिग्रह तो सर्व पापों का कारण है, स्वर्ग मोक्ष का कारण कभी नहीं हो सकता।

आगे जिन कल्प और स्थविर कल्पका वास्तविक स्वरूप कहते हैं।

दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविर कप्पो य ।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ ११९ ॥
द्विविधो जिनैः कथितो जिनकल्पस्तथा च स्थविरकल्पश्च ।
स जिन कल्प उक्त उत्तमसंहननधारिणः ॥ ११९ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेवने जिन कल्प और स्थविर कल्प

ऐसे दोनों प्रकार के मार्ग दिखलाये हैं । इनमें से जो उत्तम संहनन को धारण करनेवाले महा मुनि हैं वे जिन कल्पी मुनि कहलाते हैं।

आगे जिनकल्पी का और भी स्वरूप कहते हैं।

जत्थ ण कटयभग्गो पाए णयणम्मि रय पविट्ठम्मि ।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥१२०॥
यत्र न कंटकलग्नं पादे नयनयो रजः प्रविष्टे ।
स्फोटयन्ति स्वयं मुनयः परापहारे च तूष्णीकाः ॥१२०॥

अर्थ—यदि जिनकल्पी महा मुनियों के पैर में कांटा लग जाता है अथवा नेत्रों में धूलि पड जाती है तो वे महा मुनि अपने हाथ से न कांटा निकालते हैं और न अपने हाथ से नेत्रों से धूलि निकालते हैं। यदि अन्य कोई दूसरा मनुष्य उस कांटे को वा धूलि को निकालता है तो वे चुप रहते हैं।

भावार्थ—वे महामुनि अपने पैर के कांटे को वा नेत्रों की धूलि को न तो स्वयं निकालते हैं और न निकालने के लिये किसी अन्य से कहते हैं। यदि जान लेने पर कोई पुरुष उनको निकालता है तो भी चुप ही रहते हैं। कांटा लगने पर विषाद नहीं करते और निकल जाने पर हर्ष नहीं करते। वे दोनों अवस्थाओं में समान वीतराग रहते हैं।

आगे और भी कहते हैं।

जल वरिसणवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं ।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥१२१॥

जलवर्षायां जातायां गमने भग्ने च यावत् षण्मासम् ।
तिष्ठन्ति निराहाराः कायोत्सर्गेण षण्मासम् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जब वर्षा ऋतु आजाती है और मुनियों का गमन करना बंद हो जाता है उस समय वे जिन कल्पी महा मुनि छह महीने तक निराहार रहते हैं और छह महीने तक कायोत्सर्ग धारण कर किसी एक ही स्थान पर खडे रहते हैं।

भावार्थ—उनका उत्तम संहनन होता है। अस्थि आदि सब वज्रमय होती है। इसलिये उनमें इतनी शक्ति होती है।

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेस कसाया मोण वई कंदरावासी ॥ १२२ ॥
एकादशांगधारिणः एते धर्म शुक्ल ध्यानिनश्च ।
त्यक्ताशेषकषायाः मौनव्रताः कन्दरावासिनः ॥१२२॥

अर्थ—वे जिन कल्पी महामुनि ग्यारह अंग के पाठी होते हैं, धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान में लीन रहते हैं, समस्त कषायों के त्यागी होते हैं मौनव्रत को धारण करने वाले होते हैं और पर्वतों की गुफा कंदराओं में रहते हैं।

बहिरंतरगंथचुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सदा ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३
वाह्याभ्यन्तरग्रन्थच्युता निस्नेहा निस्पृहाश्च यतिपतयः ।
जिना इव विहरन्ति सदा ते जिनकल्पे स्थिताः श्रमणाः ।१२३।

अर्थ—वे जिन कल्पी महामुनि बाह्य आभ्यंतर समस्त परिग्रहों के त्यागी होते हैं, स्नेह रहित परम वीतराग होते हैं और समस्त इच्छाओं से सर्वथा रहित होते हैं। ऐसे वे यतीश्वर महा मुनि भगवान जिनेन्द्र देव के समान सदा काल विहार करते रहते हैं। इसलिये वे जिन कल्पी मुनि कहलाते हैं।

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप कहते हैं।

थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पचच्चेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥
स्थविरकल्पोपि कथितः अनगाराणां जिनेन स एषः।
पंचचेलत्यागोऽकिंचनत्वं च प्रतिलेखनम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव ने मुनियों के लिये स्थविर कल्पी मुनियों का भी स्वरूप कहा है। जो मुनि पांचों प्रकार के वस्त्रों*

* अंडजवुंडजरोमज चर्मज वल्कज पंच चेलानि।
परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयान्न भवेत्स यतिः।
रजसेदाण मगहण मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च।
जत्थे दे पंच गुणा ते पडिलिहण पसेसेति ॥

अर्थ—सूत के वस्त्र, रेशम के वस्त्र, ऊन के वस्त्र चर्म के वस्त्र और वृक्षों की छाल के बने वस्त्र ये पांच प्रकार के वस्त्र कहलाते हैं। इन सब प्रकार के वस्त्रों का जो त्याग करदेता है तथा तृण से बने वस्त्रों को भी जो ग्रहण नहीं करता वही मुनि कहलाता है। जो पीछी मृदु हो, कोमल हो, छोटी हो, धूलि मिट्टी को ग्रहण न कर सकती हो ऐसी ही पीछी प्रशंसा करने योग्य है।

का सर्वथा त्याग कर देते हैं अकिंचन व्रत धारण करते हैं और पीछी रखते हैं ऐसे मुनि स्थविर कल्पी कहलाते हैं।

आगे स्थविर कल्पी मुनियों का स्वरूप और भी कहते हैं।

पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहि अणवरयं।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पडिरूव पडिगहणं।१२५॥

पंचमहाव्रतधारणं स्थितिभोजनं एकभक्तं करपात्रम्।
भक्ति भरेण च दत्तं काले च अयाचना भिक्षा ॥१२६॥
द्विविधतपसि उद्यमनं षड्विधावश्यकैः अनवरतम्।
क्षितिशयनं शिरोलोचः जिनवर प्रतिरूप प्रतिग्रहणम्।१२६

अर्थ—वे स्थविर कल्पी मुनि पांचों महाव्रतों को धारण करते हैं, खडे होकर आहार लेते हैं, दिन में एक ही बार आहार लेते हैं, कर पात्र में ही आहार लेते हैं, तथा विना याचना किये भक्ति पूर्वक जो कोई समय पर दे देता है वही भिक्षा भोजन कर लेते हैं। वे मुनि बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार के तपश्चरण करने में सदा उद्यमी रहते हैं। छह आवश्यकों को प्रतिदिन निरंतर पालन करते हैं, पृथ्वीपर शयन करते हैं मस्तक दाढी मूछ के बालों का लोच करते हैं और जिनेन्द्रदेव के समान ही माने जाते हैं।

भावार्थ—स्थविर कल्पी मुनि भी अट्ठाईस मूलगणों का पालन करते हैं, पांच महाव्रत, पांच समिति, छह आवश्यक, पंचेन्द्रियोंका दमन, खडे होकर आहार लेना, दिनमें एक ही वार करपात्र में अहार लेना, भूमिशयन, केशलोंच, दन्तधावन त्याग, स्नान त्याग और समस्त वस्त्रों का वा समस्त परिग्रहों का त्याग कर नग्नरूप धारण करना इस प्रकार ये अट्ठाईस मूल गुण हैं । स्थविर कल्पी मुनि इनका पूर्ण रूपमें पालन करते हैं तथा यथासंभव उत्तर गुणों का पालन करते हैं। वे स्थविर कल्पी मुनि वारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तवन करते हैं, दश धर्मों का पालन करते हैं. परीषहों को सहन करते हैं, चारित्र का पालन करते हैं तथा तपश्चरण धारण करते हैं। इस प्रकार वे स्थविर कल्पी मुनि पूर्णरूपसे जिनदेवके समान ही मुनि होते हैं।

आगे स्थविरकल्पियों के लिये और भी कहते हैं ।

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण ।
पुर णयर गामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥
संहननस्य गुणेन च दुःखमकालस्य तपः प्रभावेन ।
पुरनगरग्रामवासिनः स्थविरे कल्पे स्थिता जाताः॥१२७॥

अर्थ—इस दुषमकालमें शरीरके संहनन बलवान नहीं होते, इसलिये वे मुनि किसी नगर गांव वा किसी पुर में रहते हैं और अपने तपश्चरण के प्रभावसे स्थविर कल्पी कहलाते हैं।

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवे चरियस्स ।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

उपकरणं तद्गृहीतं येन न भंगो भवति चर्यायाः ।
गृहीतं पुस्तकदानं योग्यं यस्य तत्तेन ॥ १२८ ॥

अर्थ--वे मुनि अपने उपकरण भी ऐसे रखते हैं जिनसे किसी प्रकार के चारित्र का भग न होता हो। तथा वे मुनि अपनी २ योग्यता के अनुसार किसी के द्वारा दिये हुए शास्त्र वा पुस्तक भी ग्रहण करलेते हैं।

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं समत्तीए।
भवियाणं धम्मसवणं सिस्साणं य पालणं गहणं ॥१२९॥
समुदायेन विहारो धर्मस्य प्रभावनं स्वशक्त्या।
भव्यानां धर्मश्रवणं शिष्यानां च पालनं ग्रहणम् ॥१२९॥

अर्थ—इस पंचम काल में वे स्थविर कल्पी मुनि समुदाय रूप से विहार करते हैं, अपनी शक्ति के अनुसार धर्म की प्रभावना करते हैं, भव्य जीवों को धर्म का उपदेश देते हैं तथा शिष्यों को ग्रहण करते हैं और उनका पालन करते हैं।

भावार्थ –जो भव्य जिस दीक्षा के योग्य है उसको वैसी ही दीक्षा देते हैं, किसी को श्रावकों के योग्य ग्यारह स्थानों में से किसी भी स्थान को (ग्यारह प्रतिमाओं में से किसी प्रतिमा को) दीक्षा देते हैं और किसी परम विरक्त भव्य जीव को मुनि की दीक्षा भी देते हैं। जिन को दीक्षा दी है उनसे यथायोग्य अपने अपने पद के अनुसार चारित्र का पालन कराते हैं, धर्म श्रवण

कराते हैं, धर्म की प्रभावना करते हैं और सबको धर्म मे दृढ करते रहते हैं ।

आगे ऐसे स्थविर कल्पी मुनियों की प्रशंसा करते हैं ।

संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरण-उच्छहिया ।१३०।
संहननमतिनीचं कालः स दुःषमो मनश्चपलम् ।
तथापि हि धीराः पुरुषाः महाव्रतभारधारणोत्साहाः १३०॥

अर्थ—यह काल दुःषम है इस काल में शरीर के संहनन अत्यंत नीच होते हैं और मन अत्यंत चंचल रहता है तथापि धीर वीर पुरुष महाव्रतों का भार धारण करने में अत्यंत उत्साहित रहते हैं, यह भी एक आश्चर्य की बात है ।

वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
ते संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥ १३१ ॥
वर्षसहस्रेण पुरा यत्कर्म हन्यते तेन कायेन ।
तत्संप्रति वर्षेण हि निर्जरयति हीनसंहननेन ॥१३१॥

अर्थ—पहले समय में जिन कर्मों को मुनिलोग अपने शरीर से हजार वर्ष में नष्ट करते थे उन्हीं कर्मों को आज कल के स्थविर कल्पी मुनि अपने हीन संहनन से ही एक वर्ष में ही क्षय कर डालते हैं ।

एवं दुविहो कप्पो परम जिणंदेहिं अक्खियो णूणं ।
अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरि कलिओ ॥१३२॥

एवं द्विविधः कल्पः परमजिनैः कथितो नूनम् ।
अन्यः पाषण्डिकृतो गृहस्थकल्पो ग्रंथपरिकलितः ॥१३२॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देव ने जिन कल्प और स्थविर कल्प ऐसे दो प्रकार के मुनि बतलाये हैं। इन दो प्रकार के मुनियों के सिवाय जो वस्त्र आदि परिग्रहों से परिपूर्ण गृहस्थ कल्पकी कल्पना की है वह पाखंडियों ने की है, ऐसे गृहस्थ कल्प का कल्पना भगवान जिनेन्द्र देव ने नहीं बतलाई है।

दुद्धरतवस्स भग्गा परिसह विसएहिं पीडिया जे य ।
यो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं ॥१३३॥
दुर्धरतपसः भग्नाः परीषहविषयैः पीडिता ये च ।
यो गृहकल्पो लोके स स्थविरकल्पः कृतः तैः ॥१३३॥

अर्थ—जो मुनि मुनि होकर भी दुर्धर तपश्चरण धारण करने मे असमर्थ होगये थे और इसलिये जो तपश्चरण से भ्रष्ट होगये थे तथा जो परिपह सहन करने में दुःखका अनुभव करते थे, दुखी होते थे ऐसे उन लोगोंने गृहस्थ कल्पको ही स्थविर कल्प मान लिया है।

णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण ।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥१३४॥
निर्ग्रन्थो जिनवृषभो निर्ग्रन्थं प्रवचनं कृतं तेन ।
तस्यानुमार्गलग्नाः सर्वे निर्ग्रन्थमहर्षयः ॥१३४॥

अर्थ—भगवान ऋषभ देव दीक्षा धारण कर निर्ग्रन्थ मुनि हुए थे तथा केवल ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर उन्होंने मुनियों का स्वरूप निर्ग्रन्थ ही बतलाया था। अपनी दिव्यध्वनि में मुनियों की निर्ग्रन्थ अवस्था ही बतलाई थी जो शास्त्रों में आज तक विद्यमान है। उन्हीं शास्त्रों के अनुसार वर्तमानके निर्ग्रन्थ मुनि भी उसी मार्गके अनुसार निर्ग्रन्थ होते चले आरहे हैं।

जे पुण भूसिय गंथादूसियणिग्गंथलिंगवयभट्ठा।
तेहि सगंथं लिंगं पायडियं तित्थणाहस्स ॥१३५॥
ये पुनर्भूषितग्रन्था दूषितनिर्ग्रन्थलिंग-व्रतभ्रष्टाः।
तैः सग्रन्थं लिंगं प्रकटितं तीर्थनाथस्य ॥ १३५ ॥

अर्थ—जो लोग मुनि होकर भी परिग्रहसे सुशोभित रहते हैं, जिन्होंने पवित्र निर्ग्रन्थ लिङ्गको दूषित कर रक्खा है तथा जो निर्ग्रन्थ लिङ्गसे और अपने मुनिव्रत से भ्रष्ट हो गये हैं ऐसे लोगों ने तीर्थंकर परमदेव के इस निग्रन्थ लिंग को भी सग्रन्थ लिंग प्रगट कर रक्खा है

भावार्थ—तीर्थंकर परमदेवका मार्ग तो निर्ग्रन्थ ही है। परन्तु जो लोग अपने व्रतोंसे भ्रष्टहोगये हैं कोई प्रकार का कष्ट सहन न करते हुए सब प्रकार से सुखी रहकर ही स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं ऐसे लोग तीर्थङ्कर के निर्ग्रन्थ मार्ग को सग्रन्थ बतलाते हैं।

जं जं सयमादरियं तं तं णिरुआयमेण अलिएण।
लोए वक्खणित्ता अण्णाणी वंचिआ तेहिं ॥१३६॥

यत् यत् स्वयमाचरितं तत्तत् निरागमेनालीकेन ।
लोके व्याख्याय अज्ञानिनो वंचितास्तैः ॥१३६॥

अर्थ—ऐसे लोग जिन २ आचरणों को स्वयं पालन करते हैं उन्हीं आचरणों को अपने बताये हुए मिथ्या आगमों से निरूपण करते हैं तथा संसार में वे लोग उसीप्रकार व्याख्यान कर अज्ञानी लोगों को ठगते हैं। यह एक दुःखकी बात है।

आगे श्वेतपट मत कब, कहां और किस प्रकार उत्पन्न हुआ, यही बात दिखलाते हैं।

छत्तीसे वरिससये विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसंघो हु वलहीए ॥ १३७ ॥
षट्त्रिंशतित्रिवर्षशते विक्रमराजस्य मरणप्राप्तस्य ।
सौराष्ट्रे उत्पन्नः श्वेतपटसंघो हि वल्लभीके ॥१३७॥

अर्थ—राजा विक्रम के मरने के एकसौ छत्तीस वर्ष बाद सोरठदेशके वलभी नगर में श्वेतपट संघ की उत्पत्ति हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है।

आसि उज्जेणिणयरे आइरिओ भद्दबाहुणामेण ।
जाणिय सुणिमित्तधरो भणिओ संघोणिओ तेण ।१३८।
आसीदुज्जयिनीनगरे आचार्यः भद्रबाहुः नाम्ना ।
ज्ञात्वा सुनिमित्तधरः भणितः संघो निजस्तेन ।१३८।

अर्थ—उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामके आचार्य थे। वे

निमित्तशास्त्रको जानते थे। उन्होंने अपने निमित्त शास्त्रसे जान-
कर अपने संघसे कहा था कि-

हो हइ इह दुब्भिक्खं वारह वरसाणि जाम पुण्णाणी।
देसंतराइ गच्छइ णियणिय संघेण संजुत्ता ॥ १३९ ॥
भविष्यतीह दुर्भिक्षं द्वादशवर्षाणि यावत्पूर्णानि।
देशान्तराणि गच्छत निजनिजसंघेन संयुक्ताः ॥१३९॥

अर्थ—इस देशमें वारह वर्ष तक दुर्भिक्ष पडेगा। इसलिये
आप लोग अपने २ संघके साथ दूसरे देशों में चले जाओ।

सोऊण इयं वयणं णाणादेसेहिं गणहरा सव्वे।
णिय णिय संघ पउत्ता विहरीआ जत्थ सुब्भिक्खं।१४०।
श्रुत्वेदं वचनं नानादेशे गणधराः सर्वे।
निजनिजसंघप्रयुक्ता विहृता यत्र सुभिक्षम् ॥१४०॥

अर्थ—आचार्य श्री भद्रवाहु से इन वचनों को सुन कर
समस्त गणधर व आचार्य अपने २ संघको लेकर जहां २ सुभिक्ष
था सुकाल था उन २ देशों के लिये विहार कर गये।

एक्कं पुण सन्ति णामो संपत्तो वलहि णाम णयरीए।
वहुसीससंपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ॥१४१॥
एकः पुनः शान्ति नामा संप्राप्तः वल्लभीनामनगर्याम्।
बहुशिष्यसंप्रयुक्तः विषये सौराष्ट्रे रम्ये ॥ १४१ ॥

अर्थ—उन आचार्यों में एक शांति चन्द्र नाम के आचार्य थे,

वे आचार्य अपने अनेक शिष्यों के साथ मनोहर सोरठ देश के वल्भी नाम के नगर में विहार करते हुए पहुंचे।

तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं।
जत्थ वियारिय उयरं खद्धो रंकेहि कूरत्ति ॥ १४२ ॥
तत्रापि गतस्य जातं दुर्भिक्षं दारुणं महाघोरम्।
यत्र विदार्योदरं भक्षितः रंकैः कूर इति ॥ १४२ ॥

अर्थ—जब वे आचार्य शांति चन्द्र अपने संघ सहित वल्भी नगर में पहुंचे तब वहां भी महा घोर और महा भयानक महा दु खदायी दुर्भिक्ष पडा तथा ऐसा दुर्भिक्ष पडा कि क्रूर निर्धन भिक्षुक आदि दूसरों के पेट को विदीर्ण कर उसमें का खाया हुआ अन्न खा जाते थे।

तं लहिऊण णिमित्तं गहियं सव्वेहि कंवली दंडं।
दुद्धियपत्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ १४३ ॥
तल्लब्ध्वा निमित्तं गृहीतं सर्वैः कंबलं दण्डम्।
दुग्धिकपात्रं च तथा प्रावरणं श्वेतवस्त्रं च ॥ १४३ ॥

अर्थ—इसी निमित्त को लेकर उन आचार्य शांति चन्द्र के समस्त संघने कंबल दंड कुंडी और ओढने के लिये सफेद वस्त्र धारण कर लिया।

चत्तं रिसि-आयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए।
उवविसिय जाइऊणं भुत्त वसहीसु इच्छाए ॥ १४४ ॥

त्यक्तं ऋष्याचरणं गृहीता भिक्षा च दीनवृत्या ।
उपविश्य याचयित्वा भुक्तं वसतिष्विच्छया ॥ १४४ ॥

अर्थ—इस प्रकार उन आचार्य शान्ति चन्द्रके संघने मुनियों के आचरण सब छोड दिये और वे दीनवृत्तिसे घर घर भिक्षा मांगकर अपनी अपनी वसतिका में लाने लगे तथा अपनी वसतिका में बैठकर इच्छानुसार भोजन करने लगे ।

एवं वट्टंताणं कित्तिय कालम्मि चावि परियलिए ।
संजायं सुब्भिक्खं जंपइ ता संति आइरिओ ॥१४५॥
एवं वर्तमानानां कियत्काले चापि परिचलिते ।
संजातं सुभिक्षं जल्पति तान् शान्त्याचार्यः ॥१४५॥

अर्थ—इस प्रकार उन शान्तिचन्द्र आचार्यके संघने अपना कितना ही समय व्यतीत किया । कुछ समय के अनन्तर वहां पर भी सुभिक्ष होगया । तब आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने संघसे कहा ।

आवाहिऊण संघं भणियं छंडेय कुत्थियायरणं ।
णिंदिय गरहिय गिण्हइ पुणरवि चरियं मुणिंदाणं ॥१४६॥
आहूय संघं भणितं त्यजत कुत्सिताचरणम् ।
निन्दत गर्हत गृह्णत पुनरपि चारित्रं मुनीन्द्राणाम् ॥१४६॥

अर्थ—आचार्य शान्तिचन्द्रने अपने समस्त संघ को बुलाकर उनसे कहा कि अब इस देशमें भी सुभिक्ष होगया है । इसलिये

अब इन कुत्सित आचरणों को छोडो। अब तक जो ये कुत्सित आचरण किये हैं उनकी निन्दा करो और फरसे मुनि दीक्षा लेकर मुनियों के शास्त्रोक्त आचरण पालन करो।

तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण ।
को सक्कइ धारेउं एयं अइदुद्धरायरणम् ॥ १४७ ॥
तद्वचनं श्रुत्वा उक्तं शिष्येन तत्र प्रथमेन ।
कः शक्नोति धर्तुं एतदतिदुर्धराचरणम् ॥ १४७ ॥

अर्थ—आचार्य शान्तिचन्द्र के इन वचनों को सुनकर उनके मुख्य शिष्य जिनचन्द्रने कहा कि अब ऐसे इन अत्यन्त कठिन दुर्धर आचरणों को कौन धारण कर सकता है।

भावार्थ—अब इन दुर्धर आचरणों का पालन करना अत्यन्त कठिन है। इसलिये अब इन आचरणों को कोई नहीं पाल सकता।

उववासो य अलाभे अण्णे दुसहाइं अन्तरायाइं ।
एयट्ठाणमचेलं अज्जायण बंभचेरं च ॥ १४८ ॥
उपवासं चालाभे अन्यानि दुःसहानि अन्तरायाणि ।
एकस्थानमचेलं अयाचनं ब्रह्मचर्यं च ॥ १४८ ॥
भूमीसयनं लोचो वे वे मासेहिं असहणिज्जो हु ।
वावीस परीसहाइं असहणिज्जाइं णिच्चंपि ॥ १४९ ॥

भूमिशयनं लोचो द्विद्विमासेन असहनीयो हि ।
द्वाविंशतिपरीषहा असहनीया नित्यमपि ॥ १४९ ॥

अर्थ--यदि चर्या में किसी दिन आहार न मिला तो उस दिन उपवास करना पड़ेगा, इसके सिवाय चर्या के अनेक कठिन कठिन अंतराय हैं। बिना मांगे किसी भी एक ही स्थान पर आहार लेना पड़ेगा। नग्न व्रत धारण करना पडेगा, ब्रह्मचर्य पालन करना पडेगा, भूमिपर शयन करना पड़ेगा, दो दो महीने वाद केशों का लोंच करना पडेगा, यह केशों का लोच अत्यंत असह्य होता है और अत्यंत असह्य ऐसी बाईस परीषह सहन करनी पड़ेगी।

जं पुण संपइ गहियं एयं अम्हेहि किंपि आयरणं ।
इह लोए सुक्खयरं ण छंडिमो हु दुस्समे काले ॥ १५० ॥
यत्पुनः सम्प्रति गृहीतं एतत् अस्माभिः किमप्याचरणम् ।
इह लोके सुखकरं न त्यजामो हि दुःषमे काले ॥१५०॥

अर्थ—उन जिन चंद्र शिष्यने इतना कहकर फिर उन आचार्य शांति चन्द्र से कहा कि हम लोगों ने इस समय जो कुछ आचरण ग्रहण कर रक्खा है इस लोक में वही सुखकर है। इसलिये हम अब इस दुःषम काल में इन धारण किये हुए आचरणों को छोड़ नहीं सकते।

ता संतिणा पउत्तं चरियपभट्ठेहिं जीवियं लोए ।।।
एयं ण हु सुंदरियं दूसणयं जैणमग्गस्स ॥ १५१ ॥

तावत् शान्तिना प्रोक्तं चारित्रभ्रष्टानां जीवितं लोके।
एतन्नहि सुन्दरं दूषणकं जैनमार्गस्य ॥ १५१ ॥

अर्थ—अपने मुख्य शिष्य जिन चन्द्र की बात सुन कर आचार्य शांतिचन्द्र ने फिर भी कहा कि जो लोग अपने चारित्र से भ्रष्ट हो जाते है, इस लोक में उनका जीवित रहना निंदनीय है, सुंदर वा शोभायुक्त नहीं है। ऐसा आचरण जैन मार्ग को दूषित करने वाला है, निंदनीय है।

णिग्गंत्थं पव्वयणं जिणवरणाहेण अक्खियं परमं।
तं छंडिऊण अण्णं पवत्तमाणेण मिच्छत्तं ॥ १५२ ॥
निर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनवरनाथेन कथितं परमम्।
तत् त्यक्त्वा अन्यत्प्रवर्तमानेन मिथ्यात्वम् ॥ १५२ ॥

अर्थ—आचार्य शांति चन्द्र ने उस प्रथम शिष्य जिन चन्द्र से कहा कि भगवान जिनेन्द्र देव ने मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट मार्ग निर्ग्रंथ मार्ग ही बतलाया है। ऐसे इस निर्ग्रंथ मार्ग को छोड़कर जो अन्य किसी भी मार्ग की प्रवृत्ति करता है तो उसका वह मिथ्यात्व कहलाता है।

ता रुसिऊण पहओ सीसे सीसेण दीहदंडेण।
थविरो घाएण मुओ जाओ सो वितरो देवो ॥१५३॥
तावत् रुषित्वा प्रहतः शिरसि शिष्येण दीर्घदण्डेन।
स्थविरो घातेन मृतो जातः स व्यन्तरो देवः ॥ १५३ ॥

अर्थ—आचार्य शान्तिचन्द्रकी यह बात सुनकर उनका मुख्य शिष्य जिनचन्द्र बहुत ही क्रोधित हुआ और क्रोधित होकर उसने आचार्य शान्तिचन्द्रके मस्तक पर एक दीर्घ दण्ड मारा। उस दीर्घ दण्डके घातसे वे आचार्य शान्तिचन्द्र मर गये और मरकर व्यन्तर देव हुए।

इयरो संघाइवई पयडिय पासंड सेवडो जाओ।
अक्खइ लोए धम्मं सग्गंथे अत्थि णिव्वाणं ॥१५४॥
इतरः संघातिपतिः प्रकट्य पाखण्डः श्वेतपटो जातः।
कथयति लोके धर्मं सग्रन्थेऽस्ति निर्वाणम् ॥ १५४ ॥

अर्थ—तदन्तर उस जिनचन्द्र ने अपने को संघ्यधिपति घोषित किया अर्थात वह स्वयं संघाधिपति बन गया और उसने यह श्वेताम्बरों का मत चलाया उसने लोगोंसे कहा कि परिग्रह सहित होने पर भी मोक्षमार्गरूप धर्म की सिद्धि होती है तथा परिग्रह सहित होने पर भी मोक्षको प्राप्ति हो जाती है।

सत्थाइं विरइयाइं णियणियपासंडगहियसरिसाइं।
वक्खाणि ऊण लोए पवित्तिओ तारिसायरणो ॥१५५॥
शास्त्राणि विरचितानि निजनिजपाखण्डगृहीतसदृशानि।
व्याख्याय लोके प्रवर्तितं तादृशाचरणम् ॥ १५५ ॥

अर्थ—तदनन्तर उस जिनचन्द्रने अपने अपने जो पाखंड ग्रहण करलिये थे तथा जिन जिन आचरणों को उसने धारण कर लिया था उन्हीं के समान आचरणों को कहने वाले शास्त्रों को

रचना कर ली। तथा वैसे ही आचरण पालन करने का वह उपदेश देता था।

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पण पसंसित्ता।
जीवेइ मूढलोए कयमायं गहिह बहुदव्वं ॥ १५६ ॥

निर्ग्रन्थं दूषयित्वा निंदित्वा आत्मानं प्रशस्य।
जीवति मूढलोके कृतमायं गृहीत्वा बहु द्रव्यम् ॥१५६॥

अर्थ—इस प्रकार उनने निर्ग्रन्थ लिङ्ग को दूषित किया उसकी निन्दा की और अपनी प्रशंसा की। इस प्रकार बहुतसे द्रव्यों को ग्रहण करते हुए जीवित रहते हैं।

इयरावितर देवो संती लग्गो उपद्दवं काउं।
जप्पइ मा मिच्छत्तं गच्छह लहिऊण जिणधम्मं ॥१५७॥

इतरो व्यन्तरदेवः शान्तिः लग्नः उपद्रवं कर्तुम्।
जल्पति मा मिथ्यात्वं गच्छत लब्ध्वा जिनधर्मम् ।१५७।

अर्थ—इधर आचार्य शांतिचन्द्रका जीव जो व्यतर देव हुआ था वह अनेक प्रकारके उपद्रव करने लगा और कहने लगा कि तुम लोग जिन धर्मको धारण करके मिथ्यात्व को ग्रहण मत करो।

भावार्थ—तुम लोग इस मिथ्यात्व को छोडकर फिरसे जैन धर्म धारण करो। इस प्रकार वह व्यन्तर देव कहने लगा।

भीएहिं तस्स पूआ अट्ठविहा सयलदव्वसंपुण्णा।
जा जिणचन्दे रइया सा अज्जवि दिण्णिया तस्स।१५८।

भीतेन तस्य पूजा अष्टविधा सकल द्रव्यसम्पूर्णा ।
या जिनचन्द्रेण रचिता सा अद्यापि दीयते तस्मै ॥१५८॥

अर्थ—व्यन्तरदेवकी यह बात सुनकर और उसके किये हुए उपद्रवों को देखकर जिनचन्द्रने समस्त आठों द्रव्यों से उसकी पूजा की। वह पूजा इन श्वेतांबरों में आज तक की जाती है।

अज्जवि सा वलिपूआ पढमयरं दिंति तस्स णामेण ।
सो कुलदेवो उत्तो सेवउसंघस्स पूज्जो सो ॥ १५६ ॥

अण्णं च एव माई आयम दुट्ठाइं मिच्छ सत्थाइं ।
विरइत्ता अप्पाणं परिणवियं पढमए णरये ॥

इस प्रकार उस जिनचन्द्रने आगम में दुष्ट वा निंद्य कहलाने वाले मिथ्यात्वकी रचना की और उस दुष्टताके कारण वह मरकर पहले नरक गया।

रूपेण येन शिवमंगिगणः प्रयाति,
तद्रूपमेव मनुजैः परिपूज्यतेऽत्र ।
सिद्धिर्यदि प्रभवतीह नितम्बिनीनां,
तद्रूपिणः कथममी न जिना भवन्ति ॥

अर्थ—वे मनुष्य जिस रूपसे मोक्ष जाते हैं उसके उसी रूपको अन्य मनुष्य पूजा करते हैं। यदि मोक्षकी प्राप्ति स्त्रियों को होती है तो फिर उस रूपमें (स्त्रीरूपमें) जिनेन्द्र देव क्यों नहीं होते अथवा स्त्री को पर्यायस्वरूप कुच योनि विशिष्ट प्रतिमा क्यों नहीं होती। इससे सिद्ध है स्त्रियों को मोक्षकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

अद्यापि सा वलिपूजा प्रथमतरं दीयते तस्य नाम्ना ।
स कुलदेव उक्तः श्वेतपटसंघस्य पूज्यः सः ॥ १५६ ॥

अर्थ—जिनचन्द्रने जिस प्रकार उस व्यन्तरदेव की पूजा की थी उसी प्रकार सबसे पहले आज तक उसीके नामसे पूजा की जाती है। श्वेताम्बर संघ आज तक उसको कुलदेवता मानकर उसको पूजा करता है।

भावार्थ—आठ अगुल लम्बा चोडा चौकोर काठ का टुकडा बनाकर उसको शान्तिचन्द्र मानते हैं और उसीके नामसे उसकी पूजा करते हैं।

इय उप्पत्ती कहिया सेवउयाणं च मग्गभट्ठाणं ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं णिसुय अण्णाणमिच्छत्तं ॥१६०॥
एषा उत्पत्तिः कथिता श्वेतपटानां च मार्गभ्रष्टानाम् ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये निः शृणुत अज्ञानमिथ्यात्वम् ॥१६०॥

अर्थ—इस प्रकार निर्ग्रन्थ मार्गसे च्युत श्वेतपट लोगों की उत्पत्ति बतलाई।

अब इसके आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं उसे सुनो।

णग्गो हरु अरहंतो रत्तो बुद्धो पियंवरो कण्हो ।
कच्छोटियाए बंभो का देवो कंवलावरणो ॥

भगवान अरहंत देव नग्न हैं, रक्तांवर वौद्ध है, पीतांवर कृष्ण हैं कच्छ पहने हुए वेदांती हैं परंतु ये कंवल ओढने वाले कौन से देव हैं सो आजतक किसी के समझ नहीं आया है भावार्थ ये कंवल वाले देव किसी गिनती में नहीं हैं।

इस प्रकार संशय मिथ्यात्व का स्वरूप निरूपण किया तथा उसका निराकरण किया

अब आगे अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं।

मसय पूरण रिसिणा उप्पणो पासणाह तित्थम्मि ।
सिरि वीर समवसरणे अगहिय भुणिणा णियत्तेण ।१६१।
मस्करिपूरणऋषिरुत्पन्नः पार्श्वनाथतीर्थे ।
श्री वीरसमवसरणे अगृहीतध्वनिना निर्वृत्तेन ॥१६१॥

अर्थ—भगवान पार्श्वनाथ के समय में मस्करीपूरण नाम के एक मुनि थे। वे भगवान महावीर स्वामी के समव सरण में आये थे परंतु गणधर के न होने से दिव्य ध्वनि हो नहीं रही थी। जब इन्द्र गौतम को ले आया था तथा आते ही गौतम ने दीक्षा धारण कर ली तथा उसे अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान होगया था उसी समय गणधर के सद्भाव होने से भगवान की दिव्य ध्वनि खिरने लगी थी। यह सब देखकर वह मस्करी पूरण मुनि बाहर निकल आया था। मस्करी पूरण ने भगवान की दिव्य ध्वनि सुनी नहीं थी। वह पहले ही समव सरण से बाहर निकल आया था।

वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसंगधारिस्स ।
णिग्गइ भुणी ण अरुहो णिग्गया सा ससी सस्स ।१६२।
वहिर्निगतेन उक्तं मह्यं एकादशांग धारिणे ।
निर्गच्छति ध्वनिं न अर्हन् विनिर्गतः स स्वशिष्याय ।१६२।

अर्थ—समवशरण के बाहर आकर उस मस्करी पूरण ने लोगों से कहा कि देखो मैं ग्यारह अंगों का पाठी था, मैं समवशरण में बैठारहा तथापि भगवान महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि प्रगट नहीं हुई। जब उनके शिष्य गौतम आगये तब वह दिव्य ध्वनि प्रगट होने लगी।

ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खा य गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १६३ ॥
न जानाति जिनकथितश्रुतं सम्प्रति दीक्षां च गृहीतवान् गौतमः।
विप्रो वेदाभ्यासी तस्मान्मोक्षो न ज्ञानतः ॥ १६३ ॥

अर्थ—यह गौतम ऋषि भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को नहीं जानता। वह तो वेद शास्त्रों का अभ्यास करने वाला है। उसने आकर दीक्षा लेली थी। इसीलिये भगवान की वाणी खिरने लगी थी। इससे सिद्ध होता है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से नहीं होती अज्ञान से ही होती है। यदि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती तो ग्यारह अग के जानकर ऐसे मेरे होते हुए दिव्यध्वनि अवश्य प्रगट होनी चाहिये थी। मेरे होते हुए दिव्यध्वनि प्रगट नहीं हुई। इससे जान पडता है कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञान से होती है ज्ञान से नहीं।

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १६४ ॥
अज्ञानतो मोक्ष एवं लोकान् प्रकटमानो हि।
देवो नास्ति कश्चिच्छून्यं ध्यायत इच्छया ॥ १६४ ॥

अर्थ—वह मस्करी पूरण समवशरण के बाहर आकर कहने लगा कि मोक्ष की प्राप्ति अज्ञानता से होती है ज्ञान से नहीं होती। इस संसार में देव कोई नहीं है। प्रत्येक जीवको अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ही ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार मस्करी पूरण ने प्रकट कर अज्ञान मिथ्यात्व को प्रगट किया।

आगे ऊपर लिखे पांचों मिथ्यात्वों का त्याग करने के लिये कहते हैं।

एवं पंचपयारं मिच्छत्तं सुग्गइणिवारणयं।
दुक्खसहस्सावासं परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १६५ ॥
एवं पंचप्रकारं मिथ्यात्वं सुगतिनिवारणकम्।
दुःखसहस्रावासं परिहर्तव्यं प्रयत्नेन ॥ १६५ ॥

अर्थ—इस प्रकार विपरीत मिथ्यात्व, एकांत मिथ्यात्व, वैनयिक मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व ये पांचों मिथ्यात्वशुभ गति के निवारण करने वाले तथा हजारों प्रकार के दुःख देने वाले हैं। इसलिये भव्य जीवों को प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये।

आगे मिथ्यात्व से होने वाली हानियां दिखलाते हैं।

मिच्छत्तेणाच्छण्णो अणाइ कालं चउग्गईभुवणे।
भमिओ दुक्खक्कंतो जीवो देहइ गिण्हंतो ॥ १६६ ॥
मिथ्यात्वेनाच्छन्नोऽनादिकालं चतुर्गतिभुवने।
भ्रमितो दुःखाक्रान्तो जीवो देहान् गृह्णन् ॥ १६६ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व से आक्रांत हुआ यह जीव अनादि काल से चारों गतियों में अनेक प्रकार के शरीर धारण करता हुआ और अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता हुआ इस संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

एइंदियाइपहुइ जावय पंचक्खविविहजोणीसु।
भमिहइ भविस्सयाले पुणरवि मिच्छत्तपच्छइओ ॥१६७॥
एकेन्द्रियप्रभृतिषु यावत्पंचाक्षविविधयोनिषु।
भ्रमिष्यति भविष्यत्काले पुनरपि मिथ्यात्वप्रच्छादितः।१६७

अर्थ—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेंद्रियतक चौरासी लाख योनियां हैं। उन सब में यह जीव मिथ्यात्व के कारण ही परिभ्रमण करता रहता है। अनादि काल से आज तक परिभ्रमण करता रहा है और फिर भी मिथ्यात्व का सेवन करता है इसलिये भविष्य काल में अनंत काल तक परिभ्रमण करता ही रहेगा।

अत्तरउद्दारूढो विसमे काऊण विविहपावाइं।
अवियाणंतो धम्मं उप्पज्जइ तिरियणरएसु ॥ १६८
आर्तरौद्रारूढो विषमानि कृत्वा विविधपापानि।
अज्ञानतः धर्मं उत्पद्यते तिर्यग्-नरकेषु ॥ १६८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्म के उदय होने से ये जीव सदाकाल आर्तध्यान और रौद्रध्यान करते रहते हैं और इस प्रकार अनेक प्रकार के महा भयानक पाप उपार्जन करते रहते हैं। ऐसे लोग धर्म का स्वरूप समझते नहीं और इसीलिये वे जीव मरकर नरक

गति वा तिर्यंच गति में जाकर जन्म लेते हैं।

अहवा जह कहव पुणो पावइ मणुयत्तणं च संसारे।
जु असमिला संजोए लहइण देसोकुलं आऊ ॥ १६६ ॥
अथवा यथाकथमपि पुनः प्राप्नोति मनुष्यत्वं च संसारे।
·········संयोगे लभते न देशं कुलं आयुः ॥ १६६ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार इस संसार मे परिभ्रमण करते हुए मनुष्य योनि भी प्राप्त हो जाता है तो अशुभ कर्मो के उदय होने से श्रेष्ठ देश, श्रेष्ठ कुल और उत्तम आयु प्राप्त नहीं होती।

पउरं आरोयत्तं इंदियपुण्णत्तणं जोव्वणियं।
सुंदररूवं लच्छी अच्छइ दुक्खेण तप्पंतो ॥ १७० ॥
प्रचुरमारोग्यत्वं इन्द्रियपूर्णत्वं च यौवनम्।
सुन्दररूपं लक्ष्मी अर्थयते दुःखेन तप्यमानः ॥ १७० ॥

अर्थ—इस प्रकार क्षुद्र मनुष्य होकर भी वह अनेक प्रकार के दुखों से दुःखी होता हुआ अपनी अधिक आरोग्यता की प्रार्थना करता रहता है, इन्द्रियों का पूर्णता की प्रार्थना करता रहता है, यौवन को प्रार्थना करता रहता है और सुंदर रूप और लक्ष्मी कीप्रार्थना करता रहता है।

जइ कह वि हु एयाइं पावइ सव्वाइं तो ण पावेई।
धम्मं जिणेण कहियं कुच्छियगुरुमग्गलग्गाओ ॥१७१॥
यदि कथमपि हि एतानि प्राप्नोति सर्वाणि तर्हि न प्राप्नोति।
धर्मं जिनेन कथितं कुत्सितगुरुमार्गलग्नः ॥ १७१ ॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार वह जीव उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम आयु, आरोग्य शरीर इन्द्रियों की पूर्णता, यौवन और सुंदर रूप भी प्राप्त कर लेता है तो भी कुत्सित वा मिथ्यादृष्टियों के मार्ग में लगा हुआ वह जीव भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता है।

भावार्थ—इस संसार में रूप यौवन धन लक्ष्मी आदि समस्त पदार्थों की प्राप्ति होना सुलभ है परंतु यथार्थ धर्म की प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इसलिये यदि शुभ कर्मों के उदय से भगवान जिनेन्द्रदेव का कहा हुआ धर्म प्राप्त हो जाय तो उसके पालन करने में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। मन वचन काय से उसका पालन करना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मिथ्यात्व का स्वरूप कहा तथा उसका निराकरण किया।

अब आगे चार्वाक मत का निराकरण करते हैं।

कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स तं पावं।
पुण्णं वा कस्स भवे को गच्छइ णरय सग्गं वा ॥१७२॥
कौलाचार्यः कथयति अस्ति न जीवो हि कस्य तत्पापम्।
पुण्यं वा कस्य भवेत् को गच्छति नरकं स्वर्गं वा ॥१७२॥

अर्थ—कौलाचार्य कहते हैं कि इस संसार में जीव ही कोई नहीं है। जब जीव कोई है ही नहीं तो फिर किसको पाप लगता है, किसको पुण्य लगता है कौन नरक जाता है और कौन स्वर्ग में जाता है।

भावार्थ—जीव कोई है ही नहीं, फिर न किसी को पुण्य लगता है न पाप लगता है, न कोई नरक जाता है और न कोई स्वर्ग में आता है ।

आगे फिर भी चार्वाक कहते हैं ।

जइगुडधादइ जोए पिठरे जाएइ मज्जिरा सत्ती ।
तह पंच भूय जोए चेयणसत्ती समुब्भवई ॥ १७३ ॥
यथा गुडधातकीयोगे पिठरे जायते मदिरा शक्तिः ।
तथा पंचभूतयोगे चेतनाशक्तिः समुद्भवति ।१७३॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी थाली वा पात्र में गुड और धाय के फूल मिलाकर रखदेने से उसमें मद्य की शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार पृथ्वी जल तेज वायु आदि पंच भूत मिलजाने से चैतन्य शक्ति उत्पन्न हो जाती है ।

गब्भाई मरणंतं जीवो अत्थित्ति तं पुणो मरणं ।
पंचभूयाण णासे पच्छा जीवत्तणं णत्थि ॥ १७४ ॥
गर्भादिमरणान्तं जीवोऽस्तीति तस्य पुनः मरणम् ।
पंचभूतानां नाशे पश्चाज्जीवत्वं नास्ति ॥ १७४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पंच भूतों से मिलकर चैतन्य शक्ति उत्पन्न होने के कारण गर्भ से मरण तक जीवकी सत्ता रहती है । तदनंतर जब वह जीव मर जाता है तब पच भूतों का भी नाश हो

हो जाता है इसलिये फिर जीव की सत्ता सर्वथा नष्ट हो जाती है। फिर जीव नहीं रहता। लिखा भी है—

देहात्मिका देहकार्या देहस्य च गुणो मतिः।
मतत्रयमिहाश्रित्य जीवाभावो विधीयते ॥

अर्थात्—शरीर का स्वरूप, शरीर के क.र्य और शरीर के गुण इन तीनों का आश्रय लेकर जीव का अभाव निरूपण किया जाता है।

भावार्थ—शरीर पंच भूत है, शरीर के कार्य सब पंच भूत रूप हैं और शरीर के गुण सब पंच भूत रूप हैं। इसलिये यह चैतन्य शक्ति भी पंच भूत रूप है। वास्तव में चैतन्य शक्ति वा जीव पदार्थ कोई अलग नहीं है। इस प्रकार जीवका अभाव सिद्ध होता है। ऐसा चार्वाक कहता है।

इस सम्बन्ध में और कहा जाता है—

तम्हा इंदिय सुक्खं भुंजिज्जइ अप्पणाइं इच्छाए।
खज्जइ पिज्जइ मज्जं मंसं सेविज्ज परमहिला ॥१७५॥
तस्मादिन्द्रियसौख्यं भुज्यतां आत्मनः इच्छया।
खाद्यतां पीयतां मद्यं मांसं सेव्यंतां परमहिलाः ॥ १७५॥

अर्थ—जब इस ससार में जीव कोई पदार्थ है ही नहीं और इसीलिये स्वर्ग नरक भी नहीं है तो फिर अपनी इच्छानुसार खूब इंद्रियों के सुखों को भोगो, खूब मांस खाओ, खूब मद्य पीओ

और खूब पर स्त्रियों का सेवन करो। ऐसा करने मे कोई किसी को पाप नहीं लगता। क्योंकि जीव ही कोई पदार्थ नहीं है।

जो इंदियाइं दंडइ विसया परिहरइ खवइ णियदेहं।
सो अप्पाणं बंचइ गहिओ भूएहिं दुव्वुद्धी॥ १७६॥

यः इन्द्रियाणि दण्डयति विषयान्परिहरति क्षपयति निजदेहम्
स आत्मानं वंचयति गृहीतो भूतैः दुर्बुद्धिः॥ १७६॥

अर्थ—जीवका अभाव सिद्ध कर वह चार्वाक फिर कहता है कि जो पुरुष अपनी इन्द्रियों का निग्रह करता है, इन्द्रियों के विषयो के सेवन का त्याग करता है और अपने शरीर को व्यर्थ कृश करता है वह दुर्बुद्धि मूर्ख पुरुष अपने आत्मा को ठगता है। समझना चाहिये कि ऐसा पुरुष अनेक भूतों द्वारा घेर रक्खा है इसीलिये वह सुखों का अनुभव नहीं करत। लिखा भी है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य कायस्य पुनरागमनं कुतः॥

अर्थात्—जबतक जीओ तबतक सुख पूर्वक जीओ। ऋण करके भी प्रतिदिन घी दूध पीओ। क्योंकि मरने पर यह पंच भूत से वना हुआ शरीर भस्म हो जाता है। जीव कोई पदार्थ है नहीं, फिर भला आवागमन कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं। विना आवागमन के नरकादिक की प्राप्ति भी कभी नहीं हो सकती। ऐसा चार्वाक मानता है। परंतु उसका यह कहना सर्वथा मिथ्या है।

पंच भूत अचतेन हैं वे जीव के उपादान कारण नहीं हो सकते। गोबर में बीछू उत्पन्न हो जाते हैं परंतु गोबर उन जावों का उपादान कारण नहीं है, शरीर का उपादान कारण है। इसके सिवाय मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ ऐसा स्वसंवेदन समस्त जीवों को होता है। इससे भी जीव की सिद्धि अवश्य होती है। देखो इस शरीर में जबतक जीव रहता है तबतक ही शरीर की वृद्धि होती रहती है। जीव के निकल जाने पर फिर शरीर कभी नहीं बढता है। इससे भी जीव की सिद्धि माननी पडती है। इस शरीर में जब तक जीव रहता है तबतक ही वह गमनागमन करता रहता है, जीव के निकल जानेपर उसका गमनागमन श्वास उच्छ्वास आदि सब बंद हो जाता है। अमुक जीव मरकर व्यंतर हुआ, भाई हुआ, पिता हुआ आदि बातें असत्य नहीं है क्योंकि किसी जीवके जाति स्मरण भी होता है उस जाति स्मरण से पहले जन्मकी भी बहुत सी बातें मालूम हो जाती हैं। इसके सिवाय सब जीवों का आकार रूप आदि भिन्न भिन्न है। इससे भी जीवकी सिद्धि अवश्य माननी पडती है। इसलिये जीव नहीं है ऐसा जो लोग कहते हैं वह भी मिथ्यात्व है। भव्य जीवों को उचित है कि उनको अपने सम्यग्दर्शन के बल से ऐसे मिथ्यात्व का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

इस प्रकार अज्ञान मत का निरूपण कर निराकरण किया।

अब आगे सांख्य मत को कह कर उसका निराकरण करते हैं।

संखो पुणु भणइ इयं जीवो अत्थित्ति किरियपरिहीणो ।
देहम्मि णिवसमाणो ण लिप्पए पुण्णपावेहिं ॥ १७७ ॥
सांख्यः पुनः भणति एवं जीवोऽस्तीति क्रियापरिहीनः ।
देहे निवसमानो न लिप्यते पुण्यपापैः ॥ १७७ ॥

अर्थ—सांख्यमत वाला कहता है कि जीव तो है परंतु वह क्रिया रहित है इसलिये वह शरीर मे निवास करता हुआ भी पुण्य वा पापों से लिप्त नहीं होता ।

आगे फिर वह कहता है—

छिज्जइ भिज्जइ पयडी पयडी परिभमइ दीहसंसारे ।
पयडी करेइ कम्मं पयडी भुंजेइ सुह दुक्खं ॥ १७८ ॥
छिद्यते भिद्यते प्रकृतिः प्रकृतिः परिभ्रमति दीर्घसंसारे ।
प्रकृतिः करोति कर्म प्रकृति भुनक्ति सुखदुःखम् ॥ १७८ ॥

अर्थ—प्रकृति ही छिन्न भिन्न होती रहती है और प्रकृति ही इस संसार समुद्र में परिभ्रमण करती है । प्रकृति ही पुण्य पाप रूप कर्म उपार्जन करती है और प्रकृति ही सुख दुःख का अनुभव करती है ।

भावार्थ—सांख्य मत वाले प्रकृति और पुरुष दो पदार्थ मानते हैं । पुरुष जीव को कहते हैं और प्रकृति उससे भिन्न मानते हैं । पुरुष को वा जीव को वे लोग कर्त्ता भोक्ता नहीं मानते यही बात आगे दिखलाते हैं ।

जीवो सया अकत्ता भुत्ता ण हु होइ पुण्ण पावस्स ।
इय पयडिऊण लोए गहिया वहिणी सधूया वि ॥१७६॥
जीवः सदा अकर्ता भोक्ता नहि भवति पुण्यपापयोः ।
इति प्रटय लोके गृहीता भगिनी स्वसुतापि ॥ १७६ ॥

अर्थ—यह जीव वा पुरुष सदा काल अकर्ता रहता है न वह पुण्य करता है और न पाप करता है। इसी मान्यतानुसार पाप के फल का भोक्ता भी नहीं है। इस प्रकार प्रगट करता हुआ तो अपनी वहिन और बेटी को भी ग्रहण कर लेता है।

आगे आचार्य सांख्य मान्यता के प्रति कहते हैं।

एए विसयासत्ता कग्गुम्मुत्ता य जीवदयरहिया ।
परतियधणहरणरया अगहिय धम्मा दुरायारा ॥१८०॥
एते विषयासक्ताः कङ्गुमत्ताश्च जीवदयारहिताः ।
परस्त्रीधनहरणरता अगृहीतधर्मा दुराचाराः ॥ १८० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ऐसे लोग सदा काल विषयों में आसक्त रहते हैं, काम सेवन के लिये उन्मत्त रहते हैं, जीवों का दया पालन नहीं करते, परस्त्री और पर धन हरण करने में सदा लगे रहते हैं, अत्यंत दुराचारी हैं और यथार्थ धर्म का स्वरूप कभी स्वीकार नहीं करते।

ण मुणंति सयं धम्मं अनुणिय तच्चत्थयार पब्भट्ठा ।
पउरकसाया माई कह अण्णेसिं फुडं विंति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति स्वयं धर्मं अज्ञाततत्त्वार्थाचार प्रभ्रष्टाः ।
प्रचुरकषाया मायाविनः कथं अन्यान् स्फुटं ब्रुवन्ति ।१८१

अर्थ–आचार्य कहते हैं जो सांख्य लोग स्वयं धर्म का स्वरूप नहीं जानते न तत्त्वों का अर्थ वा स्वरूप समझते हैं वे स्वयं सदाचार से भ्रष्ट होते हैं क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों की तीव्रता को धारण करते हैं अत्यंत मायाचारी होते हैं फिर न मालूम वे दूसरों के लिये धर्म का उपदेश कैसे देते हैं ।

भावार्थ—वे दूसरों लिये भी अपने समान ही उपदेश देते हैं । वे धर्म का उपदेश कभी नही दे सकते ।

रंडा मुंडा थंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा ।
सीसे कंता कामासत्ता कामिया सवियारा ॥
मज्जं मसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं च ।
कउले धम्मे विसयेमोम्मे तं जिहो सग्गसोक्खं ॥ १८२ ॥
रण्डा मुण्डा स्थंडी शौंडी दीक्षिता धर्मदाराः ।
शिष्या कान्ता कामासक्ता कामिता सविकारा ।
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवसुखं च ।
कपिले धर्मे विषये रम्ये तेनैव भवतः स्वर्गमोक्षौ ॥१८२॥

अर्थ—जो स्त्री विधवा हो, मस्तक मुंडाये हो, चंडी वा मद्य पीने वाली हो, दीक्षित हो, किसी की धर्मपत्नी हो, शिष्या हो, कांता हो, काम सेवन की लालसा रखती हो, कामासक्त हो, अनेक

प्रकार के विकार वाली हो, उसे सबको सेवन कर लेना चाहिये, खूब मद्य पीना चाहिये, खूब मांस खाना चाहिये, सब प्रकार से मिष्ट भोजन करना चाहिये और जीव को सब प्रकार से सुख देना चाहिये, ऐसा सांख्य मत वाले कहते हैं। इस प्रकार सांख्य मत विषयों के सेवन से भरपूर मनोहर है और वे लोग उसीसे स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं।

रत्ता मत्ता कंतासत्ता दूसिया धम्ममग्गा।
दुट्ठा कट्ठाधिट्ठा भुट्ठाणिदि जो मोक्खमग्गा॥
अक्खे सुक्खे अग्गेदुक्खे णिब्भरं दिण्णचित्ता।
णेरइयाणं दुक्खट्ठाणं तस्स सिस्सा पउत्ता॥ १८३॥

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गाः।
दुष्टा कष्टा घृष्टा अनृतवादिनः निन्दितमोक्षमार्गाः।
आक्षे सुखे अग्रे दुःखे निर्भ्रान्तं दत्तचित्ताः।
नारकाणां दुःखस्थानं तस्य शिष्याः प्रोक्ताः॥ १८३॥

अर्थ—सांख्य मतवाले रक्त पी पी कर उन्मत्त हो जाते हैं, स्त्रियों मे सदा आसक्त रहते हैं, धर्म के समस्त मार्गों को दूषित करते रहते हैं, दुष्ट होते हैं, दुःखदायक होते हैं, धृष्ट होते हैं, मिथ्यावादी होते हैं, मोक्ष मार्ग की निंदा करते रहते हैं, वे लोग इन्द्रियों को सुखी बनाते रहते हैं परतु आगे के लिये वे लोग विना किसी संदेह के महा दुःख भोगने के लिये दत्त चित्त रहते हैं। तथा इसीलिये उस सांख्य मत को मानने वाले उनके समस्त

शिष्य नरक के महा दुःख के स्थानों को प्राप्त होते हैं।

आगे फिर भी कहते हैं।

मज्जे धम्मो जीव हिंसाइं धम्मो।
राई देवो दोसी देवो माया सुण्णं पि देवो ॥
रत्ता मत्ता कंतासत्ता जे गुरु तेवि य पुज्जा।
हा हा कट्ठं णट्ठो लोओ अहमहं कुणंतो ॥ १८४ ॥

मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीव हिंसायां धर्मः।
रागीदेवो दोषीदेवो माया शून्यमपि देवः ॥
रक्तमत्ताः कान्तासक्ता ये गुरव स्तेति च पूज्याः।
हाहा कष्टं नष्टो लोकः अहमहं कुर्वन् ॥ १८४ ॥

अर्थ—सांख्य लोग कहते हैं कि मद्य पीने में भी धर्म है, मांस खाने में भी धर्म है, जीवों की हिंसा करने में भी धर्म है, राग करने वाला भी देव है द्वेष करने वाला भी देव है, माया रहित भी देव है, जो गुरु रक्त मांस आदि के सेवन करने में मदोन्मत्त हैं और स्त्रियों में आसक्त हैं ऐसे गुरु भी पूज्य माने जाते हैं इस प्रकार सांख्य लोग कहते हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि यह बडे दुःख की बात है। इन सांख्य मतवालों ने महा अनर्थ करते हुए समस्त लोक को नष्ट कर दिया।

धूया मायर वहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयतिय वासनयणु पयडे वि विप्पे।

जइ रमिय कामाउरेण वेयगव्वे उप्पएणदप्पे
वं भणि छिंपिणि डोंबि नडिय बरुडि रज्जइ चम्मारि
कवले समइ समागमेइ तह भुत्ति य परणारि ॥ १८५ ॥
दुहिता मातृभगिनी अन्या अपि पुत्रार्थिनी
आयाति च व्यासवचनं प्रकटनीयं विप्रेण ।
यथारमिता कामातुरेण वेदगर्वणोत्पन्नदर्पेण ।
ब्राह्मणी डोम्बी नटी विरुटी रजकी चर्मकारी
कपिले समये समागच्छन्ती तथा भुक्ता च परनारी ॥१८५॥

अर्थ—यदि पुत्र की इच्छा करने वाली पुत्री माता बहिन आदि कोई भी आवे तो ब्राह्मणों को व्यास के वचन ही प्रगट कर दिखाने चाहिये। जिस प्रकार वेद ज्ञान से उत्पन्न हुए अभि मान से मदोन्मत्त कामासक्त ब्राह्मण ने ब्राह्मणी, भंगिन नटिनी धोबिन चमारिन कंजरिन आदि सब के साथ रमण किया था उसी प्रकार सांख्य मत में अपने पास आई हुई परस्त्री का सेवन करना चाहिये। ऐसा सांख्य मत है। इसके सिवाय सांख्य मत में यहां तक लिखा है कि—

स्वयमेवागतां नारीं यो न कामयते नरः ।
ब्रह्महत्या भवेत्तस्य पूर्वब्रह्माऽब्रवीदिदम् ॥

अर्थात् —जो स्त्री अपने पास स्वयमेव आवे और वह मनुष्य उसके साथ संभोग न करे तो उस मनुष्य को ब्रह्म हत्या का महान् महा दोष लगता है। ऐसा पूर्व ब्रह्मा ने कहा है।

आगे सांख्य का यह मत महा पाप और महा दुःखों का कारण है ऐसा दिखलाते हैं।

अण्णाण धम्मलग्गो जीवो दुक्खाण पूरिओ होइ।
चउगइ गईहिंणिवडइ संसारे भमिहि हिडंतो ॥ १८६ ॥
अज्ञानधर्मलग्नो जीवो दुःखैः पूरितो भवति।
चतुर्गतौ गतिभिः निपतति संसारे भ्रमति हिण्डन् ॥१८६॥

अर्थ—इस प्रकार सांख्य मत को मानने वाले अज्ञान धर्म में लगे हुये जीव अनेक महा दुःखों से पूरित हो जाते हैं, तथा चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए दीर्घ कालतक संसार में पड़े हुए महा दु ख भोगा करते हैं—

जइ पाहाण नरंदे लग्गो पुरिसो हु तरिणी तोये।
वुड्डइ विगयाधारो णिवडेइ महण्णवावत्ते ॥ १८७ ॥
यथा पाषाणतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तीरिणीतोये।
ब्रुडति विगताधारः निपतति महार्णवावर्ते ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पाषाण की नाव में बैठा हुआ पुरुष बिना किसी आधार के नदी के पानी में डूब जाते हैं उसी प्रकार प्रकार अज्ञान धर्म में लगे हुए जीव इस संसार रूपी महा समुद्र में पड़कर अनंत कालतक परि भ्रमण करते रहते हैं।

गुच्छियगुरुकयसेवा विविहावइपउरदुक्खआवत्ते।
तह पणिमज्जइ पुरिसो संसार महोवही भीमे ॥ १८८॥

कुत्सित गुरुकृतसेवा विविधातिप्रचुर दुःखावर्ते ।
तथा च निमज्जति पुरुषः संसार महोदधौ भीमे ॥१८८॥

अर्थ—जिस प्रकार कुत्सित वा नीचगुरु की सेवा करने से अनेक प्रकार के दुःखरूपी समुद्र में पड जाता है उसी प्रकार कुगुरु की सेवा करने से यह पुरुष भी इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में पड़कर अनंत काल के लिये डूब जाता है ।

वयभट्ट कुंठ रुद्देहिं णिट्ठुर णिकिट्ठदुट्ठचिट्ठेहिं ।
अप्पाणं णासिभो अण्णोवि य णासिओ लोओ ॥१८९॥
व्रतभ्रष्टकुण्ठरुद्रैः निष्ठुरनिकृष्टदुष्टचेष्टैः ।
आत्मानं नाशयित्वा अन्योपि च नाशितो लोकः ॥१८९॥

अर्थ—जितने कुगुरु हैं वे सब व्रतों से भ्रष्ट हैं अत्यंत क्रूर परिणामों को धारण करने वाले हैं अत्यंत निष्ठुर हैं निकृष्ट हैं, और दुष्ट चेष्टाओं को करने वालेहैं । इसलिये ऐसे कुगुरु अपने आत्मा का भी नाश करते हैं और अन्य अनेक जीवों का भी नाश करते हैं ।

इय अण्णाणी पुरिसा कुच्छियगुरुकहियमग्गसंलग्गा ।
पावंति णरय तिरयं णाणा दुहसंकडं भीमं ॥ १९० ॥
इति अज्ञानिनः पुरुषाः कुत्सितगुरुकथितमार्गसंलग्नाः ।
प्राप्नुवंति नरकं तिर्यंचं नाना दुःखसंकटं भीमम् ॥१९०॥

अर्थ—इस प्रकार जो पुरुष निकृष्ट कुगुरुओं के द्वारा कहे

हुए मिथ्या मार्ग में लगे रहते हैं वे पुरुष नरक वा तिर्यंच योनि में पड़कर अत्यंत भयानक ऐसे अनेक प्रकार के महा दुःख भोगा करते हैं।

एवं णाऊण फुडं सेविज्जइ उत्तमो गुरू कोई।
वहिरंतरगंथचुओ तिरियणवंतो सुणाणी य ॥१६१॥
एवं ज्ञात्वा स्फुटं सेव्यतां उत्तमो गुरुः कश्चित्।
वाह्याभ्यन्तरग्रंथच्युतः तरणवान् सुज्ञानी च ॥१६१॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कुगुरुओं के कहे अनुसार महा दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसा समझ कर ऐसे उत्तम गुरु की सेवा करनी चाहिये जो बाह्य आभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रहों से रहित हो। स्वयं तरने वाला और भव्य जीवों को तारने वाला हो, और सम्यग्ज्ञान को धारण करने वाला हो।

जइ जाय लिंगधारी विसयविरत्तो य णिहयसकसाओ।
पालयदिढवंभवओ सो पावइ उत्तमं सोक्खं॥ १६२ ॥
यथाजात लिंगधारी विषयविरक्तश्च निहतस्वकषायः।
पालितदृढब्रह्मव्रतः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥१६२॥

अर्थ—जो गुरु जात लिंग धारी हो अर्थात् जिस प्रकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार समस्त परिग्रहों से रहित नग्न अवस्था को धारण करने वाला हो, इन्द्रियों के समस्त विषयों से विरक्त हो, जिसने अपनी समस्त कषायें नष्ट कर दी हों और जो ब्रह्मचर्य व्रत

को पूर्ण रीति से दृढ़ता के साथ पालन करता हो, ऐसे परम गुरु की सेवा करने से ही यह जीव निराकुल सुख की प्राप्ति कर सकता है।

तै कहिय धम्म लग्गा पुरिसा डहिऊण सकयपावाइं ।
पावंति मोक्ख सोक्खं केई विलसंति सग्गेसु ॥ १६३ ॥
तेन कथितधर्मे लग्नाः पुरुषा दग्ध्वा स्वकृतपापानि ।
प्राप्नुवन्ति मोक्षसौख्यं केचिद् विलसन्ति स्वर्गेषु ॥१६३॥

अर्थ—जो पुरुष ऐसे निर्ग्रंथ परम गुरु के कहे हुए धर्म का सेवन करते हैं वे पुरुष अपने समस्त पापों को नाश कर मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त करते हैं तथा उनमें से कितने पुरुष स्वर्ग के सुख भोगते हैं।

एवं मिच्छादिट्ठि ट्ठाणं कहियं मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं विदियं पुण सासणं णामं ॥ १६४ ॥
एवं मिथ्यादृष्टिस्थानं कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये द्वितीयं पुनः सासादनं नाम ॥१६४॥

अर्थ—इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप कहा। अब आगे दूसरे सासादन नाम के गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान का स्वरूप वा मिथ्यात्व गुणस्थान में होने वाले परिणामों का स्वरूप कहा।

अब आगे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

एयदरस्स उदये अणंतबंधिस्स संपरायस्स।
समयाइ छविलित्ति य एसो कालो समुद्दिट्ठो ॥१९५॥
एकतरस्योदयेऽनन्तानुबन्धिनः साम्परायस्य।
समयादि षडावलानि च एषः कालः समुद्दिष्टः ॥१९५॥

अर्थ—किसी भव्य जीव के काल लब्धि के निमित्त से प्रथम उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। उस उपशम सम्यक्त्वका काल अंतर्मुहूर्त है। जब उस अंतर्मुहूर्त काल के समाप्त होने में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली शेष रह जाती है तब अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ में से किसी एक प्रकृति का उदय हो जाता है। उस प्रकृति के उदय होने से सम्यग्दर्शन छूट जाता है परन्तु मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम होने से मिथ्यात्व गुणस्थान नहीं होता। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति में जितना काल शेष रहा है उसके समाप्त होने पर मिथ्यात्व का उदय होता है और उस समय वह मिथ्यात्व गुणस्थान में पहुँच जाता है। सम्यग्दर्शन के छूट जाने के अनंतर से लेकर जबतक मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त होता है तब तक का इस सासादन गुण स्थान का काल है और वह कम से कम एक समय है और अधिक से अधिक छह आवली है।

एयम्मिगुणट्ठाणे कालो णत्थित्ति तित्तिओ जम्हा।
तम्हा वित्थाणे ण हि संखेओ तेण सो उत्तो ॥१९६॥

एतस्मिन् गुणस्थाने कालो नास्ति तावन्मात्रः यस्मात् ।
तस्माद्विस्तारो नहि संक्षेपेण तेन स उक्तः ॥ १६६ ॥

अर्थ—इस दूसरे सासादन गुणस्थान का कुछ समय वा काल नहीं है। ऊपर जितना बतलाया है केवल उतना ही काल है इसीलिये इस गुणस्थान का स्वरूप विस्तार से नहीं कहा है अत्यंत संक्षेप से ही उसका स्वरूप कहा है।

परिणामिय भावगयं विदियं सासायणं गुणट्ठाणं ।
सम्मत्त सिहर पडियं अपत्त मिच्छत्त भूमितलं ॥१६७॥
पारिणामिक भावगतं द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।
सम्यक्त्व शिखरपतितं अप्राप्तमिथ्यात्वभूमितलम् ॥१६७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पुरुष किसी पर्वत से गिरता है और जब तक पृथ्वीपर नहीं आजाता तबतक वह न तो पर्वतपर माना जाता है और न पृथ्वी पर किंतु मध्य में माना जाता है। इसी प्रकार जिस जीवके उपशम सम्यग्दर्शन छूट गया है और मिथ्यात्व गुण स्थान प्राप्त नहीं हुआ है तब तक उसके सासादन गुणस्थान कहलाता है। इस दूसरे गुणस्थान में पारिणामिक भाव माने जाते हैं।

भावार्थ—यद्यपि इस गुणस्थान में मिथ्यात्व प्रकृति का उपशम है और अनन्तानुबंधी की किसी एक प्रकृति का उदय है इसलिये इसमें क्षायोपशमिक भाव भी कहे जा सकते हैं तथापि इसकी मुख्यता न रखते हुए पारिणामिक भाव बतलाये हैं। यह सासादन

गुणस्थान न तो अपर्याप्तक नारकी जीवों के होता है और न समस्त लब्ध्यपर्याप्तक जीवों के होता है। सासादन गुणस्थान वाला न तो आहारक प्रकृति का बंध करता है, न आहारक मिश्र प्रकृति का बंध करता है और न तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। उसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है इसलिये वह ऊपर लिखी प्रकृतियों का बंध नहीं कर सकता। सासादन गुणस्थान वाले जीवके एक बार सम्यग्दर्शन प्रगट हो चुका है इसलिये वह भव्य अवश्य है और सम्यक्त्व के प्रगट होने से थोड़े ही काल में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। देखो सम्यग्दर्शन का माहात्म्य कैसा है जो थोड़े ही कालके लिये उत्पन्न होकर भी थोड़े ही समय में मोक्ष पहुंचा देता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि इस सम्यग्दर्शन के प्रकट होने की भावना भव्य जीवों को हर समय करते रहना चाहिये।

इस प्रकार दूसरे सासादन गुणस्थान का स्वरूप कहा।

अब आगे तीसरे मिश्र गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

सम्मामिच्छुदएण य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं।
खयउवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं ॥ १६८ ॥
सम्यक्त्व मिथ्यात्वोदयेन च संमिश्रं नाम भवति गुणस्थानम्।
क्षयोपशम भावगतं अन्तर्जाति समुद्दिष्टं ॥ १६८ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियां हैं-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। इनमें से सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति

के उदय से मिश्रगुण स्थान होता है। इसमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं। तथा वे परिणाम सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों से संम्मिलित रूप होते हैं।

भावार्थ—इस गुणस्थान में रहने वाले जीवों के भाव न तो सम्यक्त्व रूप होते हैं न मिथ्यात्व रूप होते हैं किंतु इन दोनों से मिले हुए और इस दोनों से भिन्न तीसरे ही प्रकार के परिणाम होते है।

आगे इसी बात को उदाहरण देकर बतलाते हैं।

वडवाए उप्पण्णो खेरण जइ हवइ इत्थ वेसरश्रो।
तह तं सम्मिस्स गुणं अगहिय गिह सयल संजमणं ।१९९
वडवायां उत्पन्तः खरेण यथा भवति अत्र वेसरः।
तथा च सम्मिश्रगुणः अगृहीतगृहिसकल संयमः ॥१९९॥

अर्थ—जिस प्रकार खच्चर जाति का गधा घोडी से उत्पन्न होता है परंतु गधे से होता है घोड़ा से नहीं होता। घोड़ी गधा दोनों से उत्पन्न होने वाला एक तीसरी जाति का जीव है। इसी प्रकार इस तीसरे मिश्रगुणस्थान में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों से मिले हुए एक तीसरी जाति के परिणाम होते हैं। इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाले जीव न तो गृहस्थों का एक देश संयम धारण कर सकते हैं और न सकल संयम धारण कर सकते हैं।

तत्थ ण वंधइ आउं कुणइ ण कालो हु तेण भावेण।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरइ णियमेण ॥ २०० ॥

तत्र न वध्नाति आयुः करोति न कालो हि तेन भावेन ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ।२००।

अर्थ—इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो आयु का बंध कर सकता है और न मर सकता है। तीसरे गुणस्थान के भावों से ये दोनों बातें नहीं कर सकता। वह जीव या तो सम्यग्दर्शन धारण कर मर सकता है अथवा मिथ्यात्व गुणस्थान में जाकर मर सकता है।

आगे इस गुणस्थान में कैसे परिणाम होते हैं सो दिखलाते है-

अट्टरउद्दं झायइ देवा सव्वे वि हुंति णमणीया ।
धम्मासव्वे पवरा गुणागुणं किं पि ण विणिए इ ॥ २०१ ॥
आर्तरौद्रं ध्यायति देवाः सर्वेपि भवन्ति नमनीयाः ।
धर्माः सर्वे प्रवरा गुणागुणौ किमपि न विजानाति ॥२०१॥

अर्थ—इस तीसरे गुणस्थान में रहने वाले जीवके आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है अर्थात् वह इन्हीं दोनों का चिंतवन करता रहता है। इसके सिवाय वह समझता है कि संसार में जितने देव है वे सब नमस्कार करने योग्य हैं और जितने धर्म हैं वे सब उत्तम है। इस प्रकार समझता हुआ वह जीव गुण वा अवगुण किसी को नहीं जानता, इस देव में अवगुण है इसमें गुण है इस बात को वह नहीं समझता वह सबको समान समझता है।

आगे उसके भाव और कैसे होते हैं सो दिखलाते हैं।

अत्थि जिणायमि कहियं वेए कहियं च हरिपुराणे य।
सइवागमेण कहियं तच्चं कविलेण कहियं च ॥ २०२ ॥
अस्ति जिनागमे कथितं वेदे कथितं च हरिपुराणे वा।
शैवागमेन कथितं तत्त्वं कपिलेन कथितं च ॥२०२॥
बंभो करेइ तिजयं किण्हो पालेइ उपरि छुहिऊण।
रुद्दो संहरइ पुणो पलय काऊण णिस्सेसं ॥ २०३ ॥
ब्रह्मा करोति त्रिजगत् कृष्णः पालयति उपरि स्पृष्ट्वा।
रुद्रः संहरति पुनः प्रलयं कृत्वा निः शेषम् ॥ २०३ ॥

अर्थ—वह तीसरे गुणस्थान वाला जीव जिनेन्द्रदेव ने भी कहा है, शैवों के आगम में भी कहा है और कपिल ने भी कहा है। इन सबके कहे हुए तत्त्व ठीक हैं, ऐसा समझकर वह सबको मानता है। इसके सिवाय वह समझता है कि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है, कृष्ण ऊपर से ही स्पर्शकर उन तीनों लोकोंका पालन करता है और महादेव उन समस्त तीनों लोकों का प्रलय कर सबका संहार वा नाश कर देता है। इसके सिवाय वह चंडो मुंडो महालक्ष्मी आदि सब देव देवियों की पूजा करता है, पितरों को तृप्त करने के लिये श्राद्ध करता है, अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अन्य अनेक प्रकार के ढोंग करता है। ऐसे ऐसे अनेक प्रकार के भाव इस तीसरे गुणस्थान में होते हैं।

आगे ब्रह्मा विष्णु महेश के इन कार्यों का निराकरण करते हैं।

जइ बंभो कुणइ जयं तो किं सग्गिंदरज्ज कज्जेण ।
चइऊण बंभ लोयं उग्गतवं तवइणरलोए ॥ २०४ ॥
यदि ब्रह्मा करोति जगत्तर्हि किं स्वर्गेन्द्रराज्यकार्येण ।
च्युत्वा ब्रह्मलोकं उग्रतपः तप्यते नरलोके ॥ २०४ ॥

अर्थ—यदि ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करता है तो फिर वह स्वर्ग के इन्द्र का राज्य लेने के लिये ब्रह्म लोक को छोड़कर और मनुष्य लोक में आकर घोर तपश्चरण क्यों करता है ?

भावार्थ—जब वह तीनों लोकों को उत्पन्न कर सकता है तो वह दूसरा स्वर्ग भी बना सकता है और उसका राज्य स्वयं कर सकता है तोफिर उसे स्वर्ग के राज्य के लिये तपश्चरण करने की क्या आवश्यकता थी ?

आगे और भी कहते हैं ।

जरउद्सेय अंडय सव्वे एयाइं भूयगामाइं ।
णारय णर तिरिय सुरा णिवंदिय वणिसुद्दपहुईया ॥२०५॥
जरायुजोद्भित्स्वेदाण्डजान् सर्वान् एतान् भूतग्रामान् ।
नारकनरतिर्यक् सुरान् वंदिनः वाणिक्शूद्रप्रभृतीन् ॥२०५॥
चंडाल डुंब धविरा वरुडा कल्लालछिंप्पिया चेव ।
हय गय गोमहिसि खरा वग्घ किडी सीह हरिणाइं ॥२६०॥
चाण्डालडोम्ब धीवर वरूट कलवारछिपकांश्चैव ।
हयगजगोमहिषीखरान् व्याघ्रकीटिसिंह हरिणान् ॥२०६॥

णाणा कुलाइं जाई णाणा जोणी य आउ विहवाइं ।
णाणा देह गआइं वण्णा रूवाइं विविहाइं ॥ २०७ ॥
नाना कुलानि जातीः नाना योनींश्च आयुविभवादीनि ।
नाना देहगतान् वर्णान् रूपाणि विविधानि ॥ २०७ ॥
गिरि सरि सायर दीवो गामा रामाइं धरणि आयासं ।
जो कुणइ खणद्धेणं चिंतियमित्तेण सव्वाइं ॥ २०८ ॥
गिरिसरित्सागरद्वीपान् ग्रामारामान् धरणीमाकाशम् ।
यः करोति क्षणार्धेन चिन्तितमात्रेणसर्वान् ॥ २०८ ॥
किं सो रज्जणिमित्तं तवसा तावेइ णिच्च णियदेहं ।
तिहुवण करण समत्थो किं ण कुणइ अप्पणो रज्जं ॥२०९॥
किं सः राज्यनिमित्तं तपसा तापयति नित्यं निजदेहम् ।
त्रिभुवनकरणसमर्थः किं न करोति आत्मनो राज्यम् ।

अर्थ—मनुष्य पशु के शरीर पर जो मांस की जाली आती है उसको जरायु कहते हैं, ऐसी जरायुसहित जो उत्पन्न होते हैं उनको जरायुज कहते हैं। पृथ्वीपर जो घास आदि उत्पन्न होते हैं उनको उद्भिज्ज कहते हैं, अंडों मे उत्पन्न होने वाले अंडज कहलाते हैं जो ब्रह्मा इन सब जीवों को उत्पन्न करता हैं, नारकी मनुष्य पशुपक्षी देव ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों को उत्पन्न करता है, चाडाल, डोंब, धीवर, धोबी, कलार, छीपी, हाथी, घोडा, गाय, भैंस, गधा, व्याघ्र, सूअर, सिंह, हरिण आदि समस्त जीवों को उत्पन्न करता है, अनेक कुलों को उत्पन्न करता है, अनेक जातियों

को उत्पन्न करता है, अनेक योनियों को उत्पन्न करता है, समस्त जीवों को आयु वैभव आदि उत्पन्न करता है, अनेक प्रकार के शरीरों में अनेक प्रकार के वर्ण अनेक प्रकार के रूप उत्पन्न करता है, पर्वत नदी सागर द्वीप गांव नगर बाग बगीचा पृथ्वी आकाश आदि समस्त पदार्थों को समस्त जीवों को चिंतवन करने मात्र ही आधे क्षण में ही सबको उत्पन्न कर लेता है ऐसा वह ब्रह्मा केवल स्वर्ग का राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण क्यों करता है ? व्यर्थ ही अपने शरीर को क्यों संतप्त करता है ? वह तो तीनों लोकों के उत्पन्न करने में समर्थ है फिर भला वह अपने लिये राज्य उत्पन्न क्यों नहीं करलेता है। जिस प्रकार उसने तीनों लोक उत्पन्न किया है उसी प्रकार उसको एक स्वर्ग और उत्पन्न कर लेना चाहिये और स्वयं उसका राज्य करना चाहिये। उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखने हुए भी दूसरे राज्य को छीनने के लिये तपश्चरण करना कितने आश्चर्य और विडंबना की बात है। इससे सिद्ध होता है कि यह जगत ब्रह्मा वा अन्य किसी का बनाया हुआ नहीं है किंतु स्वयं सिद्ध अनादि काल से चला आ रहा है। इसका कर्ता कोई नहीं है।

आगे और भी कहते हैं।

अच्छरतिलोत्तमाए णट्टं दट्ठूण रायरस रसिओ।
तवभट्ठो चउवयणो जाओ सो मयणवस चित्तो ॥ २१० ॥
अप्सरस्तिलोत्तमाया नृत्यं दृष्ट्वा रागरसरसिकः।
तपोभ्रष्टः चतुर्वदनः जातः स मदनवशचित्तः ॥२१०॥

अर्थ—जब वह ब्रह्मा स्वर्गका राज्य लेने के लिये घोर तपश्चरण कर रहा था तब इन्द्र को भी अपने राज्य की चिंता हुई और उसने उसका तपश्चरण भ्रष्ट करने के लिये तिलोत्तमा नाम का अप्सरा भेजी। वह तिलोत्तमा उस ब्रह्मा के सामने आकर नृत्य करने लगी। जिसका मन कामसेवन के लिये आसक्त हो रहा है और राग के रसमे रसिक हो रहा है ऐसा वह ब्रह्मा उस नृत्य को देखता देखता अपने तपश्चरण से भ्रष्ट हो गया और नृत्य देखने के लिये उसने अपने चार मुख बना लिये। भावार्थ-वह अप्सरा बहुत देर तक तो ब्रह्मा के सामने नृत्य करती रही। और ब्रह्मा उसे देखता रहा। ब्रह्मा को आसक्त देखकर वह तिलोत्तमा उसके बगल मे नृत्य करने लगी। तब उस नृत्य को देखने के लिये बगल में भी एक मुख बना लिया। जब वह तिलोत्तमा पीठ पीछे नृत्य करने लगी। तब ब्रह्माने उधर भी एक मुख बना लिया। जब वह दूसरे बगल में नृत्य करने लगी तब उधर भी चौथा मुख बना लिया। इस प्रकार ब्रह्मा ने चार मुख बनाये। परन्तु जब वह तिलोत्तमा ऊपर आकाश में नृत्य करने लगी तब ब्रह्माने ऊपर भी एक मुख बना लिया।

छंडिय णियवड्डत्तं पहुत्तणं देव त्तणं तवोचरियं।
कामाउरो अलज्जो लग्गो मग्गेण सो तिस्स ॥२११॥

त्यक्त्वा निज वृद्धत्वं प्रभुत्वं देवत्वं तपश्चर्यम्।
कामातुरः अलज्जः लग्नः मार्गेण स तस्याः ॥२११॥

अर्थ—इस प्रकार उस ब्रह्माने अपना बडप्पन छोड दिया, अपना प्रभुत्व छोड़ दिया अपना देव पना छोड दिया और अपना तपश्चरण छोड़ दिया कामासक्त होकर जिस मार्ग से व. तिलोत्तमा चलने लगी उसी मार्ग से उसके पीछे पीछे चलने लगा।

हसिओ सुरेहिं कुद्धो खरसीसो भक्खिउं पउत्तो सो।
संकरकरकुंडयसिरो विरहपलित्तो णियत्तो य ॥२१२॥
हसितः सुरैः क्रुद्धः खरशीर्षं भक्षितुं प्रवृत्तः सः।
शंकरकरखण्डितशिरः विरहोपलिप्तो निवृत्तश्च ॥२१२॥

अर्थ—ब्रह्मा की इस कामाशक्ति को देखकर देवलोग सब हंसने लगे तब ब्रह्माने क्रोधित होकर अपने गधे वाले मुख से उन देवों को भक्षण करने का उद्यम किया। यह देखकर देव लोग सब महादेव की शरण में गये तब महादेव ने अपने हाथ से उस ब्रह्मा का ऊपर का गधेका मस्तक काट डाला। इस प्रकार जब उस ब्रह्माका ऊपर का मस्तक कट गया तब वह ब्रह्मा उस तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर पीछे लौट आया।

पविसेवि णिज्जणावणं पिच्छिरिछी विरहगओ तत्थ।
सेवइ कामासत्तो तिलोत्तमा चित्ति धरिऊणं ॥२१३॥
प्रविश्य निर्जनवनं दृष्ट्वा ऋक्षीं विरहगतः तत्र।
सेवते कामासक्तः तिलोत्तमां चेतसि धृत्वा ॥ २१३ ॥

अर्थ—तदनंतर वह ब्रह्मा तिलोत्तमा के विरह से संतप्त होकर एक निर्जन वनमें चला गया। वहां पर उसने एक रीछिनी देखी। और उस रीछिनी को अपने मनमें तिलोत्तमा मानकर कामदेव के वशीभूत होकर उस रीछिनी के साथ संभोग करने लगा।

तस्सुप्पण्णो पुत्तो जंवउ णामेण लोय विक्खाओ।
रिच्छाणपई जाओ भिच्चो सो रामदेवस्स ॥२१४॥
तस्योत्पन्नः पुत्रः जम्बूः नाम्ना लोक विख्यातः।
ऋक्षाणां पतिः जातः भृत्यः स रामदेवस्य ॥ २१४ ॥

अर्थ—जब ब्रह्माने उस रीछिनी के साथ संभोग किया तब उस रीछिनी से एक पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम जंबू था। जो जंबू के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। वह जंबू समस्त रीछों का अधिपति था और रामचन्द्र का सेवक था।

जो कुणइ जयमसेसं सो किं एक्का वि तारिसी महिला।
सक्कइ ण विरइऊण सेवइ णिग्घिणो रिच्छी ॥ २१५ ॥
यः करोति जगदशेषं स किं एका मपितादृशीं महिलाम्।
शक्नोति न विरचयितुं किं सेवते निघृणा ऋक्षीम् ॥२१५॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि देखो जो ब्रह्मा समस्त जगत को उत्पन्न कर सकता है वह क्या एक तिलोत्तमा ऐसी स्त्री नहीं बना सकता था। फिर क्यों उसने अत्यंत घृणित रीछिनी का सेवन किया ?

जो तिलोत्तम जो तिलोत्तम णियवि णच्चंति.
वम्मह सरजरजरिउ चत्तणियमु चउवेयणु जायउ ।
वणि णिवसइ परिभट्ठतउ रमइ रिच्छि सुरयाण रायउ ॥
सो विरंचि कह मभवइ तयलोयउ कत्तारु ।
जो अप्पाण उतरइ फेडउ विरह वियारु ॥ २१६ ॥

यः तिलोत्तमां यः तिलोत्तमां दृष्ट्वा नृत्यन्तीम् ।
ब्रह्मा स्मर जर्जरितः त्यक्त नियमः चतुर्वदनः जातः
वने निवसति परिभ्रष्टतपाः रमते ऋर्क्षी सुगणां राजा ।
स विरंचिः कथं संभवति त्रिलोकस्य कर्ता ।
यः आत्मानंन हि तारयति स्फोटयति विरह विकारम् ॥२१६॥

अर्थ—जो ब्रह्मा नृत्य करती हुई तिलोत्तमा को देखकर कामदेव के वशीभूत होकर जर्जरित होगया था। उसने अपने सब नियम वा तपश्चरणों को त्याग कर दिया था और उस तिलोत्तमा में आसक्त होकर अपने चार मुख बना लिये थे अपने तपश्चरण से भ्रष्ट होकर तथा बनमें जाकर रीछिनी से संभोग करने लगा था वह ब्रह्मा तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाला कैसे कहा जा सकता है। जो ब्रह्मा अपने आत्मा का भी उद्धार नहीं कर सकता और इस प्रकार विरह अवस्था को प्रगट करता है यह ब्रह्मा कभी देव नहीं हो सकता।

आगे और भी दिखलाते हैं ।

णत्थि धरा आयासं पवणाणल तोय जोय ससि सूरा ।
जइ तो कत्थ ठिदेणं बंभो रइयं तिलो ओत्ति ॥२१७॥
न सन्ति धरा आकाशं पवनानल तोय ज्योतिः शशिसूर्याः ।
यदि तर्हि कुत्र स्थितेन ब्रह्मणा रचितः त्रिलोक इति ॥२१७

अर्थ—यदि ब्रह्माने इन तीनों को बनाया तो उसके पहले न पृथ्वी थी, न आकाश था, न वायु थी, न अग्नि थी, न जल था, न प्रकाश था न चन्द्रमा था न सूर्य था तो फिर यह भी तो बतलाना चाहिये कि उस ब्रह्मा ने कहां बैठकर यह तीनों लोक बनाये ।

कत्तित्तं पुण दुविहं वत्थुअ कत्तित्त तह य विक्किरियं ।
घडपड गिहाइं पढमं विक्किरियं देवया रइयं ॥२१८॥
कर्तृत्वं पुनः द्विविध वस्तुनः कर्तृत्वं तथाच वैक्रियिकम् ।
घट पट गृहादि प्रथमं वैक्रियिकं देवता रचितम् ॥ २१८ ॥

अर्थ—कर्तापन दो प्रकार है एक तो यथार्थ कर्तापन और दूसरा वैक्रियिक । घट पट घर को बनाना यथार्थ कर्तापन है और जो देवों के द्वारा बनाया जाता है वह वैक्रियिक कहलाता है ।

जइ तो वत्थुब्भूओ रइओ लोओ विरंचिणा तिविहो ।
तो तस्स कारणाइं कत्थुव लद्धाइं दव्वाइं ॥ १९ ॥

यदि स वस्तुभूतो रचितो लोको विरंचिना त्रिविधः ।
तर्हि तस्य कारणानि कुत्र लब्धानि द्रव्याणि ॥ २१९ ॥

अर्थ – यदि उस ब्रह्मा ने यथार्थ रूप से तीनों लोकों को बनाया है तो यह बताना चाहिये कि ब्रह्मा ने तीनों लोकों को बनाने के लिये कारण भूत द्रव्य कहां से प्राप्त किये । भावार्थ- जिस प्रकार घर बनाने के लिये ईंट, चूना, राज आदि कारण सामग्री की आवश्यकता होती है, तब घर बन सकता है उसी प्रकार तीनों लोक बनाने के लिये सब सामग्री कहां थी । क्योंकि बिना सामग्री के तो लोक बन ही नहीं सकता था ।

जइ विकिरिओ रइओ विज्जाथामेण तेणबंभेण ।
कह थाइ दीहकालं अवत्थुभूओ अणिच्चोत्ति ॥ २२० ॥

अथ विक्रिया रचितो विद्यास्थाम्ना तेन ब्रह्मणा ।
कथं तिष्ठति दीर्घकालं अवस्तुभूतोऽनित्य इति ॥ २२० ॥

अर्थ—यदि उस ब्रह्मा ने अपनी विद्या से वैक्रियिक रूप तीनों लोक बनाया है तो वह तीनों लोक अधिक काल तक नहीं ठहर सकता । क्योंकि जो पदार्थ विक्रिया से बने हुए होते हैं वे अवस्तु भूत होते हैं और अनित्य होते हैं इसलिये वे अधिक काल तक कभी नहीं ठहर सकते ।

तम्हा ण होइ कत्तबंभो सिरछेय विनडणं पत्तो ।
छलिओ तिलोत्तमाए सामणपुरि सुब्ब असमत्थो ॥२२१॥

तस्मान्न भवति कर्ता ब्रह्मा शिरश्छेदविनटनं प्राप्तः ।
छलितस्तिलोत्तमया सामान्य पुरुष इवा समर्थः । २२१ ।

अर्थ—इसलिये कहना चाहिये कि इस लोक का कर्ता ब्रह्मा कभी नहीं हो सकता । भला विचार करने की बात है कि जिसका मस्तक छेदा गया जिसको तिलोत्तमा ने ठग लिया ऐसा वह ब्रह्मा सामान्य पुरुष के समान तीनों लोकों के बनाने में असमर्थ है । जिस प्रकार सामान्य पुरुष बिना सामग्री आदि के कोई कार्य नहीं कर सकता ।

जो पर महिला कज्जे छंडइ वहुत्तणं तओ णियमं ।
सण हवइ परमप्पा कह देवो हवइ पुज्जो य ॥ २२२ ॥
यः पर महिला कार्येणायजति बृहत्त्वं तपो नियमम् ।
स न भवति परमात्मा कथं देवो भवति पूज्यश्च ॥ २२२ ॥

अर्थ—विचार करने की बात है कि जिस ने एक पर स्त्री के लिये अपना वड़प्पन छोड़ दिया, अपना तपश्चरण छोड़ दिया, और अपने सब नियम छोड़ दिये वह परमात्मा कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं हो सकता तथा जब वह परमात्मा ही नहीं हो सकता है तब वह पूज्य देव भी किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् कभी नहीं हो सकता ।

सुपरिक्खिऊण तम्हा सुगवेसह को वि परम वंभाणो ।
दह अट्ठदोस रहिओ वीयराओ परणाणी ॥ २२३ ॥

सुपरीक्ष्य तस्मात् सुगवेषय कमपि परम ब्रह्माणम् ।
दशाष्टदोष रहितं वीतरागं परं ज्ञानिन् ॥ २२३ ॥

अर्थ—इस लिये अच्छी तरह परीक्षा कर किसी ऐसे परम ब्रह्म ब्रह्मा को ढूँढना चाहिये कि जो अठारह दोषों से रहित हो, वीतराग हो और सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी सर्वज्ञ हो।

भावार्थ—जो वीतराग सर्वज्ञ हो और अठारह दोषों से रहित हो वही ब्रह्मा या परमात्मा हो सकता है।

इस प्रकार इन लोगों के माने हुए ब्रह्मा का निराकरण कर यथार्थ ब्रह्मा का स्वरूप बतलाया।

अब आगे कृष्ण के विषय में कहते हैं।

किण्हो जइ धरइ जयं सूवररूवेण दाढअग्गेण।
तासो कहिं ठवइ पए कुम्मे कुम्मो वि कहिं ठाई ॥ २२४ ॥
कृष्णो यदि धारयति जगत् शूकररूपेण दंष्ट्राग्रेण।
तर्हि स कुत्र तिष्ठति पदे कूर्मे कूर्मोपि कुत्र तिष्ठति ॥२२४॥

अर्थ—यदि कृष्ण इन तीनों लोकों का धारण करते हैं तथा सूअर का रूप धारण कर अपनी दाढ के अग्रभाग पर रखकर इस जगत को उठाये हुए है तो फिर बताना चाहिये कि वे सूअर का रूप धारण किये हुए कृष्ण स्वयं कहां ठहरे हुए हैं ? यदि कहो कि वे कछवाके ऊपर ठहरे हुए हैं तो फिर यह बताना चाहिये कि वह कच्छप कहां ठहरा हुआ है।

अह छुहिऊण सउअरो तिजयं पालेइ महुमहो णिच्चं ।
किं सो तिजय वहित्थो तिजयवहित्थेण कि जाओ ॥२२५॥
अथ स्पर्शित्वाशूकरं त्रिजगत् पालयति मधुमदः नित्यम् ।
किं स त्रिजगद्बहिस्थः त्रिजगद्बहिःस्थेन किं जातम् ॥२२५॥

अर्थ – यदि कृष्ण उस सूअर को छूकर सदाकाल इन तीनों लोकों का पालन करता है तो क्या वह कृष्ण तीनों लोकों से बाहर है ? अथवा क्या वह तीनों लोक तीनों लोकों के बाहर रह बनाया गया है ?

जइ या दहरह पुत्तो रामो णिवसेइ दंडरइणम्मि ।
लंकाहि वेण छलिओ हरिया भज्जा पवंचेण ॥ २२६ ॥
यत्र च दशरथ पुत्रो रामो निवसति दण्डकारण्ये ।
लंकाधि पतिना छलितः हृता भार्या प्रपंचेन ॥ २२६ ॥

अर्थ—और भी देखो राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जब दंडकारण्य (दंडकवन) में निवास करते थे तब लंकाके अधिपति रावण ने अपनी मायाचारी कर रामचन्द्र को ठग लिया था और उनकी स्त्री सीता को हर लेगया था ।

विरहेण रुवइ विलवइ पडेइ उट्ठ इ णियइ सोएह ।
णउ पुणइ केण णाया पुच्छइ वणसावया मूढो ॥ २२७ ॥
विरहेण रोदिति विलपति पतति उत्तिष्ठति पश्यति स्वपिति ।
नहि मनुते तेन ज्ञातः पृच्छति वनशावकान् मूढः ॥२२७॥

अर्थ—उस समय वे रामचन्द्र सीता के विरह से रोते थे, तडफते थे, गिर पडते थे फिर उठते थे, चारों ओर देखते थे, मोते थे, तथा ज्ञान रहित वे रामचंद्र वन के पशुओं के बच्चों से पूछते थे कि क्या तुमने कहीं सोता देखी है। इस प्रकार ईश्वर होकर भी रामचन्द्र को मीता की कुछ खबर नहीं थी।

जइ उवरत्थं तिजयं ता सो किं तत्थ वाणरा रिच्छा।
मेलाविऊण उवही वंधइ सेलेहिं सेउत्ति ॥ २२८ ॥

यदि उपरि स्थितः त्रिजगतः तर्हि किं तत्र वानरान् ऋक्षान्।
मेलापयित्वा उदधे बध्नाति शैलैः सेतुमिति ॥२२८॥

अर्थ—यदि वे विष्णु वा रामचन्द्र तीनों जगत के ऊपर विराजमान हैं सब के ईश्वर हैं तो फिर उन्होंने रीछ और बंदरों को इकट्ठा कर पत्थरों से समुद्रका पुल क्यों बनवाया था ?

किं पट्ठवेइ दूवं जंपइ किं सामभेयदंडाइं।
अलहंतो किं जुज्जइ कोवं काऊण सत्थेहिं ॥ २२९ ॥

किं प्रस्थापयति दूतं जल्पति किं सामभेददण्डानि।
अलभमानः किं युद्धयति कोपं कृत्वा शस्त्रैः ॥ २२९ ॥

अर्थ—इसके सिवाय उसने रावण के पास दूत क्यों भेजा ? साम दाम दंड भेद के अनुसार बात चीत क्यों की तथा इस प्रकार भी जब सीता नहीं मिली तो फिर क्रोध कर शस्त्रों के द्वारा रावण से क्यों लड़े।

कि दहवयणो सीया गहिऊण उवर बहिरे थक्को ।
जं हेलाइं ण तरइ रिउ हणिउं आणिउं भज्जा ॥ २३० ॥
किं दशवदनः सीतां गृहीत्वा उपरि वहिः स्थितः ।
यत् हेलया न शक्नोति रिपुं हत्वा आनेतुं भार्याम् ॥२३०॥

अर्थ—क्या सीता को लेकर रावण कहीं तीनों लोकों के बाहर जाकर ठहरा था जो ईश्वर और तीनों लोकों के पालन करने वाले होकर भी सहज रीति से रावण को न मार सका और अपनी स्त्री सीता को न ला सका ।

जइ तिजयपालणत्थे संजाया तस्स एरिसी सत्ती ।
तो किं तिजयं दड्ढ हरेण सं पिच्छमाणस्स ॥ २३१ ॥
यदि त्रिजगत्पालनार्थे संजाता तस्यैतादृशी शक्तिः ।
तर्हि किं जगद्दग्धं हरेण संप्रेक्षमाणस्य ॥ २३१ ॥

अर्थ—यदि विष्णु भगवान में तीनों लोकों को पालन करने की शक्ति है तो फिर उनके देखते देखते ही महादेवने तीनों लोकों को क्यों जलाडाला ?

जो ण जाणइ जो ण जाणइ हरिय णियभज्ज ।
पुच्छइ वणसावयइं अह मुणेइ आणउं ण सकइ ।
वंधेइ सायरू गिरिहिं पेसिऊण तहिं पवरभिच्चइं
तासु उवीर णारायणहो किमु तिहुवणु णिवसेइ ।
जो वारवइ विणासियहो रक्खहु णा हिं तरेइ ॥ २३२ ॥

यो न जानाति यो न जानाति हर्तारं निजभार्यायाः ।
पृच्छतिवनशावकान् अथ जानाति आनेतुं न शक्नोति ।
बध्नाति सागरं गिरिभिः प्रेषयित्वा तत्र प्रवर भृत्यान् ।
तस्योपरि नारायणस्य किं त्रिभुवनं निवसति ।
यो रिपुं विनाश्य रक्षितुं नहि शक्नोति ॥ २३२ ॥

अर्थ—जो रामचन्द्र ईश्वर होकर भी अपनी स्त्री को हरण करने वाले को भी नहीं जानते नहीं जानते और बन मे रहने वाले पशुओं के बच्चों से पूछते हैं तदनंतर यदि वे जान भी लेते हैं तो भी वे अपनी स्त्री को ला नहीं सकते । तथा पत्थरों से समुद्र का पुल बनवाते हैं और अनेक सेवकों को भेजते हैं । क्या ऐसे नारायण के ऊपर ही यह तीनों लोक ठहरा हुआ है जो अपने शत्रु को भी नहीं मार सकते और अपनी स्त्री की रक्षा नही कर सकते । वे नारायण भला तीनों लोकों की रक्षा कैसे कर हैं । अर्थात् कभी नहीं कर सकते ।

जो देओ होऊणं माणुस मत्तेहिं पंडुपुत्तेहिं ।
सारइ वोलाइत्तो जुज्झे जेउं कओतेहिं ॥ २३३ ॥
यो देवो भूत्वा मनुष्यमात्रैः पाण्डुपुत्रैः ।
सारथिं कथयित्वा युद्धे जेतुं कथितः तैः ॥ २३३ ॥

अर्थ—जो नारायण ईश्वर होकर भी साधारण मनुष्य पांडवों के सारथी वने और इस प्रकार उन्होंने युद्ध में पांडवों को जिताया ।

तम्हा ए होइ कत्ता किण्हो लोयस्स तिविह भेयस्स ।
मरिऊण वार वारं दहावयारेहिं अवयरइ ॥ २३४ ॥
तस्मान्न भवति कर्ता कृष्णो लोकस्य त्रिविधभेदस्य ।
मृत्वा पुनः पुनः दशावतारैः अवतरति ॥ २३४ ॥

अर्थ -इन सब बातों से यह सिद्ध होता है कि कृष्ण न तो तीनों लोकों के कर्ता है न उसके पालन करने वाले हैं। वे तो बार बार मरकर अवतार धारण किया करते हैं तथा अनुक्रम से दश अवतार धारण करते हैं।

एवं भणंति केई असरीरो णिकलो हरी सिद्धो ।
अवयरइ यच्चलोए देहं गिण्हेइ इच्छाए ॥ २३५ ॥

भो भो भुजंगतरुपल्लव लोलजिह्व,
वंधूकपुष्पदलसन्निभ लोहिताक्ष ।
पृच्छामि ते पवनभोजिन् कोमलांगो,
काचित्त्वया शरदचन्द्र मुखी न दृष्टा ?

अर्थ—रामचन्द्र वन में किसी सर्प से पूछते हैं कि हे सर्प तुम्हारी चंचल जिह्वा वृक्ष के पत्ते के समान चंचल है। तुम्हारे लाल नेत्र बंधूक के पुष्प के दल के समान बहुत ही लाल हैं तथा तुम सदाकाल वायु का ही भक्षण करते रहते हो, ऐसे हे सर्प ! क्या तुमने शरद ऋतु के चन्द्रमा के समान सुंदर मुख को धारण करने वाली और अत्यंत कोमल शरीर धारण करने वाली ऐसी कोई स्त्री देखी है ?

एवं भणन्ति केचित् अशरीरो निष्कलो हरिः सिद्धः ।
अवतरति मर्त्यलोके देहं गृह्णातीच्छया ॥ २३५ ॥

अर्थ—इस विषय में कोई कोई लोग यह कहते हैं कि विष्णु वा कृष्ण शरीर रहित हैं, सब दोषों से रहित हैं और सिद्ध हैं ऐसे वे कृष्ण मनुष्य लोक में आकर अपनी इच्छानुसार शरीर को ग्रहण करते हैं।

आगे इसी बातका निराकरण करते हैं।

जइ तुप्पं णवणीयं णवणीयं पुणत्ति दोइजइ दुद्धं ।
तो सिद्धिगओ जीवो पुणरवि देहाइं गिण्हेइ ॥ २३६ ॥
यदि घृतं नवनीतं नवनीतं पुनरपि भवेद्यदि दुग्धम् ।
तर्हि सिद्धगतो जीवः पुनरपि देहादिकं गृह्णाति ॥ २३६॥

अर्थ—यदि घी बदल कर फिर भी मक्खन बन जाय और मक्खन बदल कर फिर भी दूध बनजाय तो समझना चाहिये कि सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए जीव भी फिरसे शरीर धारण कर सकते हैं।

भावार्थ--जब समस्त कर्मों का नाश हो जाता है तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है तथा कर्मों के नाश होने पर उन कर्मों से बना हुआ शरीर भी नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में सिद्ध जीव फिर कभी भी शरीर धारण नहीं कर सकते। जिस दूधका दही बन गया वा घी मक्खन बन गया या घी मक्खन वा दही

फिर कभी भी दूध नहीं बन सकता। इसी प्रकार जब कृष्ण सिद्ध रूप हैं तो फिर वे कभी भी कोई शरीर धारण नहीं कर सकते। अथवा;

रद्धो कूरो पुणरवि खित्ते खित्तो य होइ अंकूरो।
जइ तो मोक्खं पत्ता जीवा पुण इंति संसारे॥ २३७॥
रद्धः क्रूरः पुनरपि क्षेत्रे क्षिप्तश्च भवेदंकुरः।
यदि तर्हि मोक्षं प्राप्ताः जीवाः पुनरायान्ति संसारे॥२३७।

अर्थ—यदि रंधा हुआ धान्य खेत में बोने से अंकुर वृक्ष रूप हो सकता है तो समझना चाहिये कि मोक्ष में प्राप्त हुए जीव भी फिर संसार में आ सकते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार रंधा हुआ धान्य खेत में बोदेने पर भी नहीं उगता उसी प्रकार मोक्ष में प्राप्त हुए जीव फिर कभी भी संसार में नहीं आ सकते।

आगे और भी दिखलाते हैं।

जइ णिकलो महप्पा विण्हू णिस्सेसकम्ममलचत्तो।
किं कारण मप्पाणं संसारे पुणे विं पाडेइ॥ २३८॥
यदि निष्कलो महात्मा विष्णुः निःशेषस्वकर्ममलच्युत।
किं कारणमात्मानं संसारे पुनरपि पातयति॥ २३८॥

अर्थ—यदि वे विष्णु वास्तव में शरीर रहित हैं महात्मा हैं और समस्त कर्ममल कलंक से रहित हैं तो फिर किस कारण से

अपने आत्मा को फिर से संसार में गिराते हैं वा संसार में परिभ्रमण कराते हैं।

भावार्थ—संसार में तो दुःख ही दुःख है। रामचन्द्र भी संसारी थे इसीलिये उनको सीता के वियोग का दुःख सहना पड़ा। यदि विष्णु वास्तव में सिद्ध हैं तो फिर कोई ऐसा कारण नहीं है कि वे दुःख भोगने के लिये फिर संसार में आवे। सिद्ध अवस्था में तो अनंत सुख रहता है फिर ऐसा कौन बुद्धिमान है जो अनंत सुख को छोड़कर अनेक प्रकार के दुःखों से भरे हुए इस संसार मे जन्म मरण धारण करता फिरे, अर्थात् कोई नहीं।

अहवा जइ कलसहिओ लोयव्वावार दिण्णणियचित्तो।
तो संसारी णियमा परमप्पा हवइ ण हु विण्हू ॥ २३९ ॥
अथवा यदि कलासहितो लोकव्यापारदत्तनिजचित्तः।
तर्हि संसारी नियमात् परमात्मा भवति न हि विष्णुः।

अर्थ—अथवा यदि विष्णु वास्तव में शरीर सहित है और उनका चित्त लोक के व्यापार में लगा रहता है तो फिर कहना चाहिये कि वह विष्णु नियम से संसारी है वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता।

इय जाणिऊण णूणं णवणव दोसेहिं वज्जिओ विण्हू।
सो अक्खइ परमप्पा अणंतणाणी अराई य ॥ २४० ॥
इति ज्ञात्वा नूनं नवनवदोषै विवर्जितो विष्णुः।
स कथ्यते परमात्मा अनन्तज्ञानी अरागी च ॥ २४० ॥

अर्थ—ये ऊपर लिखी सब बातें समझ कर कहना चाहिये कि जो विष्णु अठारह दोषों से रहित है अनंत ज्ञानी है और वीतराग है वही परमात्मा हो सकता है। इन गुणों के बिना कोई भी परमात्मा नहीं हो सकता।

आगे महादेव के लिये कहते हैं।

एवं भणंति केई रुद्दो संहरइ तिहुवणं सयलं।
चिंतामित्तेण फुडं णर णायरतिरियसुरसहियं ॥ २४१ ॥
एवं भणन्ति केचित् रुद्रः संहरति त्रिभुवनं सकलम्।
चिन्तामात्रेण स्फुटं नरनारकतिर्यक्सुरसहितम् ॥२४१॥

अर्थ—कोई कोई लोग ऐसा कहते हैं कि महादेव मनुष्य तिर्यंच देव नारकी आदि समस्त जीवों सहित इन समस्त तीनों लोकों को चिंतवन करने मात्र से ही क्षण भरमें संहार कर डालते हैं।

भावार्थ—क्षण भर मे समस्त जीवों का संहार कर डालते हैं।

णट्ठे असेसलोए पच्छा सो कत्थ चिट्ठदे रुद्दो।
इक्को तमंधयारो गोरी गंगा गया कत्थ ॥ २४२ ॥
नष्टेऽशेष लोके पश्चात्स कुत्र तिष्ठति रुद्रः।
एकस्तमोऽधकारः गौरी गंगा गता कुत्र ॥ २४२ ॥

अर्थ—जब महादेव समस्त लोक का संहार कर डालते हैं तो फिर समस्त लोक के नष्ट हो जानेपर वे महादेव स्वयं कहां

ठहरते हैं ? फिर तो एक महा अंधकार ही रह जाता होगा। तथा उस समय गौरी और गंगा कहाँ चली गई होगी। कुछ तो समझना चाहिये।

जो डहइ एयगामं पावी लोऐहिं वुच्चदे सो हु।
जो पुण डहइ तिलोयं सो कह देवत्तणं पत्तो ॥ २४३ ॥
यो दहति एकग्रामं पापी लोकैरुच्यते स हि।
यः पुनः दहति त्रिलोकं स कथं देवत्वं प्राप्तः ॥ २४३ ॥

अर्थ—इस संसार में जो कोई पुरुष किसी एक छोटे से गांव को भी जला देता है वह इस संसार में महापापी कहलाता है। फिर भला जो तीनों लोकों को जला डालता है वह महादेव देव कैसे हो सकता है उसे तो महा पापियों से भी बढ़कर महापापी समझना चाहिये।

जो हणइ एय गाव विप्पो वा सोवि इत्थ लोएहिं।
गो वंभहच्चयारी पभणिज्जइ पावकारी सो ॥ २४४ ॥
यः हन्ति एकां गा विप्रं वा सोपि अत्र लोकैः।
गोब्रह्महत्याकरो प्रभण्यते पापकारी सः ॥ २४४ ॥

अर्थ—देखो-इस संसार में जो पुरुष किसी एक गायको मार डालता है अथवा किसी एक ब्राह्मण को मार डालता है वह गाय की हत्या करने वाला और ब्रह्महत्या करने वाला तो महा पापी गिना जाता है।

जो पुण गोणारि पमुहे वाले बुड्डे असंखलोयत्थे ।
संहारेइ असेसं तस्सेव हि किं भणिस्सामो ॥ ३४५ ॥
यः पुनः गोनारी प्रमुखान् वालान् वृद्धान् असंख्यलोकस्थान्
संहरति अशेषान् तमेव हि किं भणिष्यामः ॥ २४५ ॥

अर्थ—फिर भला जो महादेव देव कहलाकर भी असंख्यात लोकों में रहने वाले गाय स्त्रियां बालक वृद्ध आदि समस्त जीवों का संहार कर डालता है उसे क्या कहना चाहिये ? वह तो महा पापियों से भी बढकर महा पापी हो सकता है।

आगे और भी कहते हैं।

अहवा जइ भणइ इयं सो देवो तस्स ण हु पावं ।
तो वंम्ह सीसछेए वंभहच्चा कहं जाया ॥ २४६ ॥
अथवा यदि भणतीदं स देवः तस्य भवति नहि पापम् ।
तर्हि ब्रह्म शिरश्च्छेदे ब्रह्म हत्या कथं जाता ॥ २४६ ॥

अर्थ—यदि कदाचित् कोई यह कहे कि महादेव देव हैं सब से बडे देव हैं इसलिये तीनों लोकों का नाश करने पर भी उनको हत्या का पाप नहीं लगता। परंतु ऐसा कहना भी सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि जब महादेवजी को इतनी प्रबल हत्या करने पर भी पाप नहीं लगता तो फिर जब उन्होंने ब्रह्मा के मस्तकपर का गधे का मस्तक काट डाला था उस समय उसको ब्रह्म हत्या का पाप कैसे लग गया था ?

भावार्थ— ब्रह्मा का मस्तक काटने पर महादेव को ब्रह्म हत्या का महापाप लगा था। तदनंतर—

किं हड्ड मुंडमाला कंधे परिवहइ धूल धूसरिओ।
परिभमिओ तित्थाइं णरह कवालम्मि भुजंतो॥ २४७॥
किं अस्थिमुंडमालां स्कंधे परिवहति धूलिधूसरितः।
परिभ्रमित स्तीर्थानि नरस्य कपाले भुंजानः॥ २४७॥

अर्थ—इस ब्रह्म हत्या के पाप को नाश करने के लिये उसने अपने गले में हाड्डियों की माला और मुंडमाला डाली थी अपना शरीर धूलि से धूसरित कर लिया था और मनुष्य के कपाल में भोजन करता हुआ समस्त तीर्थों में परि भ्रमण करने लगा था।

तह वि ण सा वंभहच्चा फिट्टइ रुद्दस्स जामतागामे।
वसिओ पलासणागामे ता विप्पो णियवलद्दे ण॥२४८॥
तथापि न सा ब्रह्महत्या स्फिटति रुद्रस्य यावत् ग्रामे।
उषितः पलाश नाम्नि तत्र विप्रः निजवलत्वेन॥ २४८॥
णिहओ सिंगेण मुओ वसहो सेओ वि कसणु संजाओ।
वाणारसिं च पत्तो रुद्दोवि य तस्स मग्गेण॥ २४६॥
निहतः श्रृंगेण मृतः वृषभः श्वेतः कृष्णः संजातः।
वाणारसीं प्राप्तः रुद्रोपि च तस्य मार्गेण॥ २४६॥
गंगाजलं पविट्ठा चत्ता ते दोवि वंभहच्चाए।
रुद्दस्स करय लग्गो लहयं पडियं कवालोत्ति॥ २५०॥

गंगा जले प्रविष्टौ त्यक्तौ तौ द्वावपि ब्रह्महत्यया।
न रुद्रस्य करे लग्नं तत्र पतितं कपाल मिति ॥ २५० ॥

अर्थ—इस प्रकार उस महादेवने अनेक तीर्थों में परिभ्रमण किया तथापि उस महादेव की ब्रह्म हत्या छूट नहीं सकी थी। जब वह महादेव इस प्रकार परिभ्रमण करता हुआ पलाश नाम के एक गांव मे पहुंचा। तब उस गांव में उपवास किये हुए एक ब्राह्मण को उसी के एक बैल ने अपने सींगों से मार डाला था। इस ब्रह्म हत्या के पाप से वह सफेद बैल उसी समय काला होगया था। तदनंतर वह बैल अपना ब्रह्म हत्या का पाप दूर करने के लिये बनारस नगरी में पहुंचा। वह बैल भी पलाश गाव का था और वहीं पर महादेव पहुँच गया था। इसलिये उस कृत्य को देखकर महादेव भी उस बैल के पीछे पीछे बनारस में जा पहुँचा था। बनारस जाकर उन दोनो ने गंगा जल में प्रवेश किया तब कहीं जाकर वे दोनो ही ब्रह्म हत्या से मुक्त हुए। तथा ब्रह्म हत्या के कारण महादेव के हाथ में जो कपाल लगगया जो चिपक गया था वह भी उस समय गंगा जल में गिर पडा।

आगे आचार्य समझा कर कहते हैं।

जस्स गुरू सुरहिसुओ गंगा तोएण फिट्टए हच्चा।
सो देवो अण्णस्स य फेडइ कह संचियं पावं ॥ २५१ ॥

यस्य गुरुः सुरभिसुतः गंगातोयेन स्फिट्यते हत्या।
स देवोऽन्यस्य च स्फोटयति कथं संचितं पापम् ॥२५१॥

अर्थ--आचार्य कहते हैं कि देखो जिस महादेव ने अपनी ब्रह्म हत्या दूर करने के लिये बैल को तो गुरु बनाया और गंगा के जल से उसकी ब्रह्म हत्या दूर हुई वह महादेव अन्य संसारी जीवों के चिर काल से संचित हुए पापों को कैसे दूर कर सकते हैं ? अर्थात् कभी दूर नहीं कर सकते ।

आगे आचार्य इसी बात को और दिखलाते हैं ।

जो ण तरइ णियपावं गहियवओ अप्पणस्स फेडेउं ।
असमत्थो सो णूणं कत्तिच्च विणासणे रुद्दो ॥ २५२ ॥
यो न शक्नोति निजपापं गृहीतव्रतः आत्मनः स्फोटयितुं ।
असमर्थः स नूनं कर्तृत्वविनाशने रुद्रः ॥ २५२ ॥

अर्थ—जो महादेव व्रतों को ग्रहण करके भी अपने आत्मा के भी अपने पापों का नाश नहीं कर सकता वह महादेव इस ब्रह्मा के बनाये हुए लोक का विनाश भी नहीं कर सकता ।

इसलिये निश्चित सिद्धांत यह है कि—

णो बंभा कुणइ जयं किण्हो ण धरेइ हरइ ण उ रुद्दो ।
एसो सहावसिद्धो णिच्चो दव्वेहि संछण्णो ॥ २५३
न ब्रह्मा करोति जगत् कृष्णः न धरति हरति न च रुद्रः ।
एषः स्वभावसिद्धः नित्यः द्रव्यैः संछन्नः ॥ २५३ ॥

अर्थ—न तो इस जगत् को ब्रह्माने बनाया है, न कृष्ण वा विष्णु इसको धारण करता है और न महादेव इसका संहार

करते हैं। यह जगत् स्वभाव से ही सिद्ध है, अनादि है और अनिधन है तथा जीवादिक द्रव्यों से भरा हुआ है।

भमइ णग्गउ भमइ णग्गउ वसहि सुमसाणि।
णर रुंडसिर मंडियउ णरकवालि भिक्खाइं भुंजेइ।
सह कारिउ गउरियहिं दुक्खभारु अप्पहो णिउंज्जइ।
जो बभणोहं सिर कमले खुडिए न फेडइ दोसु।
सो ईसरु कह अवहरइ तिहुवणु करइ असेसु॥ २५४॥
भ्रमति नग्नो भ्रमति नग्नो वसति श्मशाने।
नररुण्डशिरोमण्डितः नरकपाले भिक्षां भुनक्ति॥
सहकृतः गौरीभिः दुःखभारे आत्मानं नियुंक्ते।
यो ब्रह्मणः शिरःकमले खण्डिते न स्फोटयति दोषम्।
स ईश्वरः कथमपहरति त्रिभुवनं करोति अशेषम्॥ २५४॥

अर्थ—जो महादेव नग्न होकर पर्वतों पर घूमता फिरता है, श्मशान में रहता है, मनुष्यों के रुंड मुंडों से अपने मस्तक की शोभा बढ़ाता है, मनुष्य के कपाल मे भिक्षा भोजन करता है, पार्वती को सदा साथ रखता है, अपने आत्मा को सदाकाल अनेक दुःखों के समूह में डालता रहता है, जिसने ब्रह्मा का मस्तक काट डाला और फिर उस हत्या से लगी हुई ब्रह्महत्या के महापाप का दूर नहीं कर सका वह महादेव भला ईश्वर कैसे हो सकता है और किस प्रकार इन समस्त तीनों लोकों का नाश कर सकता है। अर्थात् कभी नहीं कर सकता।

उत्तरंतउ उत्तरंत्तउ पवर सुरसरिहिं ।
पारासुर चलिउ मणुमुएलज्जकेवह णदिणि ।
आलिंकिय तपहेउ वरिवास जाउ तावसुमहामुणि
भारउ पुणु हुउ दो वहिं केसग्गह पव्वेण ।
जिणु मल्लिवि के केण जगिंणिवडय चवल मणेण ।२५५।

अर्थ—पराशर मुनि गंगा के पार होने के लिये गंगा नदी के किनारे पहुँचे वहां पर मल्लाह की लडकी नाव चला रही थी इसलिये वे पाराशर ऋषि उसी को आलिंगन करने लगे ।

अएणाणि य रइयाइं एत्थ पुराणाइं अघडमाणाइं ।
सिद्धं तेहिं अजुत्तं पुव्वावरदोससंकिएणं ॥ २५६ ॥
अन्यानि च रचितान्यत्र पुराणानि अघटमानानि ।
सिद्धांतैरयुक्तं पूर्वापरदोषसंकीर्णम् ॥ २५६ ॥

अर्थ—और भी ऐसे बहुत से पुराण बने हुए हैं जो कभी संभव नहीं हो सकते, तथा जो सिद्धांत के सर्वथा विरुद्ध हैं, और पूर्वापर अनेक दोषों से भरे हुए हैं ।

एए उत्ते देवे सव्वे सद्दहइ जो पुराणेहिं ।
अरिहंता परिचाए सम्मा मिच्छोत्ति णायव्वो ॥ २५७ ॥

एतानुक्तान् देवान् सर्वान् श्रद्धाति यः पुराणैः ।
अर्हतः परित्यज्य सम्यग्मिथ्यात्वं इति ज्ञातव्यम् ॥ २५७ ॥

अर्थ—जो पुरुष वीतराग सर्वज्ञ भगवान अरहंत देवको छोड़ कर ऊपर लिखे इन समस्त देवों का श्रद्धान करता है तथा पुराणों में कहे हुए अन्य समस्त देवों का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्मिथ्या दृष्टी तीसरे गुण स्थान वाला समझना चाहिये ।

एसो सम्मामिच्छो परिहरियव्वो हवेइ णियमेण :
एत्तो अविरइ सम्मो कहिज्जमाणो णिसामेह ॥ २५८ ॥
एतत्सम्यग्मिथ्यात्वं परिहर्तव्यं भवति नियमेन ।
इतः अविरतसम्यक्त्वं कथयिष्यमाणं निशृणुत ॥२५८॥

अर्थ—इस प्रकार जो तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वरूप कहा है उसका सर्वथा त्याग नियम पूर्वक करदेना चाहिये । अब इसके आगे चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं, उसे सुनो ।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान का स्वरूप कहा ।

ब्रह्मा अल्पायुषोऽयं हरिर्विधि वशाद्गोपतिर्गर्भवासे,
चन्द्रः क्षीणः प्रतापी भ्रमति दिनकरो देवमिथ्याभिमानी ।
कामः कायेनहीनश्चलयति पवनो विश्वकर्मा दरिद्री,
इन्द्राद्या दुःख पूर्णाः सुखनिधि सुभगः पातुनः पार्श्वनाथः ॥

अर्थ—ब्रह्मा का आयुष्य थोडा है, कर्मों के उदय से कृष्ण ग्वाल के यहां हुए, चन्द्रमा का प्रताप क्षीण, जो देव पने का मिथ्या

आगे अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुणस्थान का स्वरूप कहते हैं।

हवइ चउत्थं ठाणं अविरइ सम्मोत्ति णामयं भणियं।
तत्थहु खइओ भावो खय उवसमिओ समोचेव ॥ २५६ ॥
भवति चतुर्थं स्थानमविरतसम्यक्त्वमिति नामकं भणितम्।
तत्रहि क्षायिको भावः क्षायोपशमिकः शमश्चैव ॥२५६॥

अर्थ—चौथे गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टी है। इस गुणस्थान में क्षायिक भाव होते हैं, क्षायोपशमिक भाव होते हैं और औपशमिक भाव होते हैं।

एए तिण्णि वि भावा दंसणमोहं पडुच्च भणिआ हु।
चारित्तं णत्थि जदो अविरिय-अंतेसु ठाणेसु ॥ २६० ॥
एते त्रयोपि भावा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिता हि।
चारित्रं नास्ति यतः अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ २६० ॥

अर्थ—इस गुणस्थान मे जो तीनों प्रकार के भाव बतलाये हैं वे दर्शन मोहनीय के क्षय, क्षयोपशम और उपशम को लेकर

अभिमान करता हुआ सदा परि भ्रमण किया करता है, कामदेव शरीर रहित है, वायु की गति सदा चंचल रहती है, विश्वकर्मा दरिद्री कहलाता है और इन्द्रादिक देव सब दुःखों से भरे हुए हैं। अतएव अनंत सुख से सुशोभित होने वाले भगवान पार्श्व-नाथ हम लोगों की सदा रक्षा करें।

बतलाये हैं। इसका भी कारण यह है कि पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुण स्थान तक चारित्र का सर्वथा अभाव रहता है।

भावार्थ—यद्यपि इस चौथे गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उदय है इसलिये चौथे गुणस्थान वाले औदयिक भाव भी कहे जा सकते हैं परतु चौथे गुणस्थान तक चारित्र होता ही नहीं है इसलिये यहां पर चारित्र मोहनीय की अपेक्षा ही नहीं रक्खी है। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय की अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व इस गुण गुणस्थान में होता है। इन्हीं प्रकृतियों का क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व होता है और इन्हीं प्रकृतियों का क्षयोपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इस गुणस्थान में ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन हो सकते हैं इसलिये दर्शन मोहनीय के क्षय क्षयोपशम या उपशम की मुख्यता को लेकर तीनों प्रकार के भाव बतलाये हैं। अनंतानुबंधी कषायों का क्षयोपशमादिक दर्शन मोहनीय के साथ हो जाता है परंतु चारित्र मोहनीय की शेष प्रकृतियों का उदय ही रहता है इसलिये इस गुणस्थान में चारित्र मोहनीय की मुख्यता नहीं रक्खी है। केवल दर्शन मोहनीय की अपेक्षा से ही तीनों प्रकार के भाव बतलाये हैं।

आगे इस गुणस्थान का स्वरूप अथवा इस गुणस्थान मे रहने वाले जीवों के भाव बतलाते हैं:—

णो इंदिएसु विरओ णो जीवेथावरे तसे वावि।
जो सद्दहइ जिणुत्तं अविरइ सम्मोत्ति णायव्वो ॥२६१॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे त्रसे वापि।
यो श्रद्धाति जिनोक्तं अविरत सम्यक्त्वंइति ज्ञातव्यम्ः ।२६१।

अर्थ—इस गुणस्थान में रहने वाला जीव न तो इन्द्रियों से विरक्त रहता है न त्रस स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग करता है। वह भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए बचनों पर गाढ श्रद्धान करता है। इस प्रकार उसके यथार्थ देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान करने को अथवा जीवादिक समस्त तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान करने को चौथा अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान कहते हैं।

भावार्थ—यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रियों से विरक्त नहीं होता और न त्रस स्थावर जीवों का रक्षा करने का नियम लेता है तथापि सम्यग्दर्शन के प्रगट होने से उसके संवेग वैराग्य अनुकंपा आदि आगे लिखे हुए गुण प्रगट हो जाते हैं इसलिये त्याग न होने पर भी चित्त में वैराग्य उत्पन्न होने के कारण वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करता और अनुकंपा होने के कारण जीवों की हिंसा नहीं करता। यदि वह अभक्ष्य भक्षण करता है और जीवों की हिंसा करता है तो उसके संवेग वैराग्य और अनुकंपा आदि गुण नहीं हो सकते। तथा विना इन गुणों के उसके सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। और विना सम्यग्दर्शन को यह चौथा गुणस्थान नहीं हो सकता। इसके सिवाय यह भी समझ लेना चाहिये कि अविरत सम्यग्दृष्टी पुरुष देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान करता है भगवान अरहंत देव के कहे हुए वचनोंपर अर्थात् जैन

शास्त्रों पर पूर्ण विश्वास करता है। शास्त्रों में अभक्ष्य भक्षण का त्याग और हिंसा का निषेध लिखा ही है यदि वह शास्त्रों का श्रद्धान करता है तो भी वह अभक्ष्य भक्षण नहीं कर सकता तथा जीवों की हिंसा नहीं कर सकता।

वर्तमान समय मे बहुत से विद्वान वा विद्वान् त्यागी शास्त्रों के विरुद्ध उपदेश देते हैं, अयोग्यों को जिन मंदिर में जाने का उपदेश देते हैं, मुनि होकर भी दस्साओं के यहा आहार लेते हैं शास्त्रो में कही हुई भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा की विधि का निषेध करते हैं अपनी इच्छानुसार ही शास्त्रों में कही हुई पूजा की विधि के प्रतिकूल मन मानी विधि का प्रतिपादन करते हैं, वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था को मानते नहीं, वर्णसंकर वा जाति संकर अथवा वीर्य संकर संतान उत्पन्न करने का उपदेश देते हैं वे सब सम्यग्दृष्टी नहीं कहला सकते, क्योंकि वे भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए वचनों पर श्रद्धान नहीं करते किंतु उसके विपरीत श्रद्धान करते हैं।

आगे फिर भी सम्यग्दर्शन का लक्षण कहते हैं।

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठारह दोस वज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ २६२ ॥

हिंसा रहिते धर्मे अष्टादश दोषवर्जिते देवे।
निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ २६२ ॥

अर्थ—धर्म वही है जो हिंसा से सर्वथा रहित हो, देव वही

है जो अठारह दोषों से रहित हो, और गुरु वा मुनि वे ही हैं जो बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों से रहित सर्वथा निर्ग्रंथ हो। इस प्रकार देव शास्त्र गुरु का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

आगे सम्यग्दर्शन के गुण कहते हैं।

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहाइं उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अनुकंपा अट्ठगुणा होंति सम्मत्ते ॥ २६३ ॥
संवेगो निर्वेगो निंदा गर्हा उपशमो भक्तिः।
वात्सल्यं अनुकंपा अष्टौ गुणा भवन्ति सम्यक्त्वे ॥ २६३ ॥

अर्थ—संवेग निर्वेद निंदा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य अनुकंपा ये सम्यग्दर्शन के आठ गुण होते हैं। संसार के दुखों से भयभीत होने तथा धर्म में अनुराग होना संवेग है, संसार शरीर और भोगों से विरक्तता धारण करना निर्वेद है, अपने किये हुए पापों की निंदा अपने आप करना निंदा है, गुरु के समीप जाकर अपने दोषों का निराकरण करना गर्हा है। क्रोधादिक पच्चीसों कषायों का त्याग करना उपशम है, दर्शन ज्ञान चारित्र और तप का वा इनको धारण करने वालों का विनय करना भक्ति है, व्रतों के धारण करने में अनुराग धारण करना वा व्रतियों में अनुराग धारण करना वात्सल्य है, त्रस स्थावर इन छहों प्रकार के जीवों की रक्षा करना उनपर दया धारण करना अनुकंपा है। सम्यग्दर्शन के ये आठ गुण कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर

ये आठ गुण अवश्य प्रगट हो जाते है। जिसके ये गुण प्रगट न हों, समझना चाहिये उसके सम्यग्दर्शन भी नहीं है।

आगे सम्यग्दर्शन के भेद बतलाते हैं।

दुविहं तं पुण भणियं अहवा तिविहं कहंति आयरिया।
अण्णाय अधिगमे वा संदहणं जं पयत्थाणं ॥ २६४ ॥
द्विविधं तत्पुनः भणितं अथवा त्रिविधं कथयन्त्याचार्याः।
आज्ञया अधिगमेन वा श्रद्धानं यत् पदार्थानाम् ॥ २६४ ॥

अर्थ—आचार्यों ने उस सम्यग्दर्शन के दो भेद बतलाये है अथवा तीन भेद बतलाये है। भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए पदार्थो का जो श्रद्धान भगवान की आज्ञा प्रमाण कर लिया जाता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं और किसी के उपदेश द्वारा जो पदार्थो का श्रद्धान किया जाता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है। इसके सिवाय सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज ये भी दो भेद हैं। जो सम्यग्दर्शन बिना किसी उपदेश के प्रगट हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो सम्यग्दर्शन किसी के उपदेश से प्रगट होता है उसको अधिगमज कहते हैं। इस प्रकार निमित्त कारण के भेद से दो भेद हो जाते हैं।

आगे सम्यग्दर्शन के तीन भेद दिखलाते हैं।

खयउवसमं च खइयं उवसम सम्मत्तपुण्णु च उद्दिट्ठं।
अविरइ विरयाणं पि य विरयाविरयाण ते हुंति ॥२६५ ॥

क्षयोपशमं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्त्वं पुनश्चोद्दिष्टम् ।
अविरतानां विरतानामपि च विरताविरतानां तानि भवन्ति।२६५

अर्थ—क्षायिक क्षायोपशमिक और औपशमिक ये तीन सम्यग्दर्शन के भेद हैं। ये तीनों प्रकार के सम्यग्दर्शन अविरत सम्यग्दृष्टी विरताविरत और विरत इन सबके होते हैं।

आगे सम्यग्दर्शन किस प्रकार प्रकट होता है, सो दिखलाते हैं।

कोह चउक्कं पढमं अणंत बंधीणिणामयं भणियं ।
सम्मत मिच्छत्तं सम्मा मिच्छत्तयं तिण्णि ॥ २६६ ॥

क्रोधचतुष्कं प्रथमं अनन्तानुबन्धिनामकं भणितम् ।
सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं त्रीणि ॥ २६६ ॥

एएसिं सत्तण्हं उवसम करणेण उवसमं भणियं ।
खयओ खइयं जायं अचलत्तं णिम्मलं सुद्धं ॥ २६७ ॥

एतेषां सप्तानामुपशमकरणेन उपशमं भणितम् ।
क्षयतः क्षायिकं जातं अचलत्वं निर्मलं शुद्धम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ ये चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियां तथा मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियां ये सात प्रकृतियाँ सम्यग्दर्शन को घात करने वाली हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन होता है तथा इन्हीं सातों प्रकृतियों के अत्यंत क्षय होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन

प्रगट होता है। यह क्षायिक सम्यग्दर्शन अचल है अर्थात् फिर कभी नष्ट नहीं होता सदा अनंतानंत कालतक विद्यमान रहता है तथा अत्यंत निर्मल है और अत्यंत शुद्ध है।

आगे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को कहते हैं।

उदयाभाओ जत्थ य पयडीणं ताण सव्वघादीणं।
छण्णाण उवसमो विय उदओ सम्मत्त पयडीए ॥२६८॥
उदयाभावो यत्र च प्रकृतीनां तासां सर्वघातिनीनाम्।
षण्णां उपशमोपि च उदयः सम्यक्त्व प्रकृतेः ॥ २६८ ॥
खय उवसमं पउत्तं सम्मत्तं परम वीयराएहिं।
उवसमिय पंक सरिसं णिच्चं कम्मक्खवण हेउं ॥२६९॥
क्षयोपशमं प्रोक्तं सम्यक्त्वं परम वीतरागैः।
उपशांत पंक सदृशं नित्यं कर्म क्षपण हेतुः ॥ २६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सात प्रकृतियां जो जो ऊपर बतलाई हैं उन में से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ और मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वघाती हैं और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नाम की एक प्रकृति देश घाती है। ऊपर लिखी छह प्रकृतियां सम्यग्दर्शन को घात करने वाली हैं इसलिये वे सर्वघाती कहलाती हैं और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नामकी प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नहीं करती किंतु उसमें चल मलिन और अगाढ इन दोषों को उत्पन्न कर देती है।

परिणामों में चंचलता होने को चल दोष कहते हैं, मलिनता होने को मलिन कहते हैं और अत्यंतगाढ श्रद्धान नहीं होना अगाढ दोष है। जब ऊपर लिखी हुई सर्वघाती छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय हो जाता है अर्थात छहों प्रकृतियों का उदय नहीं रहता तथा आगे उदय होने वाली इन्हीं छह प्रकृतियों के उपशम होने से और देश घाती सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। ऐसा भगवान वीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है। जिस प्रकार किसी वर्तन में मिट्टी मिला पानी रक्खा हो तथा उसमें फिटकरी डाल दी जाय तो उसकी मिट्टी नीचे बैठ जाती है पानी निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार जिस जीव के ऊपर लिखी हुई सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाता है उसके औपशमिक सम्यग्दर्शन हो जाता है परंतु जिस प्रकार हवा चलने पर वह निर्मल पानी फिर गदला हो जाता है उसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त के अनंतर ही उन सातों प्रकृतियों का उदय हो जाता है और वह औपशमिक सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जिस वर्तन का पानी निर्मल होगया है मिट्टी पूर्ण रूप से नीचे बैठ गई है उसका पानी यदि किसी दूसरे वर्तन में लेलिया जाय तो उस निर्मल पानी में थोडा सा भी गदलापन नहीं रहता वह पानी पूर्ण रूपसे निर्मल हो जाता है इसी प्रकार क्षायिक सम्यग्दर्शन पूर्ण रूप से निर्मल होता है। उसमें फिर कभी भी गदलापन वा अशुद्धता नहीं आती। जिस गंदले पानी की अधिकतर मिट्टी नीचे बैठ गई है और थोडासा गदलापन

उस पानी में रहगया है उसी पानी को दूसरे वर्तन में लेलिया जाय तो उसमें थोडा गदलापन रहता ही है इसी प्रकार क्षायोप शमिक सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल और शुद्ध नहीं होता किंतु उसमें चल मलिन अगाढ़ दोष रहते हैं। सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से ये दोष हो जाते हैं। तथापि इस क्षायोप-शमिक सम्यग्दर्शन के प्रगट हो जानेपर सदाकाल कर्मों का क्षय होता ही रहता है। अन्य सम्यग्दर्शनों के समान यह सम्यग्दर्शन भी कर्मों के क्षय होने का कारण है।

आगे जो इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को नहीं मानता वह अज्ञानी है ऐसा दिखलाते हैं।

जो ण हि मण्णइ एयं खय उवसम भावजो य सम्मत्तं।
सो अण्णाणी मूढो तेण ण णायं समयसार ॥ २७० ॥
यो नहि मन्यते एतत् क्षयोपशम भावजं च सम्यक्त्वम्।
स अज्ञानी मूढस्तेन न ज्ञातं समयसारम् ॥ २७० ॥
जम्हा पंच पहाणा भावा अत्थित्ति सुत्त णिद्दिट्ठा।
तम्हा खय उवसमिए भावे जायं तु तं जाणे ॥ २७१ ॥
यस्मात्पंच प्रधाना भावाः सन्तीति सूत्र निर्दिष्टाः।
तस्मात्क्षयोपशमेन भावेन जातं तु तत् ज्ञातव्यम् ॥२७१॥

अर्थ—जो पुरुष इस क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होने वाले परिणामों को नहीं मानता, समझना चाहिये कि वह अज्ञानी और मूर्ख है, तथा वह पुरुष आत्मा के स्वरूप को भी नहीं

जानता। इस का भी कारण यह है कि सिद्धांत सूत्रों में अथवा उमास्वामी कृत तत्त्वार्थ सूत्र में वा उसकी समस्त टीकाओं में जीवों के प्रधान भाव पांच प्रकार के बतलाये हैं। औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पांच भाव बतलाये हैं। इसलिये क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन के विना पाचों भावों की पूर्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये क्षायोपशमिक भाव और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन मानना अत्यावश्यक है।

आगे सम्यग्दर्शन का स्वरूप बतलाते हैं।

तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं।
परमप्पह कहियाणं परमप्पा दोसपरिचित्तो ॥ २७२ ॥
तत्सम्यक्त्वमुक्तं यत्र पदार्थानां भवति श्रद्धानम्।
परमात्म कथितानां परमात्मा दोष परित्यक्तः ॥ २७२ ॥

अर्थ—परम परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ देव श्रीजिनेन्द्र देव हैं उनके कहे हुए समस्त तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। वह परमात्मा वा श्रीजिनेन्द्रदेव समस्त दोषों से रहित ही होते हैं।

दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविह लोयम्मि।
सामण्णा सयल जणे तेसिं अहावेण परमप्पा ॥ २७३ ॥
दोषा क्षुधादयो भणिता अष्टादश भवन्ति त्रिविधलोके।
सामान्या सकलजने तेषामभावेन परमात्मा ॥ २७३ ॥

ये कहे हुए क्षुधादिक अठारह दोष सामान्य रीति से तीनों लोकों के समस्त जीवों में रहते हैं। जब इन समस्त दोषों का नाश हो जाता है तभी यह जीव परमात्मा हो सकता है।

भावार्थ—परमात्मा वही हो सकता है जो वीतराग और सर्वज्ञ हो। तथा वीतराग वही हो सकता है जो अठारह दोषों से रहित हो और विना वीतराग हुए सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिये जो अठारह दोषों से रहित होता है वही परमात्मा होता है।

आगे परमात्मा के भेद बतलाते हैं।

सो पुण दुविहो भणिओ सयलो तह णिकलोत्ति णायव्वो।
सयलो अरुह सरूवो सिद्धो पुण णिकलो भणिओ॥
स एषः द्विविधः भणितः सकलः तथा निष्कलः ज्ञातव्यः।
सकलः अर्हत्स्वरूपः सिद्धः पुनः निष्कलः भणितः॥ २७४

अर्थ—वह परमात्मा दो प्रकार का है। एक सकल परमात्मा और दूसरा निकल परमात्मा। यहां पर कल शब्द का अर्थ शरीर है। जो शरीर सहित हो ऐसे अरहंत भगवान को सकल परमात्मा कहते हैं तथा शरीर रहित सिद्ध भगवान को निकल परमात्मा कहते हैं।

जस्स ण गोरी गंगा कावालं णेव विसहरो कंठे।
ण य दप्पो कंदप्पो सो अरुहो भण्णए रुद्दो॥
यस्य न गौरी गंगा कपालं नैव विषधरः कण्ठे।
न च दर्पः कंदर्पः सोर्हन् भण्यते रुद्रः॥ २७५॥

अर्थ—जिनमें साथ न गौरी पार्वती है न गङ्गा है न हाथ में कपाल है न कण्ठ में सर्प है न जिनको अभिमान है और न जो कामासक्त है ऐसे भगवान अरहंत देव को ही महादेव कहना चाहिये।

जस्स ण गया ण चक्कं णो संखो णेय गोविसंघाओ।
णवयरइ दहवयारे सो अरुहो भण्णए विण्हू ॥
यस्य न गदा न चक्रं न शंखः नैव गोपीसंघातः।
नावतरति दशावतारे सोऽर्हन् भण्यते विष्णुः ॥ २७६ ॥

अर्थ—जिनके हाथ में न गदा है, न चक्र है, न शंख है, न जिनके साथ अनेक गोपियों का समुदाय है और न जो दश अवतार लेते हैं ऐसे भगवान अरहंत देव को ही विष्णु समझना चाहिये।

ण तिलोत्तमाय छलिओ णय वयभट्ठो ण चउमुहो जादो।
ण य रिच्छीए रत्तो सो अरुहो वुचए बंभो ॥
न तिलोत्तमया छलितः न च व्रतभ्रष्टो न चतुर्मुखो जातः।
न ऋच्छ्यां रक्तः सोऽर्हन् उच्यते ब्रह्मा ॥ २७७ ॥

अर्थ—जो भगवान न तो तिलोत्तमा के द्वारा ठगे जाते हैं न अपने तपश्चरण से कभी भ्रष्ट होते हैं न कामासक्त होकर चार मुख बनाते हैं और न रीछिनी के साथ कामासक्त होते हैं ऐसे वे अरहंत देव ही ब्रह्मा कहलाते हैं।

भावार्थ—भगवान अरहंत देव ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश कहलाते हैं वे भगवान मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं इसलिये ब्रह्मा कहलाते हैं, अपने केवल ज्ञान के द्वारा लोक अलोक सबमें व्याप्त रहते हैं अपने ज्ञान के द्वारा सबको जानते हैं इसलिये विष्णु कहलाते हैं और वे सर्वोत्कृष्ट देव हैं इन्द्रादिक देव भी आकर उनको नमस्कार करते हैं इसलिये वे महादेव कहलाते हैं। अरहंत देव के सिवाय और कोई भी ब्रह्मा विष्णु महादेव नहीं हैं।

आगे अरहंत देव के कहे हुए पदार्थों को कहते हैं।

तेणुत्त णवपयत्था अण्णे पंचत्थिकाय छद्दव्वा ।
आणाए अधिगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥
तेनोक्तनव पदार्थान् अन्यानि पंचास्तिकायषड्द्रव्याणि ।
आज्ञयाधिगमेन च श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम् ॥ २७८ ॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव ने नौ पदार्थ बतलाये हैं पांच अस्तिकाय बतलाये हैं और छह द्रव्य बतलाये हैं इन समस्त पदार्थों को जो भगवान की आज्ञा प्रमाण श्रद्धान करता है अथवा इन सबका स्वरूप जानकर श्रद्धान करता है उस श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

भावार्थ—ये सब पदार्थ भगवान जिनेन्द्र देव ने कहे हैं। तथा इनका स्वरूप भी भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है भगवान जिनेन्द्र देव वीतराग सर्वज्ञ हैं। जो वीतराग सर्वज्ञ होता है वह कभी मिथ्या उपदेश नहीं देता। इस प्रकार भगवान की आज्ञा

प्रमाण जो तत्वों का श्रद्धान करता है उसको आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं तथा तत्वों का यथार्थ स्वरूप समझकर श्रद्धान करता है वह अधिगम सम्यक्त्व है ।

आगे सम्यग्दर्शन का और भी स्वरूप कहते हैं ।

संकाइदोसरहियं णिस्संकाईगुणज्जुअं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥
शंकादि दोषरहितं निःशंकादिगुणयुतं परमम् ।
कर्मनिर्जराहेतु तच्छुद्धं भवति सम्यक्त्वम् ॥ २७६ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दर्शन शंका आदि आठ दोषों से रहित होता है और निःशंकित आदि आठ गुणों से सुशोभित होता है उसको परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कहते हैं । ऐसा परम शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मों की निर्जरा का कारण होता है ।

भावार्थ—शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ दृष्टि, अनुपगूहन, अस्थिति करण अवात्सल्य और अप्रभावना ये आठ दोष हैं तथा इनके विपरीत वा इनका त्याग करने से निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति करण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ गुण प्रगट होते हैं । भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए मोक्ष मार्ग में वा देव गुरु शास्त्र के स्वरूप मे वा तत्वों में "यह सत्य है वा नहीं" इस प्रकार की शंका करना दोष है । तथा ऐसी शंका कभी नहीं करना उस पर अटल श्रद्धान रखना निःशंकित गुण है इसको निःशंकित अंग कहते हैं । धर्म सेवन

कर वा भगवान की पूजा कर वा दान देकर किसी प्रकार की इच्छा करना आकांक्षा दोष है तथा ऐसी आकांक्षा न करना निःकांक्षित गुण है। किसी मुनि के मलिन शरीर को देखकर ग्लानि करना विचिकित्सा दोष है और ग्लानि न करना किन्तु उनके गुणों में अनुराग रखना निर्विचिकित्सा गुण है। सब देवों को वा सब साधुओं को मानना मूढदृष्टि दोष है और भगवान जिनेन्द्र देव के सिवाय किसी को देव नहीं मानना, निर्ग्रंथ गुरु के सिवाय अन्य किसी को गुरु नहीं मानना, भगवान जिनेन्द्र देव के वचनों को ही शास्त्र मानना अमूढ दृष्टि गुण है। किसी बालक वा अशक्त पुरुष के द्वारा धर्म कार्य में कोई दोष भी आजाय तो उसको प्रगट कर देना अनुपगूहन दोष है और प्रगट न करना उपगूहन अङ्ग वा गुण है। यदि कोई धर्मात्मा अपने कार्यो से श्रद्धान वा चारित्र से गिरता हो उसे छोड़ता हो तो उसे गिरने देना अस्थिति करण दोष है और उसको धर्म में लगा देना चारित्र वा श्रद्धान से भ्रष्ट न होने देना स्थिति करण गुण वा अङ्ग है। धर्मात्मा पुरुषों मे रत्नत्रय धारण करनेवाले पुरुषों में अनुराग न रखना दोष है और अनुराग रखना वात्सल्य नाम का गुण वा अङ्ग है। धर्म की प्रभावना नहीं करना दोष है और धर्म की प्रभावना करना प्रभावना गुण है। इस प्रकार संक्षेप से आठ दोष और आठ गुण बतलाये। येही आठ गुण सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग कहलाते हैं।

इसके सिवाय सम्यग्दर्शन मे आठ मद तीन मूढता और छह अनायतन ये सत्रह दोष और हैं तथा इनका त्याग सत्रह गुण हो

जाते है इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण कहलाते हैं। संक्षेप से इनका स्वरूप इस प्रकार है। ज्ञान का अभिमान करना, अपने बड़प्पन का मद करना, कुल का मद, जाति का मद, बल का मद, ऋद्धि वा विभूतियों का मद करना. तपश्चरण का मद करना, और अपने शरीर का मद करना ये मद दोष हैं तथा इन आठों का मद न करना आठ गुण हो जाते है। देव मूढता गुरु मूढता और लोक मूढता ये तीन मूढता है। कुदेवों की सेवा करना बालू पत्थर के ढेर लगाकर पूजना देव मूढता है, निर्ग्रंथ मुनियों को छोड़कर अन्य रागी द्वेषी गुरुओं को मानना गुरु मूढता है और नदी समुद्र में नहाना, पर्वत से गिरकर नदी में डूबकर मर जाना सती होना आदि सब लोक मूढता है।

इन तीनों मूढताओं का त्याग कर देना तीन गुण हो जाते हैं। कुदेव कुशास्त्र और कुगुरुओं को मानना तथा उनकी सेवा करने करने वालों को मानना छह अनायतन है और इन छहों का त्याग कर देना छह आयतन सम्यग्दर्शन के गुण हो जाते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष और पच्चीस गुण बतलाये।

आगे सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में प्रसिद्ध होने वाले पुरुषों के नाम कहते हैं।

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ।
चंपाए णिक्कंखा वणिधूवाणंतमइणामा ॥

राजगृहे निःशंकश्चौरो नाम्ना अंजनो भणितः ।
चम्पायां निष्कांक्षा वणिक्सुताऽनन्तमती नाम्नी ॥ २८० ॥

अर्थ—राजगृह नगर में एक अंजन नाम का चोर था वह निशंकित अंग में प्रसिद्ध हुआ है। तथा चंपापुर नगर में एक सेठ की पुत्री अनंतमती थी वह निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध हुई है।

णिव्विदिगिञ्छो राया उद्दायणो णाम रउरवे णयरे ।
रेवइ महुराणयरे अमूढ दिट्ठी मुणेयव्वा ॥
निर्विचिकित्से राजा उद्दायनो नाम रौरवे नगरे ।
रेवती मथुरा नगरे अमूढदृष्टिर्मन्तव्या ॥ २८१ ॥

अर्थ—रौरव या रुद्रवर नगर का उद्दायन नाम का राजा निर्विचिकित्सा अंग मे प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगर में रेवती रानी अमूढदृष्टि अंग में प्रसिद्ध हुई है।

ठिदिकरणगुणपउत्तो मगहा णयरम्मि वारिसेणो हु ।
हत्थिणिपुरम्मिणयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥
स्थितीकरणगुणप्रयुक्तो मगधनगरे वारिषेणो हि ।
हस्तिनापुरे नगरे वात्सल्यं विष्णुना रचितम् ॥ २८२ ॥

अर्थ—मगध नगर मे वारिषेण नाम का राजपुत्र स्थिति करण अंग में प्रसिद्ध हुआ है। हस्तिनापुर नगर में विष्णुकुमार मुनि वात्सल्य अङ्ग में प्रसिद्ध हुए हैं।

उवगूहणगुण जुत्तो जिणदत्तोणाम तामलित्तिणयरीए ।
वज्ज कुमारेणकया पहावणा चेव महुराए ॥
उपगूहन गुणयुक्तो जिनदत्तो नाम ताम्रलिप्ति नगर्याम् ।
वज्रकुमारेण कृता प्रभावना चैव मथुरायाम् ॥ २८२ ॥

अर्थ—ताम्रलिप्त नगर का रहने वाला सेठ जिनदत्त उपगूहन अङ्ग में प्रसिद्ध हुआ है और मथुरा नगर में वज्रकुमार मुनि ने जैन धर्म की प्रभावना कराकर प्रभावना अङ्ग में प्रसिद्धि पाई थी इन सब महापुरुषों की सुन्दर कथाएं अन्य शास्त्रों से जान लेनी चाहिये।

एरिस गुण अट्ठ जुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो ।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणोपयत्थाणं ॥
एतादृशाष्टगुणयुक्तं सम्यक्तं यो धारयतिदृढचित्तः ।
स भवति सम्यग्दृष्टिः श्रद्धानः पदार्थानाम् ॥ २८४ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर जो सम्यग्दर्शन के आठ गुण बतलाये हैं उनके साथ चित्त की दृढता पूर्वक सम्यग्दर्शन धारण करता हुआ भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए पदार्थों का श्रद्धान करता है वह जीव सम्यग्दृष्टी कहलाता है। आगे नौ पदार्थों के नाम कहते हैं।

ते पुण जीवा जीवा पुण्णं पावो य आसवो य तहा ।
संवर णिज्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णव होंति ॥

ते पुनः जीवाजीवौ पुण्यं पापश्च आस्रवश्च तथा ।
संवरो निर्जराऽपि च बंधो मोक्षश्च नव भवन्ति ॥ २८५ ॥

अर्थ—जीव अजीव आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नौ पदार्थ हैं ।

आगे जीवका स्वरूप कहते हैं ।

जीवो अणाइ णिच्चो उवओग संजुदो देहमित्तो य ।
कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥
जीवोऽनादिः नित्यः उपयोगसंयुतो देहमात्रश्च ।
कर्ता भोक्ता चेतयता न तु मूर्तः स्वभावोर्ध्वगतिः ॥ २८६॥

अर्थ—यह जीव अनादि है, अनिधन है, उपयोग स्वरूप है शरीर के प्रमाण के समान है, कर्ता है भोक्ता है चेतना सहित है अमूर्त है और स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करने वाला है ।

पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं ।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तगुण समावण्णो ॥
प्राण चतुष्क प्रयुक्तः जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम् ।
जीवति वर्तमाने जीवत्वगुणसमापन्नः ॥ २८७ ॥

अर्थ—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण कहलाते हैं ये चारों प्राण बाह्य प्राण हैं और इस संसारी जीव के चारों प्राण रहते हैं । जो जीव पहले जीवित था अब जीवित है

और आगे जीवित रहेगा वह जीव कहलाता है। इस प्रकार जो ऊपर लिखे चारों प्राणों से जीवित रहता है वह जीवत्वगुण सहित जीव कहलाता है।

पज्जाएणवि तस्स हु दिट्ठा आवत्ति देहगहणम्मि।
अधुवत्तं पुण दिट्ठं देहस्स विणासणे तस्स ॥
पर्यायेणापि तस्य हि दृष्टा आवृत्तिः देहग्रहणे।
अध्रुवत्वं पुनः दृष्टं देहस्य विनाशने तस्य ॥ २८८ ॥

अर्थ—यह संसारी जीव अनेक पर्यायें धारण करता रहता है उसी के समान उसका आकार होजाता है। इस जीव में संकोच विस्तार होने की शक्ति है। जैसे दीपक घड़े मे रख दिया जाय तो उसका प्रकाश उतना तथा उसे ही कमरे मे रखने पर बढ़ कर उस कमरे के समान हो जाता है। इसी प्रकार जीव छोटा शरीर धारण करता है तब संकुचित होकर छोटे आकार वाला उसी छोटे शरीर के समान होजाता है और जब बड़ा शरीर धारण करता है तो विस्तृत होकर उस बड़े शरीर के समान हो जाता है। यद्यपि जीव नित्य है कभी नष्ट नहीं होता तथापि शरीर के नाश होने से तथा दूसरा शरीर धारण कर लेने से वह अनित्य कहा जाता है इसके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिये कि ऊपर जो चार प्राण बतलाये हैं उनके दस भेद हो जाते हैं क्यों कि स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियों के भेद हैं तथा आयु और श्वासोच्छ्वास को मिला कर दश भेद हो जाते हैं। इनमें से एकेन्द्रिय जीव के स्पर्शन इन्द्रिय

कायबल आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां तथा कायबल वचन बल और आयु श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। तेइन्द्रिय जीव के स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियां कायबल वचनबल आयु श्वासोच्छ्वास ये सात प्राण होते हैं चौइन्द्रिय जीव के एक चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है इसलिये आठ प्राण होते हैं। असैनी पंचेन्द्रिय जीव के पांचों इन्द्रियां काय बल वचन बल आयु श्वासोच्छ्वास ये नौ प्राण होते हैं तथा सैनी पंचेन्द्रिय जीव के दशों प्राण होते हैं। मन सहित जीवों को सैनी कहते हैं और मन रहित जीवों को असैनी कहते हैं। यह सब जीवों का स्वरूप व्यवहार नय से बतलाया है। निश्चय नय से जिसके ज्ञान-दर्शन रूप चेतना गुण हो उसको जीव कहते हैं। यह चेतना गुण संसारी मुक्त दोनों प्रकार के जीवों में रहता है।

आगे जीव के उपयोग गुण को कहते हैं।

सायारो अणायारो उवओगो दुविह भेय संजुत्तो।
सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणायारो ॥
साकारोऽनाकार उपयोगो द्विविध भेदसंयुक्तः।
साकारोऽष्टविधः चतुः प्रकारोऽनाकारः ॥ २८९ ॥

अर्थ—आत्मा के ज्ञान दर्शनरूप भावों को उपयोग कहते हैं। उस उपयोग के दो भेद हैं एक साकार उपयोग दूसरा अनाकार उपयोग। साकार उपयोग के आठ भेद हैं और अनाकार उपयोग के चार भेद हैं।

आगे साकार उपयोग को कहते हैं।

मइ सुइ उवहि विहंगा अण्णाण जुदाणि तिण्ण णाणाणि।
सम्मण्णाणाणि पुणो केवल दट्ठाणि पंचेव ॥
मतिश्रुतावधि विभंगानि अज्ञानयुक्तानि त्रीणि ज्ञानानि।
सम्यग्ज्ञानानि पुनः केवलदृष्टानि पंचैव ॥ २६० ॥

अर्थ—कुमति ज्ञान कुश्रुत ज्ञान और कुअवधि ज्ञान वा विभंगावधि ज्ञान ये तीनों ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाते है। तथा भगवान जिनेन्द्र देव ने सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाये हैं।

आगे सम्यग्ज्ञान के पांच भेद बतलाते हैं।

मइणाणं सुयणाणं उवही मणपज्जयं च केवलयं।
तिण्णिसया छत्तीसा मई सुयं पुण वारसंगगयं ॥
मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिः मनः पर्ययं च केवलम्।
त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् मतिः श्रुतं पुनः द्वादशांगगतम् ॥

अर्थ—मति ज्ञान श्रुत ज्ञान अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान ये पांच ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं इनमें से मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हैं तथा श्रुत ज्ञान के बारह अंग कहलाते हैं।

भावार्थ—मति ज्ञान के अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार भेद हैं। किसी पदार्थ को जानने के लिये सबसे पहले किसी भी

इन्द्रिय से उसका दर्शन होता है इस दर्शन के अनंतर जो प्रथम ज्ञान होता है उसको अवग्रह कहते हैं। जैसे दूर से देखकर यह पुरुष है ऐसा ज्ञान होना अवग्रह है। अवग्रह होने के अनंतर उसके विशेष जानने की इच्छा को ईहा ज्ञान कहते हैं जैसे यह पुरुष दक्षिणी होना चाहिये। यह ईहा ज्ञान है। फिर यह दक्षिणी ही है ऐसे निश्चय रूप ज्ञान को अवाय कहते हैं और फिर उसको न भूलना धारणा है। यह चारों प्रकार का ज्ञान बहुत से पदार्थों का होता है, बहुत प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है, एक पदार्थ का होता है, एक प्रकार के पदार्थों का होता है, देखने मात्र से शीघ्र हो जाता है, देर से होता है, किसी एक भाग को जानकर शेष छिपे पदार्थ का ज्ञान होता है। प्रगट पदार्थ का होता है बिना कहे हुए (बिना सुने) पदार्थ का ज्ञान होता है कहे हुए का ज्ञान होता है। ध्रुवरूप ज्ञान होता है और अध्रुवरूप ज्ञान होता है। इस प्रकार बारह प्रकार से होता है और इस प्रकार मतिज्ञान के अड़तालीस भेद हो जाते हे। ये अड़तालीस भेद पांचों इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं इस प्रकार दोसौ अठासी भेद हो जाते हे। अवग्रह के अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह ये दो भेद हैं। पदार्थों के स्पष्ट ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हे और स्पष्टता रहित ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं। किसी मिट्टी के सकोरे में एक दो तीन बूंदें डालने से स्पष्ट नहीं होतीं उनका ज्ञान होना व्यंजनावग्रह है और चौथी वा पांचवी बूंद के स्पष्ट होने पर अर्थावग्रह है। ऊपर दोसौ अठासी भेद अर्थावग्रह के हैं। ऊपर व्यंजनावग्रह के ईहा अवाय धारणा नहीं होते तथा बहुत पदार्थों का वा एक पदार्थ का ज्ञान

आदि बारह प्रकार का ज्ञान होता है और वह ज्ञान नेत्र और मन से नहीं होता केवल चार इन्द्रियों से होता है। इसलिये उसके अड़तालीस भेद होते हैं। इस प्रकार दो सौ अठ्यासी अर्थावग्रह के भेद और अडतालीस व्यंजनावग्रह के भेद मिल कर तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं।

श्रुतज्ञान के बारह अंग इस प्रकार हैं।

आचारांग, सूत्र कृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति अंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विपाक सूत्रांग, और दृष्टि वादांग। ये बारह अंग कहलाते हैं।

आगे अवधिज्ञान के भेद बतलाते हैं।

देसावहि परमावहि सव्वावहि अवहि होइ तिभेया।
भव गुण कारणभूया णायव्वा होइ णियमेण॥
देशावधिः परमावधिः सर्वावधिः अवधिः भवति त्रिभेदः।
भवगुण कारणभूतः ज्ञातव्यो भवति नियमेन॥ २६२॥

अर्थ—देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस प्रकार तीन प्रकार का अवधिज्ञान होता है। इनमें उत्तरोत्तर जानने की शक्ति अधिक होती है। देशावधि के और परमावधि के उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य ये तीन तीन भेद हैं। सर्वावधि का कोई भेद नहीं है। देशावधि के वर्द्धमान हीयमान अवस्थित अनवस्थित

अनुगामी अननुगामी अप्रतिपाती प्रतिपाती इस प्रकार आठ भेद होते हैं। सर्वावधि के अवस्थित अनुगामी अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद होते हैं।

आगे मनः पर्यय ज्ञान को कहते हैं।

मणपज्जयं च दुविहं रिउ विउलमइ तहेव णायव्वं।
केवलणाणं एक्कं सव्वत्थ पयासयं णिच्चं॥
मनः पर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमती तथैव ज्ञातव्यः।
केवलज्ञानं एकं सवर्थ प्रकाशकं नित्यम्॥ २६३॥

अर्थ—मनः पर्ययज्ञान के दो भेद हैं। एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। जो दूसरे के मन में ठहरे हुए सूक्ष्म वा स्थूल पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने उसको मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं। जो सरल मन में ठहरे हुए पदार्थों को जाने वह ऋजुमति है और जो कुटिल मन में ठहरे हुए पदार्थों को भी जान ले वह विपुलमति है।

अर्थ—ऋजुमति से विपुलमति अधिक और अधिक शुद्ध है। केवल ज्ञान एक है। वह नित्य है अनंत काल तक रहता है और लोक अलोक सब को प्रकाशित करता है सब को जानता है।

एसो अट्ठपयारो णाणुवओगो हु होइ सायारो।
चक्खु अचक्खू ओही केवलसहिओ अणायारो॥
एषोष्टप्रकारो ज्ञानोपयोगो हि भवति साकारः।
चक्षुरचक्षुरवधिः केवल सहितोऽनाकारः॥ २६४॥

अर्थ—इस प्रकार ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं और वह ज्ञानोपयोग साकार है। अनाकार या आकार रहित उपयोग के चार भेद हैं अनाकार उपयोग दर्शन को कहते हैं। दर्शन के चार भेद हैं। चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन। किसी पदार्थ को चक्षुओं से देखने को चक्षुर्दर्शन कहते हैं। चक्षु के सिवाय अन्य इन्द्रियों से देखना अचक्षुर्दर्शन है अवधि ज्ञान के साथ अवधि ज्ञान से पहले होने वाले दर्शन को अवधि दर्शन कहते हैं और केवल ज्ञान के साथ होने वाले दर्शन को केवल दर्शन कहते हैं। इस प्रकार उपयोग के बारह भेद बतलाये।

आगे आत्मा का आकार बतलाते हैं।

जम्हि भवे जे देहं तम्हि भवे तप्पमाणओ अप्पा।
संहार वित्थर गुणो केवलणाणीहि उद्दिट्ठो ॥
यस्मिन् भवे यो देहः तस्मिन् भवे तत्प्रमाण आत्मा।
संहार विस्तारगुणः केवलज्ञानिभिः उद्दिष्टः ॥ २९५ ॥

अर्थ—इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह आत्मा अनेक योनियों मे अनेक प्रकार के छोटे बड़े शरीर धारण करता है। जिस भव मे जैसा छोटा या बड़ा शरीर धारण करता है उस शरीर के प्रमाण के समान ही आत्मा का आकार हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस आत्मा में सकोच और विस्तार होने की शक्ति है। इसीलिये छोटे शरीर मे जाता है तो संकुचित होकर छोटा आकार हो जाता है और बड़े शरीर में बड़ा हो जाता है।

आगे यह जीव कर्त्ता भोक्ता है यह दिखलाते हैं।

जो कत्ता सो भुत्ता ववहार गुणेण होइ कम्मस्स ।
ण हु णिच्छएण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं ॥
यः कर्त्ता सभोक्ता व्यवहार गुणेन भवति कर्मणाम् ।
न तु निश्चयेन भणितः कर्त्ता भोक्ता च कर्मणाम् ॥२६६॥

अर्थ—यह जीव व्यवहार नयसे ज्ञानावरणादि कर्मों का कर्त्ता है और यही आत्मा अपने आप किये हुए उन कर्मों के फलका भोक्ता है। निश्चय नयसे न तो वह कर्मों का कर्ता है और न उन के फलका भोक्ता है। निश्चय नयसे वह अपने शुद्ध स्वभावों का कर्ता है और उन्हीं शुद्ध स्वभावों का भोक्ता है।

आगे और भी कहते हैं।

कम्ममलछाइओवि य ण मुयइ सो चेयण गुणं किं पि ।
जोणी लक्खगओ वि य जहि कणयं कद्दमे खित्तं ॥
कर्ममलच्छादतोयि न जानाति चेतनगुण किपपि ।
योनिलक्षगतोपि च यथा कर्दमे क्षिप्तम् ॥२६७॥

अर्थ—यह संसारी आत्मा चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ कर्म रूपी मलसे आच्छादित हो रहा है इसलिये जिस प्रकार कीचड में पडा हुआ सोना जाना नहीं जा सकता उसी प्रकार यह संसारी आत्मा अपने शुद्ध चेतना के स्वरूप को भी नहीं जानता है।

आगे और भी कहते हैं ।

सुहमो अमुत्तिवंतो वण्णगंधाइफासपरिहीणो ।
पुग्गलमज्झिगओ वि य ण्य मिल्लइ णियसब्भावं ॥
सूक्ष्मोऽमूर्तिमान् वर्णगंधादि स्पर्श परिहीनः ।
पुद्गलमध्यगतोपि च न च मुंचति निजकस्वभावम् ॥२६८॥

अर्थ—यह आत्मा अत्यंत सूक्ष्म है अमूर्त है वर्ण रसगंध स्पर्श इनपुद्गलों के चारो गुणों से रहित है। यद्यपि वह पुद्गलमय शरीर में रहता है पुद्गलमय ज्ञाना वरणादि कर्मों से मिला हुआ है तथापि वह अपने स्वभाव को कभी नहीं छोडता है। भावार्थ- आत्मा का स्वभाव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूप है यद्यपि वह ज्ञान दर्शन स्वभाव कर्मों से ढका हुआ है। यद्यपि वह नष्ट नहीं होता, बना ही रहता है। अथवा आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है वह भी आत्मा में बना रहता है। कर्मों के उदय से उसकी विभाव परणति हो जाती है तथापि वास्तविक शुद्धता बनी ही रहती है।

आगे और भी कहते हैं।

सब्भावे णुड्ढगई विदिसं परिहरिय गइ चउक्केण ।
गच्छेइ कम्मजुत्तो सुद्धो पुण रिज्जुगइ जाई ॥
स्वभावेनोर्ध्वगतिः विदिशां परिहृत्य गतिचतुष्केन ।
गच्छति कर्मयुक्तः शुद्धः पुनः ऋजुगतिं याति ॥२६९॥

अर्थ—इस जीव का स्वभाव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करना है। परंतु जो कर्म सहित जीव हैं वे विग्रह गति में चारों विदिशाओं को छोडकर शेष छहों दिशाओं में गमन करते हैं। तथा जो शुद्ध जीव हैं वे ऋजुगति से ऊर्द्ध गमन ही करते हैं। भावार्थ-आकाश के प्रदेशों की पंक्ति ऊपर से नीचे पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण इस प्रकार छहों दिशाओं में हैं तथा विग्रह गति में जीवों की गति आकाश के प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार होती है इसलिये वह छह दिशाओं में ही होती है विदिशाओं में नहीं होती।

आगे विग्रह गति मे होने वाली गतिको दिखलाते हैं।

पाणि विमुत्ता लंगलि वंकगई होइ तह य पुण तइया।
कम्माण काय जुत्तो दो तण्णि य कुणइ वंकाइ ॥
पाणिविमुक्ता लांगलिका वक्रगतिः भवति तथा च पुनः तृतीया।
कार्मणकापयुक्तः द्वित्रीणि करोति वक्राणि ॥३००॥

अर्थ—पाणिमुक्ता, लांगलिका और गोमूत्रिका इस प्रकार वक्र गति के तीन भेद हैं। विग्रह गति में इस जीव के कार्मण शरीर रहता है। केवल कार्मण शरीर को धारण करने वाले जीव एक दो या तीन मोड लेते हैं। भावार्थ-एक शरीर को छोडकर जब यह जीव दूसरा शरीर धारण करने के लिये जाता है तब

उसकी उस गति को विग्रह गति कहते हैं। उस समय जो वाणके समान सीधी गति होती है उसको इषु गति वा ऋजुगति कहते हैं। हाथसे फेंके हुए पत्थर के समान जिसमें एक मोड़ लेनी पडती है उसको पाणिमुक्ता गति कहते हैं हलके मोड के समान जिसमें दो मोड लेनी पडती है उसको लांगलिका गति कहते हैं और चलते हुए बैल के मूत्र के समान जिसमें तीन मोड लेनी पडे उसको गोमूत्रिका गति कहते हैं। ऋजुगति वाला जीव जिस समय में निकलता है उसी समय में दूसरा शरीर प्राप्त कर लेता है। पाणि-मुक्ता गति वाला जीव दूसरे समय में पहुंचता है। एक समय उसका मोड लेने में लग जाता है। लांगलिका गति वाला तीसरे समय में पहुंचता है उसको दो समय दो मोड लेने में लगजाते हैं। गोमूत्रिका गतिवाला जीवचौथे समय में शरीर प्राप्त करता है उसको तीन समय तीन मोड लेने में लग जाते हैं। विग्रह गतिमें ऋगति वाला जीव निराहार नहीं रहता जिस समय निकलता है उसी समय पहुंचकर आहार ग्रहण कर लेता है। पाणिमुक्ता गति वाला एक समय निराहार रहता है। चौथे समय में पहुंच कर आहार वर्गणाएं ग्रहण कर लेता है।

तइए समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं।
सुरणर णारदयाणं तिरियाणं चेव लेसवसो॥
तृतीये समये गृह्णाति चिरकृत कर्मोदयेन स देहम्।
सुरनरनारकाणां तिरश्चां चैव लेश्यावशः॥३०१॥

अर्थ—अपनी अपनी लेश्याओं के निमित्त से देव मनुष्य तिर्यंच देव आदि गतियों में अपने चिरकाल से उपार्जित किये कर्मों के उदय से जैसा शरीर धारण करना है वह शरीर पहले ही समय में वा दूसरे समय में वा तीसरे समय में अथवा चौथे समय में धारण कर लेता है।

सुह दुक्खं भुंजंतो हिंडदि जोणीसु सयसहस्सेसु।
एयदिय वियलिंदिय सयलिंदिय पज्ज पज्जत्तो॥
सुखदुःखं भुंजानः हिण्डते योनिषु शतसहस्त्रेषु।
एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय पर्याप्तापर्याप्तः॥३०२॥

अर्थ—यह संसारी जीव इस प्रकार एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पचेन्द्रिय पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के सुख और दुःख भोगता रहता है।

इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से जीव तत्त्व का निरूपण किया।

आगे अजीव पदार्थों को कहते हैं।

होंति अजीवा दुविहा रूवा रूवा य रूवि चउ भेया।
खंधंच तहा देसो खंधपदेसो य परमाणू॥
भवन्ति अजीवा द्विविधा रूप्यरूपाश्च रूपिणश्चतुर्भेदः।
स्कंधश्च तथादेशः स्कंध प्रदेशाश्च परमाणुः॥३०३

अर्थ—अजीव पदार्थों दो के भेद हैं एक रूपी और दूसरा अरूपी। उनमें रूपी पदार्थ एक पुद्गल है शेष सब अरूपी हैं। रूपी पुद्गल द्रव्य के भी दो भेद हैं एक परमाणु और दूसरा स्कंध। स्कंध के फिर तीन भेद होते हैं। स्कंध, स्कध देश और स्कंधप्रदेश। पुद्गलका सब से छोटा भाग परमाणु कहलाता है। उसके फिर टुकडे नहीं होते। वह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। वह एक प्रदेशी ही कहलाता है उसमें और प्रदेश नहीं होते। वही एक प्रदेश, आदि है वही मध्य है और वही अंत है। उसमें एक रस रहता है एक गंध रहता है एक वर्ण रहता है और दो स्पर्श रहते है। वह अत्यंत सूक्ष्म होता है और अन्य स्कंधादिकों का कारण भूत होता है। अनंतानंत परमाणु मिलकर जब बंधरूप परिणत हो जाते हैं तब उसको स्कंध कहते हैं। स्कंध के आधे भागको देश कहते हैं और देश के आधे भागको प्रदेश कहते हैं। जिसको पकड सकें, कहीं रखसके, फेंकसके इस प्रकार काम में आने वाले पृथ्वी जल वायु अग्नि आदि सब स्कंध पुद्गल हैं बहुत से ऐसे भी स्कंध हैं जो सूक्ष्म होते हैं पकडने में नहीं आते परंतु अनंत परमाणुओं के समूह से बने होते हैं।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

णिहिला वपं च खंधा तस्स य अद्धं च वुचदे देसो।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागीहोद परमाणु ॥
निखिला वहवश्च स्कन्धः तस्यचअर्धं च उच्यते देशः।
अर्धार्धं च प्रदेशोऽविभागी भवति परमाणुः ॥३०४॥

अर्थ—समस्त परमाणुओं का पिंड स्कंध कहलाता है, उसका आधा देश कहलाता है, उसका भी आधा प्रदेश कहलाता है और जिसका फिर विभाग न होसके ऐसे सबसे छोटे भागको परमाणु कहते हैं।

आगे अन्य अजीव पदार्थों को कहते हैं।

धम्माधम्मागासा अरूविणो होंति तह य पुण कालो।
गइ ठाण कारणाविय उग्गाहण वत्तणा कमसो ॥
धर्माधर्माकाशाः अरूपा भवन्ति तथा च पुनः कालः।
गतिस्थान कारणमपि चावगाहनस्य वर्तनायाः क्रमशः॥३०५॥

अर्थ—धर्म अधर्म आकाश और काल ये पदार्थ अरूपी हैं और इसीलिये ये अमूर्त हैं। इनमेंसे धर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की गति में कारण है, अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों की स्थितिमें कारण है, आकाश द्रव्य समस्त द्रव्यों को अवकाश देने मे कारण है और काल द्रव्य द्रव्यों की पर्याय बदलने मे कारण है।

आगे इसी बातको विशेष रूप से दिखलाते हैं।

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पव त्ताण कारणं धम्मो।
जह मच्छाणं तोयं थिरभूया णेवसो णेई ॥
जीवानां पुद्गलानां गति प्रवृत्तानां कारणं धर्मः।
यथा मत्स्यानां तोयं स्थिरीभूतान् नैव स नयति ॥३०६॥

अर्थ—गमन करने की शक्ति जीव और पुद्गल इन दोनों पदार्थों में है। जिस प्रकार गमन करने की शक्ति मछली में है तथापि वह बिना पानी के गमन नहीं कर सकती। उसकी गतिमें पानी सहायक है उसी प्रकार गमन करने मे प्रवृत्त होने वाले जीव पुद्गलों को धर्म द्रव्य सहायक होता है धर्म द्रव्य एक अमूर्त पदार्थ है और वह समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है। वह आकाश के समान एक अखंड द्रव्य है और मछलियों को पानी के समान जीव पुद्गलों को गमन करने में सहायक होता है। परंतु जो जीव पुद्गल ठहरे हुए हैं उनको न तो चलाता है न चलने की प्रेरणा करता है। यदि वे चलते हैं तो सहायक हो जाता है।

आगे अधर्म द्रव्य को कहते हैं।

ठिदि कारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ जह छाया।
पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं णेव सो धरई॥
स्थिति कारणं अधर्मः विश्रामस्थानं च भवतियथा छाया।
पथिकानां वृक्षस्य च गच्छतः नैव स धरति॥३०७॥

अर्थ—धर्म द्रव्य के समान ही अधर्म द्रव्य है अरूपी और समस्त लोकाकाश में व्याप्त है। वह जीव पुद्गलों को ठहरने में सहायक होता है। जिस प्रकार गमन करते हुए पथिकों के लिये विश्राम स्थान में ठहरने के लिये वृक्षकी छाया सहायक होती

है उसी प्रकार जो जीव पुद्गल गमन करते हुए ठहर जाते हैं। वा ठहरे हुए हैं उनको ठहरने में अधर्म द्रव्य सहायक हो जाता है। जिस प्रकार छाया गमन करने वाले पथिक को रोकती नहीं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी गमन करने वाले जीव पुद्गलों को रोकता नहीं।

आगे आकाश द्रव्य को कहते हैं।

सव्वेसिं दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं।
तं पुणु दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए॥
सर्वेषां द्रव्याणामवकाशं ददाति तच्चाकाशम्।
तत्पुनः द्विविधं भणितं लोकालोकं च जिनसमये॥३०८॥

अर्थ– जो जीव अजीव आदि समस्त पदार्थों को अवकाश देने में समर्थ है उसको आकाश कहते हैं। भगवान श्री जिनेन्द्र-देव ने उसके दो भेद बतलाये हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। भावार्थ–आकाश एक अखंड अरूपी द्रव्य है तथा वह सर्वत्र व्याप्त है। उसमें से आकाश के मध्यभाग में लोकाकाश है। जितने आकाश में धर्म अधर्म द्रव्य भरे हुए हैं उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाश और अलोका-काशका विभाग करने वाला धर्म द्रव्य ही है। जितने आकाश में द्रव्य हैं उतना ही आकाश लोकाकाश है। उसी लोकाकाश में जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आदि समस्त द्रव्य भरे हुए हैं। जितने आकाश में जीवादिक पदार्थ दिखाई पड़े उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं।

आगे काल द्रव्य को कहते हैं ।

वत्तणगुण जुत्ताणं दव्वाणं होइ कारणं कालो ।
सो दुविह भेय भिण्णो परमत्थो होइ ववहारो ॥
वर्तनागुणयुक्तानां द्रव्याणां भवति कारणं कालः ।
स द्विविधभेदभिन्नः परमार्थो भवति व्यवहारः ॥३०९॥

अर्थ—जो जीवादिक द्रव्य प्रति समय परिवर्तन स्वरूप होते हैं उनके उस परिवर्तन में काल द्रव्य कारण है । उस काल के दो भेद है एक परमार्थ काल और दूसरा व्यवहार काल ।

आगे परमार्थ काल को कहते हैं ।

परमत्थो कालाणू लोयपदेसे हि संठिया णिच्चं ।
एक्केक्के एक्केका अपएसा रयण रासिव्व ॥
परमार्थः कालाणवः लोकप्रदेशे हि संस्थिता नित्यम् ।
एकैकस्मिन् एकैका अप्रदेशा रत्नानां राशिरिव ॥३१०॥

अर्थ—काल के जो अणु हैं उनको परमार्थ काल कहते हैं । वे कालाणु लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु ठहरा हुआ है । इसलिये लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं । वे कालाणु आपसमें मिलते नहीं है किंतु रत्नों की राशिके समान अलग अलग ही रहते हैं । इन्ही कालाणुओं को परमार्थ काल कहते हैं । इन्ही कालाणुओं से व्यवहार काल प्रगट

होता है। पुद्गल का एक परमाणु जितने समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश तक पहुंचता है उतनी देर को एक समय कहते हैं।

यही बात आगे कहते हैं।

वट्टण कालो समओ पुग्गलपरमाणु वाण संजाओ।
ववहारस्स य मुक्खो उप्पणो तीद भावी स ॥
वर्तनाकालः समयः पुद्गलपरमाणूनां संजातः।
व्यवहारस्य च मुख्यः उत्पद्यमानोऽतीतो भावी ॥३११॥

अर्थ—वर्तना काल जो मुख्य काल है। उससे व्यवहार काल उत्पन्न होता है। कालाणु अणु रूप है इसलिये उससे उत्पन्न हुआ व्यवहार काल भी सबसे छोटा समय रूप ही होता है। तथा वह व्यवहार काल पुद्गल परमाणुओं के निमित्त से होता है। अर्थात् एक पुद्गल का परमाणु जितनी देर में एक कालाणु से दूसरे कालाणु तक जाता है तथा मंद गति से जाता है तब एक एक समय होता है। ऐसे समय अनंतानंत बीतगये और आगे अनंतानंत समय होंगे। इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्य के भेद से उस व्यवहार काल के तीन भेद हो जाते हैं।

आगे व्यवहार काल के और भी भेद कहते हैं।

तेसिं पि य समयाणं संखारहियाण आवली होई।
संखेज्जा वलि गुणिओ उस्सासो होइ जिणदिट्ठो ॥

तेषामपि च समयानां संख्यारहितानां आवली भवति ।
संख्यातावली गुणित उच्छ्वासो भवति जिनदृष्टः ॥३१२॥

अर्थ—असंख्यात समयों की एक आवली होती है तथा संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

सत्तुस्सासे थोओ सत्त त्थोएहि होइ लव इक्को ।
अट्ठतीसद्ध लवा णाली वेणालिया मुहुत्तं तु ॥
सप्तोच्छ्वासेन स्तोकः सप्तस्तोकैः भवति लव एकः ।
अष्ट त्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिका मुहूर्तस्तु ॥३१३॥

अर्थ—सात उच्छ्वासों का एक स्तोक होता है। सात स्तोकों का एक लव होता है। साढ़े अड़तीस लवों की एक नाली होती है और दो नालियों का एक मुहूर्त होता है।

तीस मुहुत्तो दिवसो पणदह दिवसेहि होइ पक्खं तु ।
विहि पक्खेहि य मासो रिउ एक्का वेसि मासेहिं ॥
त्रिंशन्मुहूर्तं दिवसं पंच दशदिवसैः भवति पक्षस्तु ।
द्वाभ्यां पक्षाभ्यां च मासः ऋतुरेको द्वाभ्यां मासाभ्याम्॥३१४॥

अर्थ—तीस मुहूर्त का एक दिन होता है, पंद्रह दिन का एक पक्ष होता है दो पक्ष का एक महीना होता है और दो महीने की एक ऋतु होती है।

रिउ तिय भूयं अयणं अयणा जुवलेण होइ वरिमोक्को ।
इय ववहारो उत्तो कमेण विद्धिं गओ विविहो ॥
ऋतु त्रिभूतमयनं अयन युगलेन भवति वर्ष एकः ।
एष व्यवहार उक्तः क्रमेण वृद्धिंगतो विविधः ॥३१५॥

अर्थ—तीन ऋतु का एक अयन होता है और दो अयनों का एक वर्ष होता है। इस प्रकार अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ अनेक प्रकार का व्यवहार काल कहा है।

एयं तु दव्वछक्कं जिणेहि पंचत्थिकाइयं भणियं ।
वज्जिय कायं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ॥
एतत्तु द्रव्य षट्कं जिनैः पंचास्ति कायिकं भणितम् ।
वर्जयित्वा कायं कालं कालस्य प्रदेशो नास्ति ॥३१६॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव ने छह द्रव्यों का स्वरूप कहा है। इन छहों द्रव्यों में से काल को छोडकर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। जिनकी सत्ता हो उनको अस्ति कहते हैं और जो काय वा शरीर के समान अनेक प्रदेश वाला हो उसको काय कहते हैं। जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश ये पांचों द्रव्य बहु प्रदेशी हैं इसलिये अस्तिकाय कहलाते हैं। काल के प्रदेश नहीं है वह एक ही प्रदेशी है इसलिये उसको अस्तिकाय नहीं कहते हैं।

जे पुण रूवी दव्वं गंधरसफास वण्ण संजुत्तं ।
लहि ऊण जीव चिट्ठा कारणयं कम्मवंधस्स ॥
यत्पुनः रूपि द्रव्यं गंधरसस्पर्शवर्णसंयुक्तम् ।
लब्ध्वा जीवस्थितं कारणं कर्मवंधस्य ॥३१७॥

अर्थ—स्पर्श रस गंध वर्ण इन चारों गुणों सहित जो रूपी पुद्गल द्रव्य है वह जीव में रहने वाले शुभ अशुभ भावों को पाकर कर्म बंध का कारण हो जाता है। भावार्थ–पुद्गलका एक भेद कर्मवर्गणा है। वे समस्त संसार में फैली हुई हैं। जब यह जीव अनेक शुभ वा अशुभ भाव करता है तभी वे वर्गणाएं उन शुभ अशुभ भावों को निमित्त पाकर कर्म रूप परिणत हो जाती और इस प्रकार वे ही कर्म वर्गणाएं कर्म बंध का कारण बन जाती हैं। इस प्रकार अजीव पदार्थ का निरूपण किया।

अब आगे पुण्य पाप को कहते हैं।

सम्मत्तसुदवएहि य कसाय उवसमण गुणसमाउत्तो ।
जो जीवो सो पुण्णं पावं विवरीय दोसाओ ॥
सम्यक्त्वश्रुतव्रतैः कषायोपशमनगुणसमायुक्तः ।
यो जीवः स पुण्य पाप विपरीत दोषतः ॥३१८॥

अर्थ—जब यह जीव सम्यग्दर्शन को धारण कर लेता है, भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों को जानलेता है, व्रतों को धारण कर लेता है और जिसकी कषायें सब शांत हो जाती हैं

उस समय वह जीव पुण्यरूप कहलाता है अर्थात् ऊपर लिखे सब कारणों से पुण्य कर्म की प्राप्ति होती है तथा उसके विपरीत हिंसा आदि पाप करना, मिथ्यात्व धारण करना मिथ्या शास्त्रों का अध्ययन करना आदि पाप कहलाते हैं। आठ कर्मों में से साता वेदनीय, शुभ नाम, ऊंच गोत्र, और शुभ आयु ये पुण्य कर्म है तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, असाता वेदनीय, अशुभ नाम, अशुभ आयु और नीच गोत्र ये पाप कर्म हैं। इस प्रकार संक्षेप में पुण्य पाप का स्वरूप कहा।

आगे आस्रव संवर का स्वरूप कहते हैं।

गिरि णिग्गउ णइवाहो पविसइ सरम्मि जहाणवरयं।
लहिऊण जीव चिठ्ठा तह कम्मं भावि आसवई॥
गिरि निर्गत नदी प्रवाहः प्रविशति सरसि यथानवरतम्।
लब्ध्वा जीवस्थितं तथा कर्म भावि आस्रवति॥३१९॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी नदी का प्रवाह किसी पर्वत से निकलता है और वह किसी सरोवर में निरंतर प्रवेश करता रहता है, उसी प्रकार जीव के शुभ अशुभ परिणामों को पाकर आगामी काल के लिये कर्मों का आस्रव होता रहता है।

आसवइ सुहेण सुहं असुहं आसवइ असुह जोएण।
जइ णइजलं तलाए समलं वा णिम्मलं विसई॥

आस्रवति शुभेन शुभं अशुभमास्रवति अशुभ योगेन ।
यथा नदी जलं तडागे समलं वा निर्मलं विशति ॥३२०॥

अर्थ—कर्मो का आस्रव मन वचन काय इन तीनों योगों से होता है। अशुभ योगों से अशुभ कर्मों का आस्रव होता है और शुभ योगों से शुभ कर्मों का आस्रव होता है। मन वचन काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो प्रवृत्ति सम्यक्त्व रूप होती है व्रत चारित्र रूप होती है वह शुभ प्रवृत्ति कहलाती है इसी को शुभ योग कहते हैं। शुभ योगों से पुण्य कर्मो का आस्रव होता है तथा जो प्रवृत्ति हिंसा झूट चोरी कुशील परिग्रह रूप होती है, राग द्वेष मोह रूप होती है वह अशुभ प्रवृत्ति कहलाती है इसी को अशुभ योग कहते हैं, और ऐसे अशुभ योगों से पाप कर्मों का आस्रव होता है।

आगे संवर को कहते हैं।

आसवइ जं तु कम्मं मण वय काएहि रायदोसेहिं।
ते संवरइ णिरुत्तं तिगुत्तिगुत्तो णिरालंबो ॥
आस्रवति यत्तु कर्म मनोवचन कायै रागद्वेषैः ।
तत्संवृणोति निरुक्तं त्रिगुप्ति गुप्तो निरालम्बः ॥३२१॥

अर्थ—रागद्वेष पूर्वक होने वाली मन वचन काय की क्रियाओं से जिन कर्मों का आस्रव होता है वे कर्म उन मन वचन काय की क्रियाओं को रोक देने से फिर नहीं आते। इस का

भी कारण यह है कि कर्मों के आने के लिये मन वचन काय की क्रियाएं ही कारण होती हैं यदि वे क्रियाएं सर्वथा रोक दी जायं तो फिर उन कर्मो के आने के लिये कारण वा आलंबन ही नहीं रहता है। बिना आलंबन या कारण के वे कर्म आही नहीं सकते। इसी को संवर कहते हैं। वह संवर तीनों प्रकार की गुप्तियों से होता है। मन की क्रिया को सर्वथा रोक देना मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काय की क्रिया को सर्वथा रोक देना काय गुप्ति है। इन तीनों गुप्तियों के पालन करने से संवर होता है।

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं असुह सुह य दायारं।
लद्धे सुद्ध सहावे सुसंवरो उहयकम्मस्स ॥
यावत्संकल्पविकल्पः तावत्कर्म अशुभशुभदातृ।
लब्धे शुद्धस्वभावे सुसंवरः उभयकर्मणः ॥३२२॥

अर्थ—इस जीव में जब तक सकल्प विकल्प होता है तब तक शुभ कर्म वा अशुभ कर्म आते ही रहते हैं। शुभ संकल्पों से शुभ कर्म आते हैं और अशुभ संकल्प से अशुभ कर्म आते हैं। जब दोनों प्रकार के संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं तब शुभ अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का संवर हो जाता है।

णट्ठे मणसंकप्पे इंदियवावारवज्जिए जीवे।
लद्धे सुद्ध सहावे उभयस्स य संवरो होई ॥
नष्टे मनः संकल्पे इन्द्रियव्यापारवर्जिते जीवे।
लब्धे शुद्ध स्वभावे उभयस्य संवरो भवति ॥३२३॥

अर्थ—जिस जीव के मन के समस्त संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, समस्त इंद्रियों के व्यापार नष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट हो जाता है तब दोनों प्रकार के शुभ अशुभ कर्मों का संवर हो जाता है। इस प्रकार संक्षेप में संवर का स्वरूप कहा।

आगे वंध का स्वरूप कहते हैं।

जीव कम्माण उहयं अण्णोण्णं जो पएस पवेसो हु।
सो जिणवेरहि वंधो भणिओ इय विगयमोहेहिं ॥
जीवकर्मणोरुभयोरन्योन्यः यः प्रदेशप्रवेशस्तु।
स जिनवरैः बन्धो भणित इति विगत मोहैः ॥३२४॥

अर्थ—जीव के प्रदेश और कर्म के प्रदेश दोनों ही जब एक दूसरे के साथ परस्पर मिल जाते हैं उस को मोह रहित भगवान जिनेन्द्रदेव बंध कहते हैं।

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा।
होंति घणा णिविभूया सो वंधो होइ णायव्वो ॥
जीवप्रदेशो एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशा हि अन्तपरिहीनाः।
भवन्ति घना निविडभूताः स बन्धो भवति ज्ञातव्यः ॥३२५॥

अर्थ—जीव के एक एक प्रदेश के साथ अनन्तानंत कर्मवर्गणाएं बंधी हुई हैं और वे सब वर्गणाएं घनीभूत अंधकार के समान इकट्ठी होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ बंधी हैं। इस प्रकार जो

आत्मा और कर्मों के प्रदेश परस्पर मिले हुए हैं उसको बंध समझना चाहिये।

आगे यह कर्म बंध इस जीव के साथ कबसे है और कैसे होता है सो कहते हैं।

अत्थि हु अणाइभूयो बंधो जीवस्स विविह कम्मेण।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण रायदोसमओ॥
अस्त्यनादि भूतो बन्धो जीवस्य विविधकर्मणः।
तस्योदयेन जायते भावः पुना रागद्वेषमयः॥३२६॥

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गंति।
जह तुप्पियपत्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति॥
भावेन तेन पुनरपि अन्ये बहवः पुद्गला हि लगन्ति।
यथा घृतपात्रस्य च निविडा रेणवो लगन्ति॥३२७॥

अर्थ—इस संसारी जीव के साथ अनेक प्रकार के कर्मों का बंध अनादि काल से लगा हुआ है जब उन कर्मों का उदय होता है तब इस जीव के परिणाम राग द्वेष रूप हो जाते हैं। तब राग द्वेष रूप परिणामों के निमित्त से फिर अनेक अन्य पुद्गल कर्म वर्गणाएं जीव के साथ कर्म बंध रूप परिणत हो जाती हैं। जिस प्रकार घीके चिकने वर्तन पर धूल आ आ कर चिपक जाती है इसी प्रकार राग द्वेषरूप परिणामों के होते ही मन वचन काय की क्रियाओं के द्वारा फिर अनेक प्रकार के कर्मों का बंध

हो जाता है। इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों के उदय से राग द्वेष रूप परिणाम होते हैं और राग द्वेष रूप परिणामों से फिर कर्मों का बंध होता है। यह परंपरा मोक्ष प्राप्त होने तक बराबर चलती रहती है।

एकसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेयेहिं।
परिणवइ आयु कम्मं बद्धं भूयाउ सेसेण ॥
एक समयेन बद्धं कर्म जीवेन सप्तभेदैः।
परिणमति आयुः कर्म बद्धं भूतायुःशेषेण ॥३२८॥

अर्थ—जीव के साथ प्रत्येक समय में बंधे हुए कर्म सात भेदों में बंट जाते हैं। ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय नाम गोत्र अंतराय इन सातों कर्मों में बट जाते हैं। आयु कर्म का बंध त्रिभाग में अर्थात् आयु के दो भाग बीत जाने पर होता है तथा उस समय भी आयु कर्म का बंध हो अथवा और भी आगे हो वा अंत समय में हो। जब आयु कर्म का बंध हो जाता है तब उसको भी भाग मिलने लगता है। इस प्रकार कर्मों का बंटवारा होता है।

आगे बंध के भेद बतलाते हैं।

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होइ सुत्तणिद्दिट्ठो।
पयडि ट्ठिदि अणुभागो पएसबंधो पुरा कहिओ ॥

स बन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति सूत्र निर्दिष्टः ।
प्रकृति स्थित्यनुभाग प्रदेश बंधः पुरा कथितः ॥३२९॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए सिद्धांत शास्त्रों में वह बंध चार प्रकार का कहा है। तथा प्रकृतिबंध स्थितिबंध अनुभाग बंध और प्रदेशबंध ये बंध के चार भेद हैं।

णाणाण दंसणाणं आवरणं वेयणीय मोहणियं ।
आउस्स णाम गोदं अंतरायाणि पयडीओ ॥
ज्ञानानां दर्शनानां आवरणं वेदनीयं मोहनीयम् ।
आयुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायः प्रकृतयः ॥३३०॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय ये आठ प्रकृतिबंध के भेद हैं।

आगे इनके भेद कहते हैं।

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं ।
जह पडिमोवरि खित्तं छायणयं होइ कप्पडयं ॥
ज्ञानावरणं कर्म पंचविधं भवति सूत्र निर्दिष्टम् ।
यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं छादनकं भवति कर्पटकम् ॥३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी प्रतिमा के ऊपर कपड़े का आच्छादन डाल देने से प्रतिमा ढक जाती है उसी प्रकार जो आत्मा

के ज्ञान गुण को ढक लेता है उसको ज्ञानावरण कर्म कहते है। उस ज्ञानावरण कर्म के पांच भेद हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण, और केवल ज्ञानावरण। ऐसा सिद्धांत सूत्र में कहा है।

दंसण आवरणं पुण जह पडिहारो विणिवइ वारम्मि।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाएहिं सुत्तम्मि ॥
दर्शनावरणं पुनः यथा प्रतिहारो वारयति द्वारे।
तन्नवविधं प्रोक्तं स्फुटार्थवादिभिः सूत्रे ॥३३२॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रतिहार वा द्वारपाल द्वारपर बैठा रहता है और राजा के दर्शन नहीं होने देता। जाने वालों को द्वारपर ही रोक देता है उसी प्रकार जो आत्मा के दर्शन गुण को प्रकट न होने दे, उसको ढकले, उसको दर्शना वरण कर्म कहते हैं। उस दर्शना वरण कर्म के नौ भेद हैं। इस प्रकार स्पष्टवादी भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने सिद्धांत सूत्रों में कहा है। चक्षु दर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्त्यान गृद्धि ये नौ भेद दर्शनावरण के हैं।

मोहेइ मोहणीयं जह मइरा अहव कोद्दवा पुरिसं।
तह अडवीस विभिण्णं णायव्वं जिणुवएसेण ॥

मोहयति मोहनीयं यथा मदिरा अथवा कोद्रवं पुरुषम् ।
तथा अष्टाविंशति विभिन्नं ज्ञातव्यं जिनोपदेशेन ॥३३३॥

अर्थ—जिस प्रकार मद्य पुरुषों को मोहित कर देता है, अथवा कोदों पुरुषों को मोहित कर देता है उसी प्रकार जीवों को जो मोहित कर देता है उसको मोहनीय कर्म कहते हैं। उस मोहनीय के अट्ठाईस भेद भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहे हैं। मोहनीय के दो भेद हैं दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं। अनतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद। इस प्रकार मोहनीय कर्म के अट्ठाईस भेद हैं।

महुलित्त खग्ग सरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु ।
सायासाय विभिण्णं सुह दुक्खं देइ जीवस्स ।
मधुलिप्त खड्गसदृशं द्विविधं पुनः भवति वेदनीयं तु ।
सातासात विभिन्नं सुखदुःखे ददाति जीवाय ॥३३४॥

अर्थ—जिस प्रकार शहद लपेटी तलवार की धार चाट लेने पर मीठी लगती है परंतु जीभ कट जाने से दुःख अधिक होता है

उसी प्रकार जो कर्म जीवों को सुख दुःख देता है उसको वेदनीय कर्म कहते हैं। उसके दो भेद हैं साता वेदनीय और असाता वेदनीय। साता वेदनीय जीवों को सुख देता है और असाता वेदनीय दुःख देता है।

आऊ चउप्पयारं सुर णारय मणुय तिरिय गइबद्धं ।
हडिक्खित्त पुरिस तुल्लं जीवे भवधारण समत्थं ॥
आयु श्चतुःप्रकारं सुरनारक मनुष्य तिर्यग्गतिबद्धम् ।
हलि क्षिप्त पुरुष तुल्यं जीवे भवधारण समर्थम् ॥३३५।

अर्थ—जिस प्रकार जिसका पांव (पैर) काठ में फंसा हुआ है वह काठ उस पुरुष को कहीं जाने नहीं देता, वहीं रोक रखता है इसी प्रकार जो कर्म एक ही शरीर में रोक रक्खे उसको आयु कर्म कहते हैं। उसके चार भेद हैं देवायु, नरकायु, मनुष्य आयु और तिर्यंच आयु। यह आयु कर्म ही भव धारण कराता रहता है।

चित्तपडं व विचित्तं णाणा णामेहिं वत्तणं णामं ।
तेणवइ संखगुणियं गइ जाइ सरीर आईहिं ॥
चित्रपटवत् विचित्रं नानानामभिः वर्तनं नाम ।
त्रिनवतिः संख्यगुणितं गतिजातिशरीरादिभिः ॥३३६

अर्थ—जिस प्रकार किसी वस्त्रपर अनेक प्रकार के चित्र बनाते हैं उसी प्रकार जो गति जाति शरीर आदि अनेक नामों

को जो बनावे उसको नाम कर्म कहते हैं। उसके तिरानवे भेद हैं। देवगति, नरक, गति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति, एकेन्द्रिय जाति दोइन्द्रिय जाति, तेइन्द्रिय जाति, चौइन्द्रिय जाति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक शरीरांगोपांग, वैक्रियक शरीरांगोपांग, आहारकशरीरांगोपाग, स्थान निर्माण, प्रमाण निर्माण, आहारक शरीर बंधन आदि पांचो शरीरो के पांच बंधन, औदारिकशरीर संघात आदि पांचों शरीरों के पांच सांघत, समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोध परि मंडल संस्थान, स्वातिक संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन, संस्थान, हुंडक संस्थान, वज्र वृषभ नाराच संहनन, वज्र नाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्द्ध नाराच संहनन, कीलक संहनन असंप्राप्तासृपाटक संहनन, कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, स्निग्ध, रूक्ष, शीत उष्ण ये आठ स्पर्श, तिक्त, कटुक, कषाय, आम्ल, मधुर ये पांच रस, सुरभि, असुरभि दो गंध, कृष्ण, नील, रक्त, पीत, शुक्ल ये पांच वर्ण नरक गत्यानु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यानुपूर्वी देव गत्यानु-पूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारण, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ, अशुभ, सूक्ष्म, बादर पर्याप्तक, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति तीर्थंकरत्व ये तिरानवें प्रकृतियां नाम कर्म की हैं।

गोदं कुलाल सरिसं णिच्चुच्च कुलेसु पायणे दच्छ।
घड रंजणाइ करणे कुंभयकारो जहा णिउणो ॥

गोत्रं कुलाल सदृशं नीचोच्चकुलेषु प्रापणे दक्षम् ।
घट रंजनादि करणे कुम्भकारो यथा निपुणः ॥३३७॥

अर्थ—जिस प्रकार कुंभार छोटे या बड़े घड़े बनाने में निपुण होता है उसी प्रकार जो ऊंच गोत्र में उत्पन्न करे वह ऊंच गोत्र है और नीच कुल में उत्पन्न करे वह नीच गोत्र है। गोत्र कर्म के ये दो भेद हैं।

जइ भंडयारि पुरिसो धणं णिवारेइ रायणा दिण्णं।
तह अंतराय कम्मं णिवारणं कुणइ लद्धीणं ॥
यथा भाण्डागारी पुरुषः धनं निवारयति राज्ञा दत्तम् ।
तथान्तराय कर्म निवारणं करोति लब्धीनाम् ॥३३८॥

तं पंचभेद उत्तं दाणे लाहे य भोइ उवभोए ।
तह वीरि एण भणियं अंतरायं जिणिंदेहि ॥
तत्पंच भेद युक्तं दाने लाभे च भोगे उपभोगे ।
तथा वीर्येण भणितं अन्तरायं जिनेन्द्रैः ॥३३९॥

अर्थ—जिस प्रकार राजा के दिये हुए धन को भंडारी (खजांची) पुरुष देने नहीं देता उसी प्रकार अंतराय कर्म पांचो लब्धियों को प्राप्त नहीं होने देता, देने में निवारण कर देता है। उस अंतराय कर्म के पांच भेद हैं। दानांतराय लाभांतराय भोगान्तराय उपभोगांतराय और वीर्यांतराय। इस प्रकार भगवान

जिनेन्द्रदेव ने अंतराय कर्म के पांच भेद बतलाये हैं। इस प्रकार आठ कर्मों के एकसौ अडतालीस भेद होते हैं।

आगे अनुभाग बंध को कहते हैं।

एसो पयडीबंधो अणुभागो होइ तस्स सत्तीए।
अणुभवणं जं तीवे तिव्वं मंदे मंदाणु रूवेण॥
एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शक्त्याः।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्रं मन्दे मन्दानुरूपेण॥३४०॥

अर्थ—इस प्रकार प्रकृति बंध का स्वरूप कहा। इन प्रकृति बंध कर्मों मे जो फल देने की शक्ति है उसको अनुभाग बंध कहते हैं। यदि उन कर्मों में तीव्र फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा उदय तीव्रता के साथ होता है और यदि मंद फल देने की शक्ति है तो उसका अनुभव वा फल मंदता के साथ होता है। इनमें से योगों की मुख्यता से प्रकृति बंध होता है और कषायों की मुख्यता से अनुभाग बंध होता है प्रदेश बंध योगों की मुख्यता से होता और स्थितिबंध कषायों के निमित्त से होता है। यदि कषाय तीव्र है तो स्थिति अनुभाग बंध तीव्र होता है और यदि कषाय मंद होते हैं तो स्थिति अनुभाग मंद होता है।

आगे स्थितिबंध बतलाते हैं।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतराइयस्सेव।
तीसं कोडाकोडी सायरणामाण मेव ठिदी॥

तिसृणां खलु प्रथमाना मुत्कृष्ट मन्तरायस्य च।
त्रिंशत्कोटाकोटि सागर नाम्ना मेव स्थितिः ॥३४१॥

मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णाम गोत्तस्स।
तेतीस सागराणं उवमाओ आउसस्सेव ॥
मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुन र्भवति नामगोत्रयोः।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥३४२॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अंतराय इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर प्रमाण है मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण है, नाम गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोडाकोडी सागर है और आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है।

आगे जघन्य स्थिति बतलाते हैं।

बारसय वेयणीए णामा गोदे य अट्ठ य मुहुत्ता।
भिण्ण मुहुत्तं तु ठिदी सेमाणां सावि पंचण्हं ॥
द्वादश वेदनीये नाम गोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः।
भिन्न मुहूर्तस्तुस्थितिः शेषाणां मापि पंचानाम् ॥३४३।

अर्थ—वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, नाम और गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष पांचों कर्मों

की जघन्य स्थिति अंतर्मुहूर्त है। इस प्रकार स्थिति बंधका स्वरूप कहा।

आगे निर्जरा का स्वरूप कहते हैं।

पुव्व कय कम्म सडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवायजाया विदिया अविवाय जाया य॥
पूर्वकृतकर्मसटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाक जाता द्वितीया अविपाकजाता च॥३४४॥

अर्थ—पहले के संचित हुए कर्मों का सडना है छूटना है आत्मा से उनका संबंध हट जाना है उसको निर्जरा कहते हैं। उस निर्जरा के दो भेद हैं। एक विपाकजा और दूसरी अविपाकजा।

आगे दोनों निर्जराओं का स्वरूप कहते हैं

कालेणउवाएण पच्चंति जहा वणप्फई फलाइं।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइ कम्माइं॥
काले नोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि॥३४५॥

अर्थ—जिस प्रकार वनस्पति के आम आदि फल एक तो अपने समय के अनुसार पकते हैं और दूसरे पाल में देकर वा अन्य किसी उपाय से पकालिये जाते हैं उसी प्रकार जो कर्म अपने

समय के अनुसार स्थितिबंध पूर्ण होने पर अपना फल देकर खिर जाते हैं नष्ट हो जाते हैं उसको विपाकजा निर्जरा कहते हैं। विपाक का अर्थ फल देना है। फल देकर जो कर्म खिरते हैं उसको विपाक निर्जरा कहते हैं। तथा जो कर्म बिना फल दिये तपश्चरण के द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं वह अविपाक निर्जरा कहलाती है। इस प्रकार निर्जरा के दो भेद हैं।

इस प्रकार निर्जरा का स्वरूप कहा।

अब आगे मोक्ष का स्वरूप कहते हैं।

णिस्सेस कम्म मुक्को सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो।
रायद्दोसाभावे सहाव थक्कस्स जीवस्स ॥
निः शेष कर्म मोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः।
रागद्वेषाभावे स्वभाव स्थितस्य जीवस्य ॥३४६॥

अर्थ—जो जीव राग द्वेष का सर्वथा नाश कर देता है और अपने शुद्ध स्वभाव में स्थिर हो जाता है उस समय जो समस्त कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है उसको भगवान जिनेन्द्रदेव मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना है। यह आत्मा जो अनादि काल से कर्मों से बंधा हुआ है वह जब राग द्वेष के अभाव होने पर और शुद्ध स्वभाव में लीन होने पर समस्त कर्मों से छूट जाता है तब उसको मुक्त जीव कहते हैं। मुक्त होने पर कर्मों के साथ साथ शरीर भी नष्ट हो जाता है।

सो पुण दुविहो भणिओ एकदेसो य सव्वमोक्खो य ।
देसो चउघाइखए सव्वो णिस्सेस णासम्मि ॥
स पुनः द्विविधो भणितः एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च ।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशेषनाशे ॥३४७॥

अर्थ—वह मोक्ष दो प्रकार है। एक देश और सर्वदेश। चारों घातिया कर्मों का नाश हो जाना एक देश मोक्ष है और समस्त कर्मों का नाश हो जाना सर्वदेश मोक्ष है। भावार्थ-इन समस्त कर्मों में घातिया कर्म सबसे प्रबल हैं। इन का जब नाश हो जाता है तब शेष कर्मों का नाश अवश्य ही होता है। इनमे किसी प्रकार का संदेह नहीं है। तथा घातिया कर्मों के नाश होने पर यह जीव वीतराग सर्वज्ञ हो जाता है। अनंत दर्शन अनंत ज्ञान अनंत सुख और अनत वीर्य ये चार अनंत चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं और फिर वे अनंत चतुष्टय अनंतानत काल तक रहते हैं। इन्हीं कारणों से वे भगवान एक देश मुक्त कहलाते हैं। जब तक आयु कर्म रहता है तब तक वे उस अवस्था में रहते हैं आयु कर्म पूर्ण होने पर वे अवश्य मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार मोक्ष का स्वरूप कहा।

अब आगे अंत में फिर सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहते हैं।

एए सत्तपयारा जिणदिट्ठा भासिया मए तच्चा ।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्माइट्ठी हवे सो हु ॥

एतानि सप्त प्रकाराणि जिन दृष्टानि भणितानि मया तत्त्वानि ।
श्रद्धाति यस्तु जीवः सम्यग्दृष्टिः भवेत् स तु ॥३४८॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए सात तत्त्वों का स्वरूप अत्यंत संक्षेप से मैंने कहा। जो जीव इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान करता है वही सम्यग्दृष्टी पुरुष है।

अविरिय सम्मादिट्ठी एसो उत्तो मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं समासदो देस विरदो य ।।
अविरत सम्यग्दृष्टिः एष उक्तः मया समासेन ।
इव ऊर्ध्वं वक्ष्ये समासतो देश विरत च ।३४९।

आगे—इस प्रकार मैंने अत्यंत संक्षेप से अविरत सम्यग्दृष्टी नाम के चौथे गुण स्थान का स्वरूप कहा। अब इससे आगे संक्षेप से ही देश विरत अथवा विरताविरत नाम के पांचवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

इस प्रकार अविरत गुण स्थान का स्वरूप समाप्त हुआ।

आगे पांचवे विरताविरत गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरउत्ति णामयं भणियं।
तत्थवि खय उवसमिओ खाइओ उवसमो चेव ॥
पचमकं गुणस्थानं विरताविरत इति नामकं भणितम्।
तत्रापि क्षायोपशमिकः क्षायिकः औपशमिकश्च ॥३५०॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव ने पांचवे गुणस्थान का नाम विरताविरत बतलाया है। तथा उसमें औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव होते हैं।

आगे विरताविरत का अर्थ बतलाते हैं।

जो तसवहाउ विरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्क समयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥
यस्त्रसवधाद्विरतो नो विरतस्तथा च स्थावरवधात्।
एक समये जीवो विरताविरत इति जिनः कथयति ॥३५१

अर्थ—जो जीव त्रस जीवों की हिंसा का त्याग कर देता है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं करता वह जीव एक ही समय में विरत और अविरत वा विरताविरत कहलाता है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

इलयाइथावराणं अत्थिपवित्तित्ति विरदि इयराणं।
मूलगुणट्ठ पउत्तो वारह वयभूसिओ हु देसवई ॥

इत्यादि स्थावराणा मस्ति प्रवृत्तिरिति विरतिरितरेषाम् ।
मूलगुणाष्ट प्रयुक्तो द्वादशव्रतभूषितो हि देशयतिः ॥३५२॥

अर्थ—पांचवें गुण स्थान में रहने वाले विरताविरत जीवों की प्रवृत्ति पृथ्वी जल अग्नि वायु बनस्पति आदि स्थावर जीवों के घात करने मे होती है इसलिये वह इन स्थावर जीवों के घात का त्याग नहीं कर सकता, शेष त्रस जीवों के घात का त्याग कर देता है। इसलिये एक देश यति अथवा विरता विरत श्रावक कहलाता है वह श्रावक आठों मूलगुणों को धारण करता है और बारह वृतों से विभूषित रहता है। मद्य का त्याग, मांस का त्याग शहद का त्याग, रात्रिभोजन का त्याग, बडफल, पीपलफल, गूलर, पाकर फल, अंजीर फल इन पांचों उदंबरों का त्याग, प्रतिदिन प्रातः काल पंच परमेष्ठी को नमस्कार करना, जीवों की दया पालन करना और पानी छान कर पीना ये आठ मूल गुण कहलाते हैं। श्रावकों के लिये इनका पालन करना अत्यावश्यक है।

आगे अनुक्रम से बारह वृतों का स्वरूप कहते हैं।

हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं ।
परमहिलापरिहारो परिदमाणं परिग्गहस्सेव ॥
हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च स्थूलव्रतम् ।
पर महिलापरिहारः परिमाणं परिग्रहस्यैव ॥३५३॥

अर्थ—त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करना, सत्य बोलना, बिना दिये हुए पदार्थ को कभी ग्रहण न करना, परस्त्री सेवन त्याग और परिग्रह का परिमाण करना ये पांच अणुवृत कहलाते हैं।

दिसिविदिसि पच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो।
भोओपभोयसंखा ए एह गुणव्वया तिण्णि॥
दिग्विदिक् प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः।
भोगोपभोगे संख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि॥३५४॥

अर्थ—दिशा विदिशाओं में आने जाने का नियम धारण कर उनकी सीमा नियत कर शेष दिशा विदिशा में आने जाने त्याग करना, पांचों प्रकार के अनर्थ दंडों का त्याग करना, भोगोप भोगपदार्थों की संख्या नियत कर शेष भोगोप भोग पदार्थों का त्याग कर देना ये तीन गुण वृत कहलाते हैं। भावार्थ—चार दिशाएं, चार विदिशाएं, ऊपर नीचे ये दश दिशाएं कहलाती हैं इनकी सीमा की मर्यादा नियतकर उसके बाहर नहीं जाना चाहिये। पाप रूप कार्यों का उपदेश देना, हिंसा करने के उपकरणों का दान देना, दूसरे का बुरा चिंतन करना, मिथ्याशास्त्रों का पढना सुनना औरपंच स्थावरों की व्यर्थ हिंसा करना ये पांच अनर्थ दंड कहलाते हैं, इनमें पाप तो अधिक लगता है परंतु लाभ कुछ नहीं होता ऐसे इन अनर्थ दंडों का त्याग कर देना चाहिये। जो एक बार काम में आवे ऐसे भोजनादिक, भोग हैं। और जो

बार बार काम आवे ऐसे वस्त्रादिक उपभोग हैं। इन सब की संख्या नियत कर लेनी चाहिये। ये तीन गुणवृत कहलाते हैं। इनसे अणुवृतों के गुण वढ़ते हैं इसलिये इनको गुणवृत कहते हैं।

देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं।

अति हीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥

देवान् स्तौति त्रिकाले पर्वणि पर्वणि सुप्रोषधोपवासः।

अतिथीनां संविभागः मरणान्ते करोति सल्लेखनाम् ॥३५५॥

अर्थ—प्रातः काल मध्याह्न काल संध्याकाल इन तीनों समय में पंचमेष्ठी की स्तुति करना, प्रत्येक महीने की दो अष्टमी दो चतुर्दशी इन चारों पर्वों में प्रोषधपवास करना, प्रति दिन अतिथियों को दान देना और सल्लेखना[१] धारण करना ये चार शिक्षा वृत कहलाते हैं। इस प्रकार पांच अणुवृत तीन गुणवृत और चार शिक्षावृत ये बारह अणुवृत कहलाते हैं। देश वृती श्रावक को आठ मूलगुण और ये बारह वृत अवश्य धारण करने चाहिये। इन बारह व्रतों को उत्तर गुण भी कहते हैं।

---

१. मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहं।
संस्मर्यते पंचपद स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥

अर्थ—मित्र स्त्री विभूति पुत्र सुख गृह आदि सबसे मोहका त्याग कर अपने हृदय में पच परमेष्ठी का स्मरण करना सल्लेखना है। ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आगे मूलगुण बतलाते ह।

महुमज्जमंस विरई चाओ पुण उयंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देश विरयम्मि ॥
मधुमद्यमांस विरतिः त्यागः पुनः उदम्बराणां पंचानाम् ।
अष्टावेते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते ॥३५६॥

अर्थ—मद्य मांस मधु का त्याग और पांच उदंबरों का त्याग ये देशविरतियों के आठ मूलगुण कहलाते हैं।

आगे इस गुणस्थान में होने वाले ध्यान बतलाते हैं।

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे ।
वहु आरंभपरिग्गह जुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥
आर्त रौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने ।
वह्वारम्भ परिग्रह युक्तस्य च नास्ति तद्धर्म्यम् ॥३५७॥

अर्थ—इस पांचवे गुणस्थान मे आर्त्तध्यान रौद्रध्यान और भद्रध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान होते हैं इस गुणस्थान वाले जीव के बहुतसा आरंभ होता है और बहुतसा ही परिग्रह होता है इसलिये इस गुणस्थान मे धर्म्यध्यान नहीं होता।

धम्मेद्दएण जीवो असुहं परि चयइ सुहगई लेई ।
कालेण सुक्ख मिल्लइ इंदियवल कारणं जाणि ॥

धर्मोदयेन जीवोऽशुभं परित्यजति शुभगतिं प्राप्नोति ।
कालेन सुखं मिलति इन्द्रियबल कारणं जानीहि ॥३५८

अर्थ—धर्म सेवन करने से इस जीव के अशुभ परिणाम और अशुभ गतियां आदि नष्ट हो जाती हैं । और शुभ गति प्राप्त होती है । तथा समयानुसार इन्द्रियों को बल देने वाला सुख प्राप्त होता है ।

आगे आर्त ध्यान को बतलाते हैं ।

इट्ठ विओए अट्टं उप्पज्जइ तह अणिट्ठसंजोए ।
रोय पकोवे तइयं णियाण करणे चउत्थं तु ॥
इष्ट वियोगे आर्तं उत्पद्यते तथा अनिष्ट संयोगे ।
रोगप्रकोपे तृतीयं निदानकरणे चतुर्थं तु ॥३५९॥

अर्थ—किसी इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसके संयोग का चिंतवन करना पहला आर्तध्यान है । किसी अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसके वियोग होने का बार बार चिंतवन करना दूसरा आर्तध्यान है । किसी रोग के प्रकोप होने पर उसको दूर करने के लिये बार बार चिंतवन करना तीसरा आर्तध्यान है और निदान करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है ।

---

१. जिनेज्या पात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः ।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयात् बुधैः ॥

अट्टज्झाण पउत्तो बंधइ पावं णिरंतरं जीवो ।
मरिएण य तिरियगई को विणरो जाइ तज्झाणे ॥
आर्तध्यान युक्तो बध्नाति पापं निरन्तरं जीवः ।
मृत्वा च तिर्यग्गतिं कोऽपि नरो यातितद्ध्याने ॥३६०॥

अर्थ—इस आर्तध्यान के करने से यह जीव निरंतर पाप कर्मो का बंध करता रहता है। तथा कोई कोई मनुष्य इस आर्तध्यान के करने से तिर्यंच गति को प्राप्त होता है।

रुद्दं कसाय सहियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं ।
मोसाणंदं विदियं थेयाणंदं पुणो तइयं ॥
रुद्रं कषाय सहितं जीवः संभवति हिंसानन्दम् ।
मृषानन्दं द्वितीयं स्तेयानन्दं पुनस्तृतीयम् ॥३६१॥

हवइ चउत्थं झाणं रुद्दं णामेण रक्खणाणंदं ।
जस्स य माहप्पेण य णरयगई भायणो जीवो ॥
भवति चतुर्थं ध्यान रौद्रं नाम्ना रक्षणानन्दम्
यस्य च माहात्म्येन नरकगतिभाजनो जीवः ॥३६२॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, पात्रदान देना, तथा समयानुसार पूजा और दान की विधिकरना भद्रध्यान कहलाता है। ऐसा ध्यान यथोचित गृहस्थ धर्म में ही होता है। इसी लिये विद्वान् लोग इसे धर्म्यध्यान कहते हैं।

अर्थ—जिस जीव की कषायें अत्यंत तीव्र होती हैं उसके रौद्रध्यान होता है। उस रौद्रध्यान के चार भेद हैं। हिंसा में आनद मानना हिंसानंद रौद्रध्यान है। झूठ बोलने में आनंद मानना मृषानंद आर्तध्यान है। चोरी में आनंद मानना स्तेयानंद नामक तीसरा आर्तध्यान है। तथा बहुतसे परिग्रह की रक्षा में आन्नद मानना रक्षणानंद वा परिग्रहानंद नाम का चौथा आर्तध्यान है। इस रौद्रध्यान का चिंतवन करने से यह जीव नरक का पात्र होता है।

गिहवावाररयाणं गेहीणं इंदियत्थ परि कलियं।
अट्टज्झाणं जायइ रुद्दं वा मोह छण्णाणं ॥
गृहव्यापार रतानां गेहिनामिन्द्रियार्थ परिकलितम्।
आर्तध्यानं जायते रौद्रं वा मोहच्छन्नानाम् ॥३६३॥

अर्थ—जो गृहस्थ घर के व्यापार में लगे रहते हैं और इन्द्रियों के विपयभूतपदार्थों में संकल्प विकल्प करते रहते हैं उनके आर्तध्यान होता है तथा जिनके मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उनके रौद्रध्यान होता है।

झाणेहिं तेहि पाव उप्पण्णं तं खवइ भद्दझाणेण।
जीवो उवसम जुत्तो देस जई णाणसंपण्णो ॥
ध्यानै स्तैः पापं उत्पन्नं तत्क्षपयति भद्रध्यानेन।
जीवः उपशम युक्तो देशयतिः ज्ञानसम्पन्नः ॥३६४॥

अर्थ—इन आर्तध्यान और रौद्रध्यान से जो पाप उत्पन्न होता है उसको यह उपशम परिणामों को धारण करने वाला और सम्यग्ज्ञान का धारण करने वाला देश व्रती श्रावक अपने भद्र-ध्यान से नाश कर देता है।

आगे भद्रध्यान को कहते हैं।

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोयपरिमुक्को।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए॥
भद्रस्य लक्षणं पुनः धर्मं चिन्तयति भोग परिमुक्तः।
चिन्तयित्वा धर्मं सेवते पुनरपि भोगान यथेच्छया॥३६५॥

अर्थ—जो जीव भोगों का त्याग कर धर्म का चिंतवन करता है, और धर्म का चिंतवन करता हुआ भी फिर भी अपनी इच्छा-नुसार भोगों का सेवन करता है उसके भद्रध्यान समझना चाहिये। भावार्थ–भोगों का सेवन करता हुआ भी जो धर्म्यध्यान धारण करता है उसे भद्रध्यान समझना चाहिये।

आगे धर्म्यध्यान के भेद बतलाते हैं।

धम्मज्झाणं भणियं आणापायाविवाय विचयं च।
संठाणं विचयं तह कहियं झाणं समासेण॥
धर्म्यध्यानं भणितं आज्ञापायविपाकविचयं च।
संस्थान विचयं तथा कथितं ध्यानं समासेन॥३६६॥

अर्थ—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय ये चार अत्यंत संक्षेप से धर्म्यध्यान के भेद हैं।

आगे आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप कहते हैं।

छद्दव्वणवपयत्था सत्तवि तच्चाइं जिणवरएणाए।
चिंतइ विसय विरत्तो आणा विचयं तु तं भणियं ॥
षड्द्रव्यनवपदार्थान् सप्तापि तत्त्वानि जिनवराज्ञया।
चिन्तयति विषयविरक्तः आज्ञाविचयं तु तद् भणितम्॥३६७॥

अर्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर भगवान की आज्ञा प्रमाण छह द्रव्य, नौ पदार्थ और सात तत्त्वों का चिंतवन करता है उसको आज्ञा विचय नाम का पहला धर्म्यध्यान कहते हैं।

आगे अपाय विचय को कहते हैं।

असुह कम्मस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण।
इय चिंतंतस्स हवे अपाय विचयं परं झाणं ॥
अशुभकर्मणः नाशः शुभस्य वा भवति केनोपायेन।
एतच्चिन्तयतः भवेदपायविचयं परं ध्यानम् ॥३६८॥

अर्थ—अपाय शब्द का अर्थ नाश है। इन अशुभ कर्मों का नाश किस उपाय से होगा अथवा शुभ कर्मों का आस्त्रव किस

उपाय से होगा इस प्रकार जो जीव चिंतवन करता है उसका वह ध्यान अपाय विचय नाम का दूसरा उत्तम धर्म्यध्यान कहलाता है।

आगे विपाक विचय को कहते हैं।

असुह सुहस्स विवाओ चिंतइ जीवाण चउगइगयाण ।
विवायविचयं झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं ॥
अशुभ शुभस्य विपाकं चिन्तयति जीवानां चतुर्गति गतानाम् ।
विपाक विचयं ध्यानं भणितं तज्जिनवरेन्द्रैः ॥३६९॥

अर्थ—चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीवों के शुभ कर्मों के उदय को तथा अशुभ कर्मों के उदय को जो चिंतवन करता है उसका वह ध्यान विपाकविचय कहलाता है। ये जीव अपने अपने शुभ अशुभ कर्मों के उदय से ही सुख दुःख भोगते हैं ऐसा चिंतवन करना और इन दुखी जीवों का दुःख किस प्रकार दूर हो, ये श्रेष्ठ मार्ग में किस प्रकार लगें इस प्रकार का चिंतवन करना अपाय विचय नाम का तीसरा धर्म्यध्यान है।

आगे संस्थान विचय को कहते हैं।

अह उड्ढतिरिय लोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं ।
विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण ॥
अध ऊर्ध्व तिर्यग्लोकं चिन्तयति सपर्ययं ससंस्थानम् ।
विचयं संस्थानस्य च भणितं ध्यानं समासेन ॥३७०॥

अर्थ—संस्थान आकार को कहते हैं। लोक के तीन भाग है अधो लोक, मध्य लोक वा तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक इनका चिंतवन करना तथा इनमें भरे हुए पदार्थों का उनकी पर्यायों का उन सबके आकारों का चिंतवन करना अत्यंत संक्षेप से संस्थान विचय नाम का चौथा धर्म्यध्यान कहलाता है।

आगे यह धर्म्यध्यान कहां होता है सो कहते हैं।

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देस विरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥
मुख्यं धर्मध्यानमुक्तं तु प्रमादविरहिते स्थाने।
देश विरते प्रमत्ते उपचारेणैव ज्ञातव्यम् ॥३७१॥

अर्थ—यह धर्म्यध्यान मुख्यता से प्रमादरहित सातवें गुण स्थान में होता है तथा देश विरत पांचवें गुणस्थान में और प्रमत्त संयत छठे गुण स्थान में भी यह धर्म्यध्यान उपचार से होता है। ऐसा समझना चाहिये।

आगे दूसरे प्रकार से धर्म्यध्यान का स्वरूप कहते हैं।

दहलक्खण संजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति ॥
दशलक्षणसंयुक्तोऽथवा धर्म इति वर्णितः सूत्रे।
चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तद्धर्मध्यानमिति ॥३७२॥

अर्थ—अथवा सिद्धांत सूत्रों में उत्तमक्षमा आदि दश प्रकार का धर्म बतलाया है उन दशों प्रकार के धर्मों का चिंतवन करना भी धर्म्यध्यान कहलाता है।

अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थू पुणो न सो अप्पा।
झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिदेहिं ॥
अथवा वस्तुस्वभावो धर्मः वस्तु पुनश्च स आत्मा।
ध्यायमानानां तत् कथितं धर्म्यध्यानं मुनीन्द्रैः ॥३७३॥

अर्थ— वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं तथा वस्तुओं में वा पदार्थों में मुख्य वस्तु वा मुख्य पदार्थ आत्मा है। इसलिये उस आत्मा का ध्यान करना तथा उस के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना धर्म्यध्यान है। ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आगे इस धर्म्यध्यान के दूसरे प्रकार के भेद बतलाते हैं।

तं फुडु दुविहं भणियं सालंबं तह पुणो अणालंबं।
सालंबं पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु ॥
तत्स्फुटं द्विविधं भणितं सालम्बं तथा पुनः अनालम्बम्।
सालम्बं पंचानां परमेष्ठिनां स्वरूपं तु ॥३७४॥

अर्थ—वह धर्म्यध्यान दो प्रकार है एक आलंबन सहित और दूसरा आलंबन रहित। इन दोनों में से पंच परमेष्ठी के स्वरूप का चिंतवन करना है उसको सालंब ध्यान कहते हैं।

आगे अनुक्रमसे पंच परमेष्ठियों का स्वरूप कहते हैं।

हरिरइयसमवसरणो अट्ठमहापाडिहेर संजुत्तो।
सियकिरणविप्फुरंतो झायव्वो अरुहपरमेट्ठी ॥
हरिरचितसमवशरणोऽष्ट महाप्रातिहार्यसंयुक्तः।
सितकिरणेन विस्फुरन् ध्यातव्योऽर्हत्परमेष्ठी ॥३७५॥

अर्थ—जो इन्द्र के द्वारा बनाये हुए समवसरण में विराजमान हैं तथा आठ महा प्रातिहार्यों से सुशोभित हैं और जो अपनी प्रभाकी श्वेत किरणों से देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे भगवान जिनेन्द्रदेव को अरहंत परमेष्ठी कहते हैं ऐसे अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।

णट्ठट्ठ कम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो।
सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी ॥
नष्टाष्ट कर्मबन्धोऽष्टगुणस्थश्च लोक शिखरस्थः।
शुद्धो नित्यः सूक्ष्मः ध्यातव्यः सिद्धपरमेष्ठी ।३७६।

अर्थ—जिन के आठों कर्म सर्वथा नष्ट हो गये हैं, जो सम्यक्त्व आदि आठगुणों से सुशोभित हैं, लोक शिखर पर विराजमान हैं, जिनका आत्मा अत्यंत शुद्ध है, नित्य है, और सूक्ष्म है ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है ऐसे सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।

१छत्तीस गुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंच आयारो ।
सिस्साणुग्गह कुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी ॥
षट्त्रिंशद्गुणसमग्रः नित्यं आचरति पंचाचारम् ।
शिष्यानुग्रहकुशलः भणितः स सूरिपरमेष्ठी ॥३७७॥

अर्थ- जो छत्तीस गुणों से सुशोभित हों जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तप आचार इन पाचों आचारों का प्रतिदिन पालन करते हैं तथा जो शिष्यों के अनुग्रह करने में अत्यंत कुशल होते हैं उनको आचार्य परमेष्ठी कहते हैं ।

१—बारह तप, दश धर्म, पांच आचार, छह आवश्यक, तीन गुप्ति ये छत्तीस गुण आचार्य परमेष्ठी के हैं ।

अथवा आचार्य परमेष्ठी के ये भी छत्तीस गुण हैं ।

१ पंचाचार का पालन करना २ आधारवत्त्व ३ व्यवहारित्व ४ प्रकारकत्व ५ अपायोपायोपदेशकत्व ६ उत्पीलक ७ अपरिश्राविता ८ निर्वापक ९ नग्नत्व १० उद्देशिकाहारत्यागत्व ११ शय्याधराशनविवर्जितवृत्तिता १२ राजपिंडग्रहणविवर्जितवृत्तिता १३ कृतिकर्मनिरतत्त्व १४ व्रतारोपणयोग्यत्व १५ सर्वज्येष्ठता १६ प्रतिक्रमणपंडिताचार्यता १७ मासैकवासिता १८ वार्षिकयोगयुक्तत्व १९ अनशनतपोःयुक्तत्व २० अवमौदर्यतपोयुक्तता २१ वृत्तिपरिसंख्यानसहितत्त्व २२ रसपरित्यागपरिपुष्टता २३ विविक्तशय्यासनतपोयुक्तता २४ कायक्लेश तपोयुक्तता २५ प्रायश्चित्ताचार्यता २६ विनयनिरतत्त्व २७ वैयावृत्ति-

संयुक्तता २८ स्वाध्यायधारकता २९ व्युत्सर्गसहितता ३० ध्याननिष्ठता ३१ सामायिकसहितत्व ३२ स्तवननिरतता ३३ वंदनानिरतता ३४ प्रतिक्रमणनिरतता ३५ प्रत्याख्याननिरतता ३६ कायोत्सर्गसंगत्व।

आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस गुण

१ पंचाचार गुण—जो दर्शना चार, ज्ञाना चार, चरित्रा चार, तप अचार, और वीर्याचार इन पांचों आचारों को स्वयं पालन करे और अन्य मुनियों से पालन करावे।

२ आधारवत्व गुण—जो ग्यारह अंग नौ पूर्व अथवा दश पूर्व अथवा चौदह पूर्व श्रुतज्ञान को जानने वाले वा धारण करने वाले हो।

३ व्यवहारित्व गुण—जो सामायिक, छेदो पस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय और यथाख्यात इन पांच प्रकार के चारित्र को पालन करे तथा अन्य मुनियों से पालन करावे।

४ प्रकारकत्व गुण—समाधि मरण धारण करने वाले क्षपक साधु के लिये परिवार का काम करना उनकी परिचर्या करना प्रकारकतागुण है।

५ आपायापायोपदेशकत्व गुण—आलोचना करने वाले मुनियों के चित्त में यदि कुछ कुटिलता भी हो तो भी उनके गुण दोष दोनों को प्रकट कर दोषों का स्पष्ट करलेना।

६ उत्पीलक गुण—जिन मुनियों के हृदय में कुछ कुटिलता हो और उन्होंने अपने अतिचारों को अपने मन में छिपा रक्खा हो उन अतिचारों को भी अपनी कुशलता से बाहर प्रकट करालेना।

७ अपरिस्रावित गुण—जिस प्रकार पीया हुआ रस बाहर नहीं निकलता उसी प्रकार किसी क्षपक मुनिने अपनी आलोचना में जो दोष कहे हैं उनको कभी प्रकट नहीं करना।

८ निर्वापक गुण—जो समाधिमरण धारण करने क्षपक साधु, क्षुधा तृषा आदि परीषहों से दुखी हो रहे हों उनके उस दुःखको अनेक प्रकार की कथा सुनाकर दूर करना और इनको समाधि-मरण में दृढ करना।

९ नग्नत्व गुण—सूती ऊनी रेशमी वृक्ष के पत्ते छाल आदि सब प्रकार के वस्त्रों का त्याग कर नग्न वा दिगम्बर अवस्था धारण करना।

१० उद्देशिकाहारत्याग गुण—जो उद्देशयुक्त आहार के त्यागी हों एवं अन्य श्रमणों के लिये किये हुए आहार के भी त्यागी हों।

११ शय्याधरासन विवर्जित गुण—जो शय्या पृथ्वी आसन सबके त्यागी हों उनका संस्कार आदि भी न करते हों।

१२ राज पिंड ग्रहण विवर्जित गुण—जो राजा मंत्री सेनापति कोतवाल आदि का आहार न ग्रहण करते हों।

१३ कृति कर्म निरत गुण—जो छहों आवश्यकों को स्वयं

पालन करते हो तथा अन्य मुनियों से कराते हों।

१४ व्रतारोपण योग्य गुण—उद्देशयुक्त आहार का त्याग करने वाले, दिगम्बर अवस्था धारण करने वाले और पंच परमेष्ठी की भक्ति करने वाले आचार्य स्वयं व्रत पालन करने और अन्य मुनियों को दीक्षा देकर महाव्रतों को धारण कराने की योग्यता रखना।

१५ सर्व ज्येष्ठत्व गुण—जो आर्यिका क्षुल्लक साधु उपाध्याय आदि सब से अधिक श्रेष्ठता धारण करते हों।

१६ प्रतिक्रमण पंडितत्व गुण—जो आचार्य मन वचन कायसे किसी भी प्रकार का अपराध हो जाने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रति क्रमण करने की दक्षता धारण करने वाले हों।

१७ मासैकवासित्वगुण—जो मोह और सुख का त्याग करने के लिये किसी भी स्थान पर एक महीने से अधिक न रहते हों।

१८ वार्षिक योग युक्तत्व गुण—जीवों की रक्षा के लिए वर्षा ऋतु में चार महीने तक एक ही स्थान पर रहना।

१९ अनशन तपोयुक्तता गुण—इन्द्रियों को जीतने के लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग कर उपवास धारण करना।

२० अवमोदर्य तपो युक्तता गुण—प्रमाद दूर करने के लिये बत्तीस ग्रास न लेकर दो चार दश आदि ग्रास ही लेकर अल्प आहार लेना।

२१ वृत्ति परिसंख्यान गुण—आशा का त्याग करने के लिये किसी घर का अन्न आदि का संकल्प कर (यदि ऐसा घर होगा वा ऐसा दाता होगा वा ऐसा अन्न होगा तो आहार लूंगा नहीं तो नहीं ऐसा संकल्प कर आहार के लिये निकलना।

२२ रसपरि त्याग—दूध दही घी मीठा आदि रसों का त्याग करना।

२३ बिविक्तशय्यासन तप—जन्तुओं से रहित, स्त्रियों से रहित, मनमें विकार उत्पन्न करने वाले कारणों से रहित गुफा सूना घर आदि एकांत स्थान मे शय्या आसन आदि धारण करना।

२४ काय क्लेशत्व गुण—ग्रीष्म ऋतु में पर्वत पर, जाड़े के दिनों में वन में वा नदी के किनारे, वर्षा में वृक्ष के नीचे ध्यान धारण कर सुख की मात्रा दूर करने के लिये शरीर को कष्ट पहुंचाना।

२५ प्रायश्चित्ताचारत्व गुण—लगे हुए दोषों को शोधन करने के लिये प्रायश्चित्त लेना और व्रतों को शुद्ध रखना।

२६ विनय निरतत्त्व गुण-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को धारण कर उनका विनय करना उपचार विनय करना रत्नत्रयको धारण करने वालों का विनय करना।

२७ वैयावृत्तित्व गुण—आचार्य उपाध्याय साधु आदि दश प्रकार के मुनियों की शरीर जन्य पीडा को दूर करने के लिये उनकी सेवा सुश्रूषा करना।

२८-स्वाध्याय धारकत्वगुण-वाचना, पृच्छना: अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मो पदेश के द्वारा जिनागमका स्वाध्याय करना।

२६ व्युत्सार्गत्व गुण—बाह्याभ्यंतर परिग्रहों का त्याग करना, गुप्तियों का पालन करना।

३० ध्यान निष्ठत्व गुण—आर्त रौद्र दोनों ध्यानों का त्याग कर धर्म्यध्यान वा शुक्लध्यान को धारण करना।

३१ सामायिकत्व गुण – रागद्वेष को दूर करने के लिये छह प्रकार का सामायिक करना।

३२ स्तव निरतत्त्व गुण—प्रति दिन चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।

३३ वंदना निरतत्त्व गुण—किसी एक तीर्थंकर की स्तुति करना।

३४ प्रतिक्रमण निरतत्त्व गुण—ईर्यापथ शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण करना। दैवसिक प्रतिक्रमण करना पाक्षिक मासिक चातुर्मासिक वार्षिक प्रतिक्रमण करना।

३५ प्रत्याख्यान निरतत्त्व गुण-पूर्वोपार्जित कर्मों को नाश करने को, उदय में आये हुए कर्मों का नाश करने के लिये समस्त विकारों का त्याग करना।

३६ कायोत्सर्ग संगतत्व गुण—निद्रा तद्रा आदि दूर करने के लिये खग्डासन से योग धारण कर शरीर से ममत्व का त्याग करना।

अज्झावयगुण जुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियट्ठो ।
णिस्सेसागम कुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ ॥
अध्यापनगुणयुक्तो धर्मोपदेशकारी चर्यास्थः ।
निःशेषागमकुशलः परमेस्ठी पाठको ध्येयः ॥३७८॥

अर्थ—जो मुनि अध्यापन कार्य में शिष्यों को पढ़ाने में अत्यंत निपुण हैं जो सदा काल धर्मोपदेश देते रहते हैं जो अपने चारित्र में स्थिर रहते हैं और जो समस्त आगम में कुशल होते हैं अथवा जो द्वादशांग के पाठी होते हैं उनको उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं, ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये।

उग्गतवतविय गत्तो तियाल जोएण गमिय अहरत्तो ।
साहिय मोक्खस्स पओ झाओ सो साहु परमेट्ठी ॥
उग्रतपस्तपितगात्रः त्रिकालयोगेन गमिताहोरात्रः ।
साधितमोक्षपदः ध्येयः स साधुपरमेष्ठी ॥३७९॥

अर्थ—जो प्रतिदिन तीव्र तपश्चरण करते हैं प्रतिदिन त्रिकाल योग धारण करते हैं और सदा काल मोक्ष मार्ग को सिद्ध करते रहते हैं उनको साधु परमेष्ठी कहते हैं। ऐसे साधु परमेष्ठी ध्यान करने योग्य हैं।

आचार्य परमेष्ठी अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त देकर उनके व्रतों को निर्दोष करते हैं यह शिष्यों का सब से बड़ा उपकार है।

आगे इन के ध्यान करने का फल कहते हैं।

एवं तं सालंवं धम्मज्झाणं हवेइ नियमेण।
झायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं॥
एवं तत्सालम्बं धर्मध्यानं भवति नियमेन।
ध्यायमानानां जायते विनिर्जरा अशुभकर्मणाम्॥३८०॥

अर्थ—ऊपर लिखे इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करना नियम पूर्वक आलंवन सहित धर्म्यध्यान कहलाता है। इन पांचों परमेष्ठियों का ध्यान करने से अशुभ कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

आगे निरालंब ध्यान के लिये कहते हैं।

जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमाय गुणठाणे।
चत्तगेहस्स जायइ धरियं जिणलिंगरूवस्स॥
यत्पुनरपि निरालम्बं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने।
त्यक्त गृहस्य जायते धृतजिनलिंगरूपस्य॥३८१॥

अर्थ—जो गृहस्थ अवस्थाको छोड कर जिनलिंग धारण कर लेता है। अर्थात् दीक्षा लेकर निर्ग्रंथ मुनि हो जाता है और जो मुनि होकर भी अप्रमत्त नाम के सातवें गुणस्थान में पहुंच जाता है तव उसीके निरालंब ध्यान होता है। गृहस्थ अवस्था में निरालंब ध्यान कभी नहीं हो सकता।

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥
यो भणति कोप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानम् ।
शुद्धं च निरालम्वं न मनुते स आगमं यतीनाम् ॥३८२॥

अर्थ—यदि कोई पुरुष यह कहे कि गृहस्थों के भी निश्चल, निरालंव और शुद्ध ध्यान होता है तो समझना चाहिये कि इस प्रकार कहने वाला पुरुष मुनियों के शास्त्रों को ही नहीं मानता है।

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देस विरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥
कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीहि ध्यानानि ।
तस्मात्स देशविरतो मुख्यं धर्म्यं न ध्यायति ॥३८३॥

अर्थ—दृष्टिवाद नाम के बारहवे अंग में गुणस्थान को लेकर ही ध्यान का स्वरूप बतलाया है जिससे सिद्ध होता है कि देशविरती गृहस्थ मुख्य धर्म्यध्यान का ध्यान नहीं कर सकता।

आगे इसका कारण बतलाते हैं।

किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथपरमिओ णिच्चं ।
वहु आरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥
किं यत् स गृहवान् वाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यम् ।
वह्वारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानम् ॥३८४॥

अर्थ गृहस्थों के मुख्य धर्म्यध्यान न होने का कारण यह है कि गृहस्थों के सदाकाल बाह्य आभ्यंतर परिग्रह परिमित रूप से रहते हैं तथा आरंभ भी अनेक प्रकार के बहुत से होते हैं इस लिये वह शुद्ध आत्मा का ध्यान कभी नहीं कर सकता।

घर वावारा केई करणीया अत्थि ते ण ते सव्वे।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥
गृह व्यापाराणि कियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि।
ध्यान स्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षः ॥३८५॥

अर्थ—गृहस्थों को घर के कितने ही व्यापार करने पड़ते है। जब वह गृहस्थ अपने नेत्रों को बंद कर ध्यान करने बैठता है तब उसके सामने घर के करने योग्य सब व्यापार आजाते हैं।

अह ढिकुलियो झाणं झायइ अहवा स सोवइ झाणी।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥
अथ ढिकुलिकं ध्यानं ध्यायति अथवा स स्वपिति ध्यानी।
स्वपतः ध्यातव्यं न ढिष्ठदि चित्ते विकले ॥३८६॥

अर्थ—जो कोई गृहस्थ शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहता है तो उसका वह ध्यान ढेकी के समान होता है। जिस प्रकार ढेकी धान कूटने में लगी रहती है परंतु उससे उसका कोई लाभ नहीं होता उसको तो परिश्रम मात्र ही होता है इसी प्रकार

गृहस्थों का निरालंब ध्यान वा शुद्ध आत्मा का ध्यान परिश्रम मात्र होता है। अथवा शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाला वह गृहस्थ उस ध्यान के बहाने सो जाता है। जब वह सो जाता है तब उसके व्याकुल चित्त में वह ध्यान करने योग्य शुद्ध आत्मा कभी नहीं ठहर सकता। इस प्रकार किसी भी गृहस्थ के शुद्ध आत्मा का निश्चल ध्यान कभी नहीं हो सकता।

झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स।
आलंवण रहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा॥
ध्यानानां सन्तानं अथवा जायते तस्य ध्यानस्य।
आलम्बन रहितस्य च न तिष्ठति चित्तं स्थिरं यस्मात्॥३८७॥

अर्थ—अथवा यदि वह सोता नहीं तो उसके ध्यानों की संतानरूप परंपरा चलती रहती है। इसका भी कारण यह है कि निरालंब ध्यान करने वाले गृहस्थ का चित्त कभी भी स्थिर नहीं रह सकता। भावार्थ-गृहस्थ का चित्त स्थिर नहीं रहता इसलिये उसके निरालंब ध्यान कभी नहीं हो सकता। यदि वह गृहस्थ निरालंब ध्यान करने का प्रयत्न करता है तो निरालंब ध्यान तो नहीं होता परंतु किसी भी ध्यान की संतान परंपरा चलती रहती है।

अब आगे गृहस्थों के करने योग्य ध्यान बतलाते हैं।

तम्हा सो सालंबं झायउ झाणं पि गिहवई णिच्चं।
पंच परमेट्ठिरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं॥

तस्मात् स सालम्बं ध्यायतु ध्यानमपि गृहपतिर्नित्यम् ।
पंच परमेष्ठिरूपमथवा मंत्राक्षरं तेषाम् ॥३८८॥

अर्थ—इसलिये गृहस्थों को सदा काल आलंबन सहित ध्यान धारण करना चाहिये। या तो उसे पंच परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिये अथवा पंच परमेष्ठी के वाचक मंत्रों का ध्यान करना चाहिये।

जइ भणइ को वि एवं गिहवावारेसु वट्टमाणो वि।
पुण्णो अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुवाडेई ॥
यदि भणति कोऽप्येवं गृहव्यापारेषु वर्तमानोऽपि ।
पुण्येनास्माकं न कार्यं यत्संसारे सुपातयति ॥३८९॥

अर्थ—कदाचित् कोई गृहस्थ यह कहे कि यद्यपि हम गृहस्थ व्यापारों में लगे रहते हैं तथापि हमे सावलंब ध्यान कर पुण्य उपार्जन करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि पुण्य उपार्जन करने से भी तो इस जीव को संसार में ही पड़ना पड़ेगा।

ऐसा कहने वाले के लिये आचार्य उत्तर देते हैं।

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्ख सुहम जीवाई।
इय जिणवरेहिं भणियं वज्भंतरणिग्गंथरूवेहिं ॥
मैथुनसंज्ञारूढो मारयति नवलक्षसूक्ष्म जीवान् ।
एतज्जिनवरैः भणितं वाह्याभ्यन्तरनिर्ग्रन्थरूपैः ॥३९०॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि देखो जो पुरुष मैथुन संज्ञा को धारण करता है अपनी स्त्री का सेवन करता है वह गृहस्थ नौ लाख सूक्ष्म जीवों का घात करता है। ऐसा बाह्य अभ्यंतर परिग्रह रहित भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है। इसके सिवाय—

गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाइं सया कुणंतस्स।
आसवइ कम्म मसुहं अट्ट रउद्दे पवत्तस्स॥
गेहे वर्तमानस्य च व्यापारशतानि सदा कुर्वतः।
आस्रवति कर्माशुभं आर्तरौद्रप्रवृत्तस्य॥३६१॥

अर्थ—जो पुरुष घर में रहता है और सदाकाल गृहस्थी के सैकड़ों व्यापार करता रहता है वह आर्तध्यान और रौद्रध्यान मे भी अपनी प्रवृत्ति करता रहता है इसलिये उसके सदा काल अशुभ कर्मों का ही आस्रव होता रहता है।

जह गिरिणई तलाए अणवरयं पविसए सलिल परिपुण्णं।
मण वयतणु जोएहि पविसइ असुहेहिं तह पावं॥
यथा गिरिनदी तडागेऽनवरतं प्रविशति सलिलपरिपूर्णे।
मनवचनतनुयोगैः प्रविशति अशुभैः तथा पापम्॥३६२॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी पर्वत से निकलती हुई नदी का पानी किसी जल से भरे हुए तालाब में निरंतर पड़ता रहता है उसी प्रकार गृहस्थी के व्यापार में लगे हुए पुरुष के अशुभ मन

वचन काय इन तीनों अशुभ योगों के द्वारा निरंतर पाप कर्मों का आस्रव होता रहता है।

इसलिये ऐसे गृहस्थों के लिये आचार्य उपदेश देते हैं—

जाम ण छडइ गेहं ताम ण परिहरइ इंनयं पावं ।
पावं अपरिहरंतो हेओ पुण्णस्स मा चयउ ॥
यावन्न त्यजति गृहं तावन्न परिहरति एतत्पापम् ।
पापमपरिहरन् हेतुं पुण्यस्य मा त्यजतु ॥३९३॥

अर्थ—इस प्रकार ये गृहस्थ लोग जब तक घर का त्याग नहीं करते गृहस्थ धर्म को छोड़ कर मुनि धर्म धारण नहीं करते तब तक उनसे ये पाप छूट नहीं सकते। इसलिये जो गृहस्थ पापों को नहीं छोड़ना चाहते उनको कम से कम पुण्य के कारणों को तो नहीं छोड़ना चाहिये। भावार्थ-गृहस्थों को सदा काल पाप कर्मों में ही नहीं लगे रहना चाहिये किंतु साथ में जितना कर सकें उतना पुण्य कर्मों का भी उपार्जन करते रहना चाहिये। तथा पुण्य उपार्जन करने के लिये सावलंबन ध्यान वा भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा अथवा सुपात्र दान देते रहना चाहिये।

आगे आचार्य फिर भी कहते हैं।

मा मुक्क पुण्णहेउं पावस्सासवं अपरिहरंतो य ।
बज्झइ पावेण णरो सो दुग्गइ जाइ मरिऊणं ॥

मा त्यज पुण्यहेतुं पापस्यास्रव मपरिहरंश्च ।
बध्यते पापेन नरः सदुर्गतिं याति मृत्वा ॥३६४॥

अर्थ—जो गृहस्थ पाप रूप आस्रवों का त्याग नहीं कर सकते अर्थात् गृहस्थ धर्म नहीं छोड़ सकते उनको पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि जो मनुष्य सदाकाल पापों का ही बंध करता रहता है वह मनुष्य मर कर नरकादिक दुर्गति को ही प्राप्त होता है—

आगे कैसा पुरुष पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है सो कहते हैं।

पुण्णस्स कारणाइं पुरिसो परिहरउ जेण णियचित्तं ।
विसय कसाय पउत्तं णिग्गहियं हयपमाएण ॥
पुण्यस्य कारणानि पुरुषः परिहरतु येन निजचित्तम् ।
विषयकषायप्रयुक्तं निगृहीतं हतप्रमादेन ॥३६५॥

अर्थ—जिस पुरुष ने अपने समस्त प्रमाद नष्ट कर दिये हैं तथा इन्द्रियों के विषय और कषायों में लगे हुए अपने चित्तको जिसने सर्वथा अपने वशमे कर लिया है ऐसा पुरुष अपने पुण्य के कारणों का त्याग कर सकता है। भावार्थ-पुण्य के कारणों का त्याग सातवें गुणस्थान में होता है। इससे पहले नहीं होता इसलिये गृहस्थों को तो पुण्य के कारण कभी नही छोड़ने चाहिये।

आगे यही बात दिखलाते हैं ।

गिहवावारविरत्तो गहियं जिणलिंग रहियसपमाओ ।
पुण्णस्स कारणाइं परिहरउ सया वि सो पुरिसो ॥
गृहव्यापारविरक्तो गृहीतजिनलिंगः रहितस्वप्रमादः ।
पुण्यस्य कारणानि परिहरतु सदापि स पुरुषः ॥३६६॥

अर्थ—जिस पुरुष ने गृहस्थ के समस्त व्यापारों का त्याग कर दिया है जिसने भगवान् जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रंथ लिंग धारण कर लिया है तथा निर्ग्रंथ लिंग धारण करने के अनंतर जिसने अपने समस्त प्रमादों का त्याग कर दिया है। ऐसे पुरुष को ही सदा के लिये पुण्य के कारणों का त्याग करना उचित है, अन्यथा नहीं। भावार्थ-प्रमादों का त्याग सातवें गुणस्थान में होता है। सातवे गुण-स्थान में ही वे मुनि उपशम श्रेणी में अथवा क्षपक श्रेणीमें चढ़ते हैं। उपशम श्रेणी में कर्मों का उपशम होता रहता है। और क्षपक श्रेणी में कर्मों का क्षय होता रहता है। इसलिये वहां पर पुण्य के कारण अपने आप छूट जाते हैं। गृहस्थों को पुण्य के कारण कभी नहीं छोडने चाहिये।

असुहस्स कारणेहिं य कम्म छक्केहि णिच्च वट्टंतो ।
पुण्णस्स कारणाइं बंधस्स भयेण णिच्छंतो ॥
अशुभस्य कारणे च कर्मषट्के नित्यं वर्तमानः ।
पुण्यस्य कारणानि बंधस्य भयेन नेच्छन् ॥३६७॥

ण मुणइ इय जो पुरिसो जिण कहिय पयत्थ णवसरूवं तु ।
अप्पाणं सुयण मज्झे हासस्स य ठाणयं कुणई ॥
न मनुते एतत् यः पुरुषो जिनकथित पदार्थ नवस्वरूपं तु ।
आत्मानं सुजनमध्ये हास्यस्य च स्थानकं करोति ॥३६८॥

अर्थ—यह गृहस्थ अशुभ कर्मों के आने के कारण ऐसे असि मसि कृषि वाणिज्य आदि छहों कर्मों में लगा रहता है अर्थात् इन छहों कर्मों के द्वारा सदा काल अशुभ कर्मों का आस्रव करता रहता है तथापि जो केवल कर्मबंध के भय से पुण्य के कारणों को करने की इच्छा नहीं करता, कहना चाहिये कि वह पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के कहे हुए नौ पदार्थों के स्वरूप को भी नहीं मानता, तथा वह पुरुष अपने को सज्जन पुरुषों के मध्य में हंसी का स्थान बनाता है। भावार्थ-वह हंसी का पात्र होता है। इसलिये किसी भी गृहस्थ को पुण्य के कारणों का त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

आगे पुण्य के भेद बतलाते हैं—

पुण्णं पुव्वायरिया दुविहं अक्खंति सुत्तउत्तीए ।
मिच्छ पउत्तेण कयं विवरीयं सम्म जुत्तेण ॥
पुण्यं पूर्वाचार्या द्विविधं कथयन्ति सूत्रोक्त्या ।
मिथ्यात्व प्रयुक्तेन कृतं विपरीतं सम्यक्त्वयुक्तेन ॥३६९॥

अर्थ—पूर्वाचार्यों ने अपने सिद्धांत सूत्रों के अनुसार उस पुण्य के दो भेद बतलाये हैं। एक तो मिथ्यादृष्टी पुरुष के द्वारा किया हुआ पुण्य और दूसरा इसके विपरीत सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य।'

आगे मिथ्यादृष्टी के द्वारा किये हुए पुण्य को और उसके फल को बतलाते हैं—

मिच्छादिट्ठीपुण्णं फलइ कुदेवेसु कुणर तिरिएसु ।
कुच्छिय भोग धरासु य कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥
मिथ्यादृष्टिपुण्यं फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सित भोगधरासु च कुत्सित पात्रस्य दानेन ॥४००॥

अर्थ—मिथ्या दृष्टी पुरुष प्रायः कुत्सित पात्रों को दान देता है इसलिये वह पुरुष उस कुत्सित दान के फल से कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है, नीचे तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, और कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है।

जइ वि सुजायं बीयं ववसाय पउत्तओ विवइ कसओ ।
कुच्छिय खेत्ते ण फलइ तं बीयं जह तहा दाणं ॥
यद्यपि सुजातं बीजं व्यवसायप्रयुक्तो वपति कृषकः ।
कुत्सित क्षेत्रे न फलति तद्बीजं यथा तथा दानम् ॥४०१॥

अर्थ—यद्यपि किसान किसी उत्तम जाति के बीज को विधि पूर्वक (भूमि को अच्छी तरह जोत कर) बोता है तथापि कुत्सित

खेत में बोने से उस पर फल नहीं लगते इसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दान देने से उसका कुछ भी फल नहीं मिलता है।

जइ फलइ कह वि दाणं कुच्छिय जाईहिं कुच्छिय सरीरं।
कुच्छिय भोए दाउं पुणरवि पाडेइ संसारे ॥
यदि फलति कथमपि दानं कुत्सित जातिषु कुत्सितशरीरम्।
कुत्सित भोगान् दत्वा पुनरपि पातयति संसारे ॥४०२॥

अर्थ—यदि किसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल मिलता भी है तो कुत्सित जाति में उत्पन्न होना, कुत्सित शरीर धारण करना और कुत्सित भोगोपभोगों का प्राप्त होना आदि कुत्सित रूप ही फल मिलता है तथा कुत्सित पात्रों को दिया हुआ वह दान जीवको चतुर्गति रूप इस संसार में ही परिभ्रमण कराता रहता है।

संसार चक्कवाले परिब्भमंतो हु जोणि लक्खाइं।
पावइ विविहे दुक्खे विरयंतो विविह कम्माइं ॥
संसार चक्रवाले परिभ्रमन् हि योनिलक्षाणि।
प्राप्नोति विविधान् दुःखान् विरचयन् विविधकर्माणि॥४०३॥

अर्थ—कुपात्रों को दान देने वाला पुरुष चौरासी लाख योनियों से भरे हुए इस संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ अनेक प्रकार के कर्मों का उपार्जन करता रहता है और उन अशुभ कर्मों के फल से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगता रहता है। इस

प्रकार मिथ्य दृष्टियों के द्वारा किये हुए पुण्या का स्वरूप और उसका फल कहा।

अब आगे सम्यग्दृष्टी के द्वारा किये हुए पुण्य का फल बतलाते हैं।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा ।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥
सम्यग्दृष्टेः पुण्यं न भवति संसारकारणं नियमात् ।
मोक्षस्य भवति हेतुः यदि च निदानं न स करोति ॥४०४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी के द्वारा किया हुआ पुण्य संसार का कारण कभी नहीं होता यह नियम है। यदि सम्यग्दृष्टी पुरुष के द्वारा किये हुए पुण्य में निदान न किया जाय तो वह पुण्य नियम से मोक्ष का ही कारण होता है। भावार्थ-कोई भी पुण्य कार्य कर उससे आगामी काल के भोगों की इच्छा करना या और कुछ चाहना निदान है, निदान नरक का कारण है। इस लिये उत्तम पुरुषों को निदान कभी नहीं करना चाहिये।

अकइयणियाणसम्मो पुण्णं काऊण णाणचरणट्ठो ।
उप्पज्जइ दिवलोए सुहपरिणामो सुलेसो वि ॥
अकृतनिदान सम्यग्दृष्टिः पुण्यं कृत्वा ज्ञानचरणस्थः ।
उत्पद्यते दिवि लोके शुभपरिणामः सुलेश्योऽपि ॥४०५॥

अर्थ—जिस सम्यग्दृष्टी पुरुष के शुभ परिणाम हैं, शुभ लेश्याएं हैं तथा जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण करता है, ऐसा सम्यग्दृष्टी पुरुष यदि निदान नहीं करता है तो वह पुरुष मरकर स्वर्गलोक में ही उत्पन्न होता है।

अंतरमुहुत्तमज्झे देहं चइऊण माणुसं कुणिमं।
गिण्हइ उत्तमदेहं सुचरिय कम्माणु भावेण॥
अन्तमुहूर्तमध्ये देहं त्यक्त्वा मानुषं कुणिमम्।
गृह्णाति उत्तमं देहं सुचरितकर्मानुभावेन॥४०६॥

अर्थ—ऊपर लिखा हुआ सम्यग्दृष्टी पुरुष अपने पुण्य कार्य के प्रभाव से इस घृणित मनुष्य शरीर का त्याग कर अंतर्मुहूर्त में ही स्वर्ग में जाकर उत्तम शरीर प्राप्त कर लेता है।

चम्मं रुहिरं मंसं मेज्जा अट्ठि च तह वसा सुक्कं।
सिम्मं पित्तं अंतं मुत्तपुरीसं च रोमाणि॥
चर्म रुधिरं मांसं मेदोऽस्थि च तथा वसा शुक्रम्।
श्लेष्म पित्तं अंत्रं मूत्रं पुरीषं च रोमाणि॥४०७॥

णह दंत सिरण्हारु लाला सेउयं च णिमिस आलस्सं।
णिद्दा तण्हा य जरा अंगे देवाण ण हि अत्थि॥
नख दन्त शिरानारुलालाः स्वेदकं च निमेषं आलस्यम्।
निद्रा तंद्रा च जरा अंगे देवानां न हि सन्ति॥४०८॥

अर्थ—चर्म (चमडा) रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, चर्बी, शुक्र, (वीर्य) कफ, पित्त, आंते, मल, मूत्र, रोम, नख, दांत, शिरा (नाडी नसे) नारु, लार, पसीना, नेत्रों की टिमिकार, आलस्य, निद्रा, तंद्रा, और बुढापा ये सब देवों के शरीर में कभी नहीं होते।

सुइ अमलो वरवण्णो देहो सुह फास गंधसंपण्णो।
वाल रवि तेयसरिसो चारुसरूवो सदा तरुणो ॥
शुचिः अमलो वरवर्णः देहः शुभस्पर्शगंधसम्पन्नः।
बालरवितेजः सदृशः चारुस्वरूपः सदा तरुणः ॥४०९॥

अणिमा महिमा लहिमा पावइ पागम्म तइ य ईसत्तं।
वसयत्त कामरूवं एत्तियाई गुणे हि संजुत्तो ॥
अणिमा महिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं तथा चेशित्वम्।
वशित्वं कामरूपं एतैः गुणैः संयुक्तः ॥४१०॥

देवाण होइ देहो अइउत्तमेण पुग्गलेण संपुण्णो।
सहजाहरण णिउत्तो अइरम्मो होइ पुण्णेण ॥
देवानां भवति देहोऽत्युत्तमेन पुद्‌गलेन सम्पूर्णः।
सहजाभरणनियुक्तोऽतिरम्योभवति पुण्येन ॥४११॥

अर्थ—देवों का शरीर पुण्य कर्म के उदय से अत्यंत पवित्र होता है, अत्यंत निर्मल होता है, अत्यंत सुंदर वर्ण होता है,

उनके शरीर का स्पर्श गंध अत्यंत शुभ होता है, उगते हुए सूर्य के तेज के समान उनका तेज होता है, उनका शरीर अत्यंत सुंदर और सदा काल तरुण अवस्था को धारण करता है, अणिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशत्व वशित्व कामरूप इन आठों गुणों से सुशोभित रहता है। अत्यंत उत्तम पुद्गलों से बना होता है। सब प्रकार से पूर्ण होता है। अत्यंत मनोहर होता है और अपनी स्थिति के अनुसार नियत समय पर हृदय से उत्पन्न हुए अमृत से परिपुष्ट होता है। देवों को ऐसा उत्तम शरीर पुण्य कर्म के उदय से ही प्राप्त होता है। ऊपर जो अणिमा महिमा आदि देवों के शरीर के गुण बतलाये हैं उनका अर्थ इस प्रकार है। छोटे से छोटे शरीर को बना लेने की शक्ति होना अणिमा है, मेरु पर्वत से भी बडा शरीर बनाने की शक्ति होना महिमा है, वायु से भी हलका शरीर बनाने की शक्ति होना लघिमा है, पृथ्वी पर ठहर कर भी अपनी उंगली के अग्रभाग से मेरु पर्वत के शिखर को भी स्पर्श करने की शक्ति होना प्राप्ति है, जल में भूमि के समान गमन करने की शक्ति होना तथा भूमि में जल के समान डूबना उछलना आदि की शक्ति होना प्राकाम्य है, तीनों लोकों की प्रभुता प्राप्त कर लेने की शक्ति होना ईशित्व है, समस्त जीवों को वश करने की शक्ति होना वशित्व है, तथा एक साथ अनेक रूप धारण कर लेने की अनेक शरीर बना लेने की शक्ति होना कामरूपत्व है। इस प्रकार देवों के शरीर में आठ ऋद्धियां होती है।

उप्पण्णो कणयमए कायकंतिहि भासिये भवणे ।
पेच्छंतो रयणमयं पासायं कणय दित्तिल्लं ॥
उत्पन्नः कनकमये कायकान्तिभिः भासिते भवने ।
पश्यन् रत्नमयं प्रासादं कनक दीप्तिम् ॥४१२॥

अर्थ—इस प्रकार अपने पुण्य कर्म के उदय से वह जीव स्वर्ग में अपने शरीर की कांति से सुशोभित होने वाले सुवर्णमय भवन में वह देव उत्पन्न होता है। वहां पर वह सुवर्ण की कांति से सुशोभित ऐसे रत्नमय भवनों को देखता है।

अणुकूलं परियणयं तरलियणयणं च अच्छरणिवहं ।
पिच्छंतो णमिय सिरं सिर कइय करंजली देवे ॥
अनुकूलं परिजनकं तरलितनयनं च अप्सरोनिवहम् ।
पश्यन् नमित शीर्षान् शिरःकृतकरांजलीन् देवान् ॥४१३॥

अर्थ - वहां पर वह अपने परिजनों को अपने अनुकूल देखता है, जिनके सुंदर नेत्र अत्यंत चंचल हैं, ऐसी अप्सराओं के समूह को देखता है तथा जिन के मस्तक नम्रीभूत हो रहे हैं और जिन्होंने अपने हाथ जोड कर अपने मस्तक पर रख लिये है, ऐसे देवों को देखता है।

णिसुणंतो थोत्तसए सुर वर सत्थेणविरइए ललिए ।
तुंबुरु गाइयगीए वीणासद्देण सुइसुहए ॥

निःशृण्वन् स्तोत्रशतान् सुर वर सार्थेन विरचितान् ललितान्।
तुम्बुरु गीतगीतान वीणा शब्देन श्रुति सुखदान् ॥४१४॥

अर्थ—इसके सिवाय वह उत्पन्न हुआ देव अनेक उत्तम देवों के द्वारा बनाये हुए सैकड़ों सुंदर स्तोत्रों को सुनता है तथा कानों को सुख देने वाले और तुंबुर जाति के देवों के द्वारा वीणा के साथ गाये हुए गीतों को सुनता है।

चितइ किं एवड्ढं मज्झ पउत्तं इमं पि किं जायं।
कि ओ लग्गइ एसो अमरगणो विणयसंपण्णो॥
चिन्तयति किमेतावत् मम प्रभुत्वं इदमपि किं जातम्।
किमुत लगति एषः अमरगणः विनयसम्पन्नः ॥४१५॥

अर्थ—तदनंतर वह उत्पन्न हुआ देव अपने मन में चिंतवन करता है कि क्या यह सब मेरा प्रभुत्व है अथवा यह सब क्या है? अथवा ऐसा मालूम होता है कि विनय को धारण करने वाले ये सब देव गण हैं।

कोहं इह कासावोवेणो विहाणेण इयं गहं पत्तो।
तविओ को उग्गं वा करिसियं संजमं विहियं।
कोहं इह कथमागतः केन विधानेन इदं गृहं प्राप्तः।
तप्तिं किमुग्रतपः कीदृशं संयमं विहितम् ॥४१६॥

अर्थ—तदनंतर यह देव फिर चितवन करता है कि मैं कौन हूं ? मैं इस भवन में क्यों आगया और किस प्रकार आगया। मैंने ऐसा कौनसा उग्र तपश्चरण धारण किया था अथवा कौनसा संयम पालन किया था जिससे कि मैं यहां आकर उत्पन्न हुआ हूं।

किं दाणं मे दिण्णो केरिमपत्ताण काय सु भत्तीए
जेणाहं कयपुण्णो उप्पण्णो देवलोयम्मि ॥
किं दानं मया दत्तं कीदृश पात्राणां कया सुभक्त्या ।
येनाहं कृतपुण्य उत्पन्नो देवलोके ॥४१७॥

अर्थ यह देव फिर भी चितवन करता है कि क्या मैंने पहले भवमें दान दिया था और दान भी दिया था तो कैसे पात्रको दिया था और किस उत्तम भक्ति से दिया था। जिससे मैं पुण्य उपार्जन कर इस देव लोक मे आकर उत्पन्न हुआ हूं।

इय चिंतंतो पसरइ ओहीणाणं तु भवसहावेण ।
जाणइ सो आइयभव विहियं धम्मप्पहावं च ॥
इति चिन्तयन् प्रसारयति अवधिज्ञानं तु भवस्वभावेन ।
जानाति स अतीत भवं विहितं धर्मप्रभावं च ॥४१८।

अर्थ—इस प्रकार चितवन करता हुआ वह देव अपने साथ उत्पन्न हुए भवप्रत्यय अवधि ज्ञान को फैलाता है और उस अवधि ज्ञान से वह अपने पहले भवको जान लेता है तथा पहले भवमें

उसने जो धर्म प्रभावना की थी जिससे कि वह देव हुआ था, उसको भी जान लेता है।

पुणरवि तमेव धम्मं मणसा सद्दहइ सम्मदिट्ठी सो।
वंदेइ जिणवराणं णंदिसर पहुइ सव्वाइं ॥
पुनरपि तमेव धर्मं मनसा श्रद्धाति सम्यग्दृष्टिः सः।
वन्दते जिनवरान् नन्दीश्वरप्रभृतिसर्वान् ॥४१६॥

अर्थ—तदनतर वह सम्यग्दृष्टी देव फिर भी अपने मन में उसी धर्म का श्रद्धान करता है और पंच मेरु नंदीश्वरद्वीप आदि के अकृत्रिम चैत्यालयों की वंदना करता है, उनमें विराजमान जिन प्रतिमाओं की वंदना करता है और विदेह क्षेत्र के जिनेन्द्रदेव की भी वंदना करता है।

इय वहुकालं सग्गे भोगं भुंजंतु विविह रमणीयं।
चइऊण आउस खए उप्पज्जइ मच्च लोयम्मि ॥
इति वहुकालं स्वर्गे भोगं भुंजानः विविधरमणीयम्।
च्युत्वा आयुः क्षये उत्पद्यते मर्त्यलोके ॥४२०॥

अर्थ—इस प्रकार वह जीव स्वर्ग में जाकर बहुत काल तक अनेक प्रकार के सुंदर भोगों का अनुभव करता है। तदनंतर आयु पूर्ण होने पर वहां से च्युत होता है और इस मनुष्य लोक में आकर जन्म लेता है।

उत्तम कुले महंतो वहुजण णमणीय संपयापउरे।
होऊण अहियरूवो वल जोव्वण रिद्धिसंपुण्णो ॥
उत्तम कुले महति वहुजन नमनीये सम्पदाप्रचुरे।
भूत्वा अधिकरूपः वल यौवनधिसम्पूर्णः ॥४२१॥

अर्थ—मनुष्य लोक में भी आकर वह बहुत महत्व शाली उत्तम कुल में उत्पन्न होता है तथा ऐसे कुल में उत्पन्न होता है जिसको बहुत से लोग मानते हैं नमस्कार करते है और जिसमें बहुतसी संपदा होती है। इसके सिवाय उसका बहुत सुंदर रूप होता है और वह बल ऋद्धि यौवन आदि से परिपूर्ण होता है।

तत्थवि विविहे भोए णरखेत्तभवे अणोवमे परमे।
भुंजित्ता णिविण्णो संजमयं चेव गिण्हेई ॥
तत्रापि विविधान् भोगान् नरक्षेत्र भवाननुपमान् परमान्।
भुक्त्वा निर्विण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥४२२॥

अर्थ—उस मनुष्य लोक में भी उत्पन्न होकर वह जीव मनुष्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले सर्वोत्कृष्ट अनुभव तथा अनेक प्रकार के भोगों का अनुपम करता है और फिर संसार शरीर भोगों से विरक्त होकर संयम धारण कर लेता है।

लद्धं जइ चरम तणु चिरकय पुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवल णाणं जह खाइय संजमं सुद्धं ॥

लब्धं यदि चरमतनं चिरकृतपुण्येन सिद्धयति नियमात् ।
प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यात संयमं शुद्धम् ॥४२३॥

अर्थ—यदि वह जीव अपने चिर काल के संचित किये हुए पुण्य कर्म के उदय से चरम शरीरी हुआ तो वह जीव यथाख्यात नाम के शुद्ध चारित्र को धारण कर तथा केवल ज्ञान को पाकर नियम से सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेता है।

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥
तस्मात्सम्यग्दृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य कारणं भवति ।
इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्जयतु यत्नेन ॥४२४॥

अर्थ—इस ऊपर लिखे कथन से यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टी का पुण्य मोक्ष का कारण होता है यही समझ कर गृहस्थों को यत्नपूर्वक पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

आगे पुण्य के कारण बतलाते हैं.—

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य ।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाय ॥
पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च ।
कर्तव्या भक्त्या श्रावक वर्गेण परमया ॥४२५॥

अर्थ—पुण्य के कारणों में सबसे प्रथम भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करना है, इस लिये समस्त श्रावकों को परम भक्ति पूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करना चाहिये।

अब आगे पूजा की विधि कहते हैं:-

फासुय जलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमआसेण॥
प्रासुक जलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थानम्।
ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन॥४२६॥

अर्थ—पूजा करने वाले गृहस्थ को सबसे पहले प्रासुक जल मे स्नान करना चाहिये शुद्ध वस्त्र पहनना चाहिये फिर पूजा

१-पद्मासनसमासीनो नामाग्रन्यस्तलोचनः।
मौनी वस्त्रावृतास्योऽयं पूजां कुर्याज्जिनेशिनः॥

अर्थात्-पूजाकरने वाला पद्मासन से बैठ कर पूजा करे अपनी दृष्टि नासिका पर रक्खे, मौन धारण करे, और वस्त्र से अपना मुख ढक लेवे।

२-ओं ह्रीं अमृते अमृतो द्भवे अमृत वर्षिणि अमृतं श्रावय श्रावय सं. सं क्लीं क्लीं ब्लूं ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय हं झं झ्वीं क्ष्वीं हं सः असि आ उ सा हॅं नमः स्वाहा। यह अमृत स्नान मंत्र है। ओं ह्रीं झ्वीं क्ष्वीं वं मं हं सं तं पं द्रां द्रीं हं सः स्वाहा यह आचमन मंत्र है।

करने के स्थान पर जाना चाहिये तथा जाते समय ईर्यापथ शुद्धि से जाना चाहिये और वहां जाकर पद्मासन से बैठना चाहिये।

पुज्जाउवयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण ।
ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥
पूजोपकरणानि च पार्श्वे सन्निधाय मंत्रपूर्वेण ।
स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोतु मंत्रेण ॥४२७॥

अर्थ—तदनंतर पूजा के समस्त उपकरण अपने पास रखना चाहिये फिर मंत्र स्नान करना चाहिये और फिर मंत्र पूर्वक आचमन करना चाहिये।

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिखि मंडल मज्झत्थं जालासयजलियणियदेहं ।
आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानम् ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहम् ।४२८॥

अर्थ—अग्निमंडल के मध्य में अपना आसन लगा कर बैठे और फिर सम्यक् रीति से परमात्मा का ध्यान करे। उस ध्यान में अग्निमंडल से निकलती हुई सौ ज्वालाओं से अपना शरीर जल रहा है ऐसा चिंतवन करना चाहिये।

सबसे पहले अग्निमंडल का चिंतवन करना चाहिये एक त्रिकोण आकार का यंत्र बनाना चाहिये उसके तीनों ओर सौ

रेफ या रकार बनाना चाहिये। उन रकारों के ऊपर आधे रकार का आकार और बनाना चाहिये। इसको अर्द्ध रेफ की ज्वाला कहते हैं। ऐसे रेफों से व्याप्त अग्निमंडल के मध्य में अपने शरीर को स्थापन करना चाहिये तथा ध्यान कर अपने शरीर के मल को दग्ध करना अर्थात्-जलाना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है "ओं ह्रीं अर्हं भगवते जिनभास्कराय बोधसहस्र किरणैर्मम किरणेन्धनस्य द्रव्यं शोषयामि घे घे स्वाहा।" दाभ के छोटे पूले को दीपक से सेक लेना चाहिये और फिर उस दाभ को अग्निमंडल में भस्म कर देना चाहिये। सो ही लिखा है-

अग्नि मंडलमध्यस्थै रेफैर्ज्वालाशताकुलैः।
सर्वांगदेशजं ध्यात्वा ध्यान दग्धं वपुर्मलम ॥

अर्थात्—अग्निमंडल के मध्य में बैठ कर सौ रेफ ज्वालाओं से व्याप्त होकर तथा सब शरीर से ध्यान कर उस ध्यान के द्वारा शरीर के मल को जलाना चाहिये।

पूजा करने वाले को दर्भासन पर बैठकर ऊपर लिखा मंत्र पढ कर अपने पाप संबंधी पाप मल को जलाने के लिये दाभको दीपक से जला नर अग्नि मंडल पर रखना चाहिये। फिर ओं ह्रीं अर्हं श्रीजिनप्रभुजिनायकर्मभस्मविधूननं कुरु कुरुस्वाहा" इस मंत्र को पढ कर उस जली हुई दाभ की भस्म पर जल धारा देकर उसको बुझा देना चाहिये। फिर पंच परम गुरु मुद्रा धारण करनी चाहिये। फिर अ सि आ उ सा इनका न्यास करना चाहिये। अर्थात्—इनको स्थापन करना चाहिये। फिर जल

मंडल यंत्र बनाकर उसके उपर भं वं ह्वः पः इन अमृत बीजों को स्थापन कर अपने मस्तक पर जल छोडना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है—किसी तांबे के पात्र में (गोल कटोरा आदि में) जल भर कर उसमें अनामि का (तीसरीं उंगली) उंगली से जल मंडल यंत्र लिखना चाहिये। सो ही लिखा है-"झं ठं स्वरावृतं तोयं मंडल द्वय वेष्टितम।"

फिर उस जल मंडल में आचमनी (छोटी चमची) रखकर "ओं ह्रीं अमृते अमृतो द्भवे अमृत वर्षिणि अमृतं स्त्रावय स्त्रावय मं मं क्लीं क्लीं ब्लूं ब्लूं द्रां द्रां द्रीं द्रीं द्रावय द्रावय हं झं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः अ सि आ उ सा अर्हं नमः स्वाहा" यह मंत्र पढ कर आचमनी से जल लेकर मस्तक पर डालना चाहिये और इस प्रकार तीन बार करना चाहिये। यह अमृत स्नान है। फिर अपने दोनों हाथों की कनिष्ठा (सबसे छोटी) अंगुली से लेकर अनुक्रम से अंगूठे पर्यंत मूल की रेखा से ऊपर की रेखा तक पंच नमस्कार का न्यास करना अर्थात्—स्थापन करना चाहिये। उसकी विधि उस प्रकार है-ओं ह्रीं णमो अरहंताणं कनिष्ठिकाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं अनामिकाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो आइरिआणं मध्यमाभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं तर्जनीभ्यां नमः, ओं ह्रीं णमो लोए सव्वसाहूणं अंगुष्ठाभ्यां नमः, इस प्रकार अलग अलग मंत्र पढ कर दोनों ही हाथों की उंगलियों की मूल रेखा से लेकर ऊपर के पर्वतक अंगुठा लगाकर अलग अलग नमस्कार करना चाहिये। इसको कर न्यास कहते हैं।

फिर "ओं ह्रीं अर्हं वं मं हं मं तं पं असि आ उ सा हस्त संपुटं करोमि स्वाहा" यह यंत्र पढ़ कर दोनों हाथ मिलाकर कमल की कर्णिका के समान संपुट रूप करना चाहिये अर्थात् हाथ जोडना चाहिये तथा दोनों हाथों के अंगूठों को ऊंचा खड़ा रखना चाहिये। फिर नीचे लिखे मंत्र पढ कर अंग न्यास करना चाहिये उसकी विधि इस प्रकार है। 'ओं ह्रीं णमो अरहताणं स्वाहा हृदि, यह मंत्र पढ कर उन जुड़े हुए हाथों के खड़े अंगूठों को हृदय से लगाना चाहिये। ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं स्वाहा ललाटे, ओं ह्रीं णमो आइरीयाणं स्वाहा शिरसि, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरोदक्षिण भागे, ओं ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं स्वाहा शिरोपश्चिमदेशे, इन मंत्रों को पढ कर दोनों हाथों के अंगूठों को अनुक्रम से हृदय, ललाट, मस्तक, दांईं ओर और बांईं ओर नमस्कार पूर्वक स्पर्श करना चाहिये, उस समय हाथ जुड़े ही रखने चाहिये। यह अंग न्यास है, अर्थात् अपने शरीर और हाथों में मंत्र पूर्वक पंच परमेष्ठी का स्थापन करना है। इसके बाद इसी विधि से और इन्हीं ऊपर लिखे मंत्रों से दूसरा अंग न्यास करना चाहिये। उसके स्थान ये हैं—ओं ह्रीं णमो अरहंताणं स्वाहा शिरो मध्ये, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं स्वाहा शिरो अग्रभागे, ओं ह्रीं णमो आइरी याणं स्वाहा शिरो नैऋत्यां, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं स्वाहा शिरो वायव्याम, ओं ह्रीं णमो लोए सव्व साहूणं स्वाहा शिरो ईशाने। इस प्रकार शिर के मध्य में, शिर के आगे, शिर की नैऋत दिशा में, शिर की वायव्य दिशा में और शिर की ईशान दिशा में अंग न्यास करे। फिर तीसरा

अंग न्यास ऊपर लिखे मंत्र पढ कर अनुक्रम से दाहिनी भुजा, नाभि, दांई कांख और बांई कांख में करे। यथा—ओं ह्रीं णमो अरहंताणं स्वाहा दक्षिण भुजायाम्, ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं वाम भुजायां. ओं ह्रीं णमो आइरीआणं नाभौ, ओं ह्रीं णमो उवज्झायाणं दक्षिण कुक्षौ, ओं ह्रीं णमो लोए सव साहूणं वामकुक्षौ। तदनंतर बांये हाथ की तर्जनी अंगुली में पच मंत्र को स्थापन कर पूर्व दिशाको आदि लेकर दशों दिशाओं में नीचे लिखे मंत्र पढ़ कर सरसों क्षेपण करनी चाहिये। ओं क्षौं स्वाहा पूर्वस्यां, ओं क्षीं स्वाहा आग्नेये, ओं क्षुं स्वाहा दक्षिणे, ओं क्षें स्वाहा नैऋत्ये ओं क्षों स्वाहा पश्चिमे, ओं क्षौं स्वाहा वायव्ये, ओं क्षौं उत्तरे, ओं क्षं स्वाहा ईशाने, ओं क्षः स्वाहा अधः ओं क्षः स्वाहा ऊर्ध्वं। इस प्रकार दशां दिशाओं में सरसों स्थापन करनी चाहिये। फिर 'ओं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं ह्रे ह्रं ह्रः स्वाहा' इस मंत्र को पढ कर दशों दिशाओं में सरसों क्षेपण करनी चाहिये यह शून्य बीज है। इस प्रकार दशों दिशाओं का बंधन करना चाहिये। फिर मंत्र को जानने वाले श्रावक को मंत्र पूर्वक कवच और कर न्यास करना चाहिये। इसकी विधि इस प्रकार है– ओं ह्रीं दपाय नमः शिरसि, ओं ह्रीं शिखायै वषट् कवचाय हूं अस्त्राय फट् यह मंत्र पढ कर पृथक् पृथक् मंत्रों से मस्तक का स्पर्श करना चाहिये। चोटी का स्पर्श कर चोटी में गांठ बांधनी चाहिये। फिर कंधे से लेकर समस्त शरीर को दोनों हाथों से स्पर्श कर फिर दोनों हाथों से ताली बजाकर शब्द करना चाहिये। फिर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। ध्यान के मंत्र ये हैं–

ओं ह्रीं णमो अरहंताणं अर्हद्भ्यो नमः इसको इक्कीस बार जपना चाहिये। ओं ह्रीं णमो सिद्धाणं सिद्धेभ्यो नमः स्वाहा इसको भी इक्कीस बार जपना चाहिये। इन मंत्रों के द्वारा पद्मासन मे कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार सकली करण विधान के द्वारा अपना मन शुद्ध करना चाहिये। शौच दो प्रकार है एक वाह्य और दूसरा आभ्यंतर। जल मिट्टी आदि से तो वाह्य शौच करना चाहिये। और मंत्र से आभ्यंतर शौच करना चाहिये। यह सकली करण विधि है।

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो।
बंधउ संतीमुद्दा पंच परमेट्ठिणामाय ॥
पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन्।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंच परमेष्ठि नाम्नीम् ॥४२६॥

अर्थ—उस ध्यान में "मेरा शरीर मेरे पापों के साथ जल रहा है" ऐसा चिंतवन करना चाहिये और फिर पांचों परमेष्ठियों की वाचक ऐसी शांत मुद्रा बनानी चाहिये।

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरम्मि धरिऊण।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहि सवदयं अमयं ॥
अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा।
तां मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्रवदमृतम् ॥४३०॥

अर्थ—उस गुरु मुद्रा को मस्तक पर रख कर पांचों स्थानों मे अमृताक्षरों का निवेश करो। जिसकी धारा से अमृत झर रहा है इस प्रकार उस गुरु मुद्रा को फिर चिंतवन करो।

पावेण सह सरीरं दड्ढं जं आसि झाण जलणेण।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण मंतेण॥
पापेन सह शरीरं दग्धं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण॥४३१॥

अर्थ—उस ध्यान की ज्वाला से जो पापों के साथ शरीर जल गया था और उससे जो क्षार वा राख उत्पन्न हुई थी उसको उसी मंत्र से धो डालो।

पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविह जोएण।
तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो॥
प्रति दिवसं यत्पापं पुरुषः आस्रवति त्रिविध योगेन्।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः॥४३२॥

अर्थ—यह पुरुप अपने मन वचन काय तीनों योगों से जो प्रति दिन पाप कर्मों का आस्रव करता है उस आस्रव से आने वाले समस्त पाप कर्मों को वह पुरुष ऊपर लिखे अनुसार ध्यान धारण कर शीघ्र ही नाश कर देता है।

जं सुद्धो तं अप्पा सकायरहिओ य कुणइ गहु किं पि ।
तेण पुणो णियदेहं पुण्णाण्णवं चिंतए झाणी ॥
यः शुद्धः आत्मा स्वकायरहितश्च करोति न हि किमपि ।
तेन पुनर्निजदेहं पुण्यार्णवं चिन्तयेत् ध्यानी ॥४३३॥

अर्थ—इस प्रकार जो अपनी आत्मा अपने शरीर से रहित होकर अत्यंत शुद्ध हो चुका है वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकना इस लिये उस ध्यान करने वाले पुरुष को अपना शरीर एक पुण्य के समुद्र रूप चिंतवन करना चाहिये । भावार्थ—उस ध्यान करने वाले पुरुष ने जो अपने शरीर को पाप सहित दग्ध करने रूप चितवन किया था उससे शरीर और पाप नष्ट हो जाने पर वह आत्मा शुद्ध और शरीर रहित चितवन मे आगया । तथा शरीर रहित शुद्ध आत्मा कुछ कर नहीं सकता । इसलिये वह फिर अपने शरीर को एक पुण्य के सागर के समान चिंतवन करता है ।

उट्ठाविऊण देहं संपुण्णं कोडि चंद संकासं ।
पच्छा सयली करणं कुणओ परमेट्ठिमंतेण ॥
उत्थाप्य देहं सम्पूर्णं कोटि चन्द्र संकाशम् ।
पश्चात्सकलीकरणं करोतु परमेष्ठिमंत्रेण ॥४३४॥

अर्थ—तदनंतर करोडों चन्द्रमाओं के समान निर्मल और देदीप्यमान अपने शरीर को चिंतवन करता हुआ तथा शरीर को पूर्ण रूप से चिंतवन करता हुआ उस ध्यान से उठ बैठना चाहिये

और फिर पंच परमेष्ठी वाचक मंत्रों से उस पुरुष को सकली करण करना चाहिये। सकली करण की विधि पहले लिख चुके है।

अहवा खिप्पउ साहा गिरसेउ करंगुलीहि वामेहिं।
पाए गाही हियए मुहे य सीसे य ठविऊणं॥
अथवा क्षिपतु शेषां निवेशयतु करांगुलैः वामैः।
पादे नाभ्यां हृदये मुखे च शिरसि च स्थापयित्वा ॥४३५॥

अर्थ—अथवा दशों दिशाओं में सरसों स्थापन करना चाहिये तथा बायें हाथ की अंगुलियों से करन्यास करना चाहिये अर्थात् पैरों में नाभि में हृदय में मुख में और मस्तक पर बांये हाथ की उंगलियों को रख कर पाचों स्थानों में पंच परमेष्ठी की स्थापना करना चाहिये। यदि साहा के स्थान में सेहा पाठ है तो सरसों के स्थान में शेषाक्षत लेना चाहिये। यह सब विधि तथा आगे लिखा अंग न्यास सब पीछे सकली करण मे लिखा है।

अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए।
कंकण सेहर मुद्दो कुणओ जण्णोपवीयं च॥
अंगे न्यासं कृत्वा इन्द्रोऽहं कल्पयित्वा निजकाये।
कंकणं शेखरं मुद्रिकां कुर्यात् यज्ञोपवोतं च ॥४३६॥

अर्थ—तदनंतर अंग न्यास करना चाहिये। फिर अपने शरीर में 'मैं इन्द्र हूं' ऐसी कल्पना करनी चाहिये और कंकण मुकुट मुद्रिका और यज्ञोपवीत पहनना चाहिये।

पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा ।
पच्चक्खं अरहंतं चित्ते भावेउ भावेण ॥
पीठं मेरुं कल्पयित्वा तस्योपरि स्थापयित्वा जिनप्रतिमाम् ।
प्रत्यक्षं अर्हन्तं चित्ते भावयेत् भावेन ॥४३७॥

अर्थ—तदनन्तर स्थापन किये हुए सिंहासन में मेरु पर्वत की कल्पना करनी चाहिये, उस सिंहासन पर भगवान् जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा विराजमान करना चाहिये और फिर अपने चित्त में अपने निर्मल भावों से ये साक्षात् भगवान अरहंत देव हैं ऐसी भावना करनी चाहिये ।

कलस चउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं ।
घय दुद्ध दहिय भरियं णव सयदलछण्णमुहकमलं ॥
कलश चतुष्कं स्थापयित्वा चतुर्ष्वपि कोणेषु नीरपरिपूर्णं ।
घृतदुग्धदधिभृतं नवशतदलच्छन्नमुखकमलम् ॥४३८॥

अर्थ—तदनन्तर चारों कोनों में जल से भरे हुए चार कलश स्थापन करने चाहिये तथा मध्य में पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये । इनके सिवाय घी दूध दही इनसे भरे हुए कलश भी स्थापन करने चाहिये । इन सब कलशों के मुख पर नवीन सौ दल वाले कमल रखने चाहिये ।

आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहिकाल णेरिए वरुणे ।
पवणे जक्खे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य ॥

आहूय देवान् सुरपतिशिखिकालनैऋत्यान् वरुणान् ।
पवनान् यक्षान् सशूलिनः सप्रियसवाहनान् सशस्त्रांश्च ॥४३६॥

अर्थ—तदनंतर इन्द्र अग्नि यम नैऋत वरुण पवन कुवेर ईशान धरणीन्द्र और चन्द्र इन दश दिकपालों की स्थापना कर अर्घ्य चढाना चाहिये। इन दशों दिक्पालों को उनकी पत्नी वाहन और शस्त्रों सहित स्थापना करनी चाहिये।

दाऊण पुज्जदव्व वलि चरुयं तह य जएणभायं च ।
सव्वेसिं मंते हि य वीयक्खर णाम जुत्तेहिं ॥
दत्वा पूजाद्रव्यं वलिं चरुकं तथा च यज्ञभागं च ।
सर्वेषां मंत्रैश्च वीजाक्षरनामयुक्तैः ॥४४०॥

अर्थ—इन सब दिक्पालों को पूजा द्रव्य वलि नैवेद्य यज्ञभाग देना चाहिये। सबको बीजाक्षर सहित अलग अलग नाम लेकर मंत्र पूर्वक आह्वानन स्थापन सन्निधी करण कर यज्ञभाग पूजा द्रव्य और नैवेद्य देना चाहिये। इनके स्थापन करने आदि के मंत्र ये हैं। ओं ह्रीं आं क्रौं प्रशस्त वर्ण सर्व लक्षण सम्पूर्ण स्वायुध वाहन युवती सचिन्ह सहित इन्द्र देव अत्र आगच्छ आगच्छ संवौषट, अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः, अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट्, ओं आं क्रों ह्रीं इन्द्र देवाय इदं अर्घ्यं पाद्यं गंधं पुष्पं दीपं धूपं चरुं वलिं स्वस्तिकं अक्षतं यज्ञभागं च यजामहे यजामहे प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यता मिति स्वाहा। यह मंत्र पढ कर अलग अलग देवों को स्थापन करना चाहिये। इन्द्र को पूर्व दिशा में स्थापन कर बांई

ओर से आठों दिशाओं में आठ देव अधो दिशामें धरणीन्द्र ऊर्ध्व दिशा में चन्द्र को स्थापन करना चाहिये। शेष विधि अभि- षेक पाठ में से कर लेनी चाहिये।

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स ।
णीर घय खीर दहियं खिवउ अणुकमेण जिणसीसे ॥
उच्चार्य मंत्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य ।
नीरघृतक्षीरदधिक क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे ॥४४१॥

अर्थ—तदनंतर देवाधिदेव भगवान् अरहंत देव का अभिषेक करना चाहिये। वह अभिषेक अनुक्रम से जल घी दूध दही आदि पदार्थों से यंत्रों का उच्चारण करते हुए भगवान् के मस्तक परसे करना चाहिये।

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोदयं च वंदित्ता ।
सवलहणं च जिणिंदे कुणऊ कस्सीर मलएहि ॥
स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा ।
उद्वर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयैः ॥४४२॥

अर्थ—इस प्रकार अभिषेक कर निर्मल गंधोदक की वंदना करनी चाहिये और फिर काश्मीर केसर तथा चंदन आदि से भगवान् का उद्वर्तन करना चाहिये। अभिषेक के अनंतर चन्दन केसर आदि द्रव्यों की धूप बना कर उससे प्रतिमा का उबटन

करना चाहिये। फिर कोण कलशों से तथा पूर्ण कलश से अभिषेक करना चाहिये। यह विधि अत्यंत संक्षेप से कही है। इसकी पूर्ण विधि अभिषेक पाठ से जान लेनी चाहिये।

आलिहउ सिद्धचक्कं पट्टे दव्वेहिं णिरुसुगंधेहिं।
गुरु उवएसेण फुडं संपण्णं सव्वमंतेहिं॥
आलिखेत् सिद्धचक्रं पट्टे द्रव्यैः निसुगन्धैः।
गुरूपदेशेन स्फुटं संपन्नं सर्वमंत्रैः॥४४३॥

अर्थ—तदनतर किसी वस्त्र पर या किसी थाली में वा किसी पाट पर अत्यंत सुगंधित द्रव्यों से सिद्ध चक्र का मंत्र लिखना चाहिये। तथा गुरु के उपदेश के अनुसार उसे स्पष्ट रीति से सर्व मंत्रों से पूर्ण रूप देकर लिखना चाहिये।

आगे उसके बनाने की विधि बतलाते हैं।

सोल दल कमल मज्झे अरिहं विलिहेइ बिंदुकलसहियं।
बंभेण वेढइत्ता उवरि पुणु माय वीएण॥
षोडशदल कमल मध्ये अर्हं विलिखेत् बिंदुकलसहितम्।
ब्रह्मणा वेष्टयित्वा उपरि पुनः मायाबीजेन॥४४४॥

सोलस सरेहि वेढउ देह वियप्पेण अट्ठ वग्गा वि।
अट्ठेहि दलेहि सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं॥

षोडश स्वरैः वेष्टय देहविकल्पेन अष्टवर्गानपि ।
अष्टभिर्दलैः सुपदं अर्हद्भ्यो नमः सहितम् ॥४४५॥

मायाए तं एव्वं तिउणं वेढेह अंकुसारूढं ।
कुणह धरामंडलयं बाहिरयं सिद्धचकस्स ॥
मायया तत्सर्वं त्रिगुणं वेष्टयेत् अंकुशारुद्धम् ।
कुर्यात् धरामण्डलकं बाह्यं सिद्धचक्रस्य ॥४४६॥

अर्थ—एक सोलह दल का कमल बनाना चाहिये इसके मध्य में कर्णिका पर विंदु और कला सहित ह्रँ लिखना चाहिये। फिर उसको ब्रह्म स्वरों से वेष्टित करना चाहिये ।

सिद्ध चक्र का विधान पूजा में इस प्रकार लिखा है:—
ऊर्ध्वाधोरयुतं सविंदुसपरं ब्रह्मस्वरावेष्टितं ।
वर्गापूरितदिग्गताम्बुजदलं तत्संधितत्त्वान्वितम् ॥
अंतःपत्र तटेष्वनाहतयुतं ह्रीं कार संवेष्टितं ।
देवं ध्यायति यः स मुक्ति सुभगो वैरीभकंठीरवः ॥

अर्थात्—जिसके ऊपर और नीचे दोनों स्थानों में 'र' कार है तथा जो विंदु अर्थात् अर्द्ध चंद्राकार कला सहित ऐसा 'स' से आगे का अक्षर 'ह' कार मध्य में लिखना। जिस ह कार के ऊपर र कार हो नीचे रकार हो और अर्द्ध चन्द्र वा अर्द्ध विंदु ऊपर हो ऐसा ह्रीं मध्य में लिखना चाहिये। उस ह्रीं के चारों ओर ब्रह्म स्वर अर्थात् सोलह स्वर लिखना चाहिये। इतना मंत्र तो वी

अर्थात् उसके चारों ओर सोलह स्वर लिखना चाहिये। फिर उन सबको माया बीज से वेष्टित करना चाहिये अर्थात् तीन रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये। तदनंतर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये जिसमें आठ दल हों और आठ वर्ग हों। आठों वर्गों में सोलह स्वर तथा कवर्ग चवर्ग आदि अक्षर हों तथा आठों दलों में 'अर्हद्भ्यो नमः' लिखना चाहिये। इन सबको तीन माया रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये। ऊपर की ओर अंकुश से

चकी कर्णिका में लिखना चाहिये। फिर उस कर्णिका के चारों दिशाओं में और चारों विदिशाओं में आठ संधियां बना कर उन संधियों के मध्य में अष्ट दल आकार का कमल बनाना चाहिये। उन अष्ट दलों में अनुक्रम से अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह ळ क्षः इस क्रम से लिखना चाहिये। तथा इन्हीं दलों में सोलह स्वरों में से प्रत्येक दल में दो स्वर लिखना चाहिये तथा इन्हीं दलों के अंत भाग मे अनाहत मंत्र लिखना चाहिये। तथा उन आठ दलों के मध्य में जो आठ संधियां हैं उनको तत्त्व से सुशोभित करना चाहिये। "णमो अरहंताणं" इस मंत्र को तत्त्व कहते हैं। अर्थात् आठों संधियों में णमो अरहंताणं लिखना चाहिये। फिर तीन वलय देकर भूमंडल से वेष्टित करना चाहिये फिर क्षिति बीज और इन्द्रायुध लिखना चाहिये। इस प्रकार यंत्र रचना कर सिद्धचक्र का ध्यान करना चाहिये।

आरुद्ध करना चाहिये। तथा फिर चारों ओर बाहर धरा मंडल बना देना चाहिये।

१

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंध दीव धूवेहिं।
कुसुमेहि जवइ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं ॥
इति संक्षेपश्च कथितं यः पूजयति गन्ध दीप धूपैः।
कुसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापम् ॥४४७॥

अर्थ—इस प्रकार संक्षेप से सिद्ध चक्र का विधान कहा। जो पुरुष गंध दीप धूप और फूलों से इस यंत्र की पूजा करता है तथा नित्य इसका जप करता है वह पुरुष अपने संचित किये हुए समस्त पापों का नाश कर देता है।

---

१ जो जीव इस सिद्ध चक्र का ध्यान करता है वह श्रेष्ठ मोक्ष पदको प्राप्त होता है। यह सिद्ध चक्रदेव शत्रुरूपी हाथियों को जीतने के लिये सिंह के समान है।

अनाहत का लक्षण—

उ बिन्द्वाकार हरोर्ध्वरेफ विन्द्वानवाक्षरं। मालाधः स्पन्दिपीयूष विन्दुं विदुरनाहतम्॥ उ, अनुस्वार, ईकार, ऊर्ध्व रकार, हकार, हकार, निम्न रकार अनुस्वार ईकार इन नौ अक्षरों से अनाहत मंत्र बनता है।

जो पुणु वड्डुद्धारो सव्वो भणिओ हु सिद्धचक्कस्स ।
सो एइ ण उद्धरिओ इण्हि सामग्गि ण हु तस्स ॥
यः पुनः बृहदुद्धारो सर्वो भणितो हि सिद्धचक्रस्य ।
सोऽत्र न उद्धर्त्तव्यः इदानीं सामग्री न च तस्य ॥४४८॥

अर्थ इसके सिवाय एक सिद्ध चक्र का बृहत् उद्धार और भी है। महा उद्धार वा महा पूजा है जो अन्य शास्त्रों में कही है परंतु उसका उद्धार वा महा सिद्ध चक्र पूजा इस समय नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस समय उसकी पूर्ण सामग्री प्राप्त नहीं होती।

आगे शान्ति चक्र विधान कहते हैं।

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारित्ता गुरूवएसेण ।
अट्ठ दल विउण तिउणं चउग्गुणं बाहिरे कंजे ॥
यदि पूजयति कोपि नर उद्धार्य गुरूपदेशेन ।
अष्ट दल द्विगुण त्रिगुणं चतुर्गुणं बाह्ये कंजे ॥४४९॥

मज्झे अरिहं देवं पंचपरमेट्ठिमंतसंजुत्तं ।
लिहि ऊण कण्णियाए अट्ठदले अट्ठदेवीओ ॥
मध्ये अर्हं देवं पंचपरमेष्ठिमंत्रयुक्तम् ।
लिखित्वा कर्णिकायां अष्टदले अष्टदेवीः ॥४५०॥

सोलह दलेसु सोलह विज्जा देवीउ मंतसहियाओ ।
चउवीसं पत्ते सु य जक्खा जक्खी य चउवीसं ॥
षोडश दलेषु षोडश विद्यादेवीः मंत्र सहिताः ।
चतुर्विंशति पत्रेषु च यक्षान् यक्षींश्च चतुर्विंशतिम् ॥४५१॥

वत्तीसा अमरिंदा लिहेह वत्तीस कंज पत्ते सु ।
णिय णिय मंत पउत्ता गणहर वलयेण वेढेइ ॥
द्वात्रिंशतममरेन्द्रान् लिखेत् द्वात्रिंशत्कंजपत्रेषु ।
निज निज मंत्र प्रयुक्तान् गणधर वलयेन वेष्टयेत् ॥४५२॥

सत्तपयारा रेहा सत्त वि विलिहेह वज्जसंजुत्ता ।
चउरंसो चउ दारा कुणह पयत्ते ण जुत्तीए ॥
सप्तप्रकाराः रेखाः सप्तापि विलिखेत् वज्र संयुक्ताः ।
चतुरंशांश्चतुर्द्वारान कुर्यात् प्रयत्नेन युक्तया ॥४५३॥

शान्ति चक्र यंत्रोद्धारः—

मध्य में कर्णिका लिखना चाहिये फिर वलय देकर उसके बाहर चार दिशा और चारों विदिशाओं मे अष्टदलाकार कमल बनाना चाहिये। फिर उसके बाहर वलय देकर सोलह दल का कमल बनाना चाहिये। फिर उसके बाहर वलय देकर चौवीस दलका कमल बनाना चाहिये। फिर उसके बाहर वलय देकर वत्तीस दल का कमल बनाना चाहिये। उसके बाहर वलय देकर

पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर इन चारों दिशाओं में भद्र के आकार चार द्वार वा दरवाजे बनाना चाहिये। फिर एक एक द्वार के दोनों ओर तीन तीन त्रिशूलाकार वज्र लिखना चाहिये। इस प्रकार चारों ओर के उन आठ त्रिशूलों के चौवीस क्षोभ (यक्षों के स्थान) करने चाहिये। फिर चारों विदिशाओं के खल के बाहर दो दो अलग अलग क्षिति मंडल के लिये त्रिशूलाकार वज्र बनाना चाहिये और उसके आठ वज्र लिखना चाहिये। इस प्रकार क्षिति मंडल सहित शांति चक्र यंत्र का उद्धार करना चाहिये।

सबसे पहले कर्णिका के मध्य भाग से "ओं ह्रीं अर्हद्भ्यो नमः" लिखना चाहिये। फिर उसी कर्णिका मे इस मंत्र के पूर्व की ओर 'ओं ह्रीं सिद्धेभ्यो नमः' यह मंत्र लिखना चाहिये। फिर उसकी दक्षिण दिशा में 'ओं ह्रीं सूरिभ्यो नमः' लिखना चाहिये। पश्चिम की ओर 'ओं ह्रीं पाठकेभ्यो नमः' लिखना चाहिये। उत्तर की ओर के दल में 'ओं ह्रीं सर्व साधुभ्यो नमः' लिखना चाहिये। तदनंतर उसी कर्णिका में चार विदिशाओं के चार दलों में से अग्नि कोण के दल में "ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनाय नमः" नैऋत कोण में "ओं ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय नमः" वायव्य कोण में "ओं ह्रीं सम्यक् चारित्राय नमः" और ईशान कोण में "ओं ह्रीं सम्यक् तपसे नमः" लिखना चाहिये। यह कर्णिका मे बने हुए नौ कोठों का उद्धार है।

इस कर्णिका के बाहर जो अष्ट दलाकार कमल है उसमें से पूर्व के दल में 'ओं ह्रीं जयायै स्वाहा' दक्षिण के दल में 'ओं ह्रीं

अर्थ—इसके सिवाय गुरु के उपदेश से शांति चक्र का उद्धार कर उसकी भी पूजा करनी चाहिये। जो इस प्रकार है:-बीच में कर्णिका रखकर वलय देकर उसके बाहर आठ दल का कमल बनावे फिर वलय देकर सोलह दल का कमल बनावे फिर वलय

विजयायै स्वाहा' पश्चिम के दल में 'ओं ह्रीं अजितायै स्वाहा' उत्तर के दल में 'ओं ह्रीं अपराजितायै स्वाहा' लिखना चाहिये। फिर अग्नि कोण में 'ओं ह्रीं जंभायै स्वाहा' नैऋत कोण में 'ओं ह्रीं मोहायै स्वाहा' वायव्य कोण में 'ओं ह्रीं स्तंभायै स्वाहा' तथा ईशान कोण में 'ओं ह्रीं स्तंभिन्यै स्वाहा' लिखना चाहिये। इन सब मंत्रों को प्रणव माया बीज पूर्वक होमांत लिखना चाहिये। इस प्रकार कर्णिका के बाहर का अष्ट दल कमल भर देना चाहिये।

उसके बाहर वलय के बाहर सोलह दल का कमल है उसमें पूर्व दिशासे प्रारंभ कर अनुक्रम से सोलह विद्या देवियों के नाम लिखना चाहिये। यथा—ओं ह्रीं रोहिण्यै स्वाहा १ ओं ह्रीं प्रज्ञप्त्यै स्वाहा २ ओं ह्रीं वज्रशृंखलायै स्वाहा ३ ओं ह्रीं वज्रांकुशायै स्वाहा ४ ओं ह्रीं अप्रतिचक्रायै स्वाहा ५ ओं ह्रीं पुरुषदत्तायै स्वाहा ६ ओं ह्रीं काल्यै स्वाहा ७ ओं ह्रीं महाकाल्यै स्वाहा ८ ओं ह्रीं गांधार्यै स्वाहा ९ ओं ह्रीं गौर्यै स्वाहा १० ओं ह्रीं ज्वालामालिन्यै स्वाहा ११ ओं ह्रीं वैराड्यै स्वाहा १२ ओं ह्रीं अच्युतायै स्वाहा १३ ओं ह्रीं अपराजितायै स्वाहा १४ ओं ह्रीं मानसी देव्यै स्वाहा

देकर उसके बाहर चौवीस दल का कमल बनावे फिर वलय देकर बत्तीस दल का कमल बनावे। उसके मध्य में कर्णिका पर मंत्र सहित अरहंत परमेष्ठी लिखे। चारों दिशाओं में अन्य परमेष्ठियों को लिखे विदिशाओं में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप लिखे।

ओं ह्रीं महा मानसी देव्यै स्वाहा इस प्रकार सोलह कमल दल भर देने चाहिये।

तदनंतर सोलह दल कमल के बाहर चौवीस दलका कमल है उसमें पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से चौवीस शासन देवियों का स्थापन करना चाहिये। यथा—ओं ह्रीं चक्रेश्वरी देव्यै स्वाहा १ ओं ह्रीं रोहिण्यै स्वाहा २ ओं ह्रीं प्रज्ञप्त्यै स्वाहा ३ ओं ह्रीं वज्रशृंखलायै स्वाहा ४ ओं ह्रीं पुरुषदत्तायै स्वाहा ५ ओं ह्रीं मनोवेगायै स्वाहा ६ ओं ह्रीं काल्यै स्वाहा ७ ओं ह्रीं महाकाल्यै स्वाहा ८ ओं ह्रीं ज्वाला मालिन्यै स्वाहा ९ ओं ह्रीं मानव्यै स्वाहा १० ओं ह्रीं गौर्यै स्वाहा ११ ओं ह्रीं गांधार्यै स्वाहा १२ ओं ह्रीं वैराट्यै स्वाहा १३ ओं ह्रीं अनन्त मत्यै स्वाहा १४ ओं ह्रीं मानसी देव्यै स्वाहा १५ ओं ह्रीं महा मानसी देव्यै स्वाहा १६ ओं ह्रीं जयायै स्वाहा १७ ओं ह्रीं विजयायै स्वाहा १८ ओं ह्रीं अपराजितायै स्वाहा १९ ओं ह्रीं बहुरूपिण्यै स्वाहा २० ओं ह्रीं चामुंडायै स्वाहा २१ ओं ह्रीं कुष्मांडिन्यै स्वाहा २२ ओं ह्रीं पद्मावत्यै स्वाहा २३ ओं ह्रीं सिद्धायिन्यै स्वाहा २४ इस प्रकार चौवीस दल कमल को भर देना चाहिये।

बाहर आठ दलों में जया आदि आठ देवियों का लिखे। सोलह कमलों में मंत्र सहित सोलह विद्या देवियों को लिखे, चौबीस कमलों में चौबीस यक्षियों को लिखे, बत्तीस कमलों में बत्तीस

—चौबीस दल कमल के बाहर वलय के बाद बत्तीस दल कमल है। उसमें भी पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से बत्तीस इन्द्रों को ब्रह्म माया बीज से प्रारंभ कर होमांत लिखना चाहिये अर्थात् जिसके आदि में ओं ह्रीं यह ब्रह्म और माया बीज हो तथा मध्य में चतुर्थी विभक्ति सहित देवी वा इन्द्र का नाम हो और अंत में हौमांत अर्थात् होम के अंत में कहे जाने वाला स्वाहा शब्द हो इस प्रकार सब देव देवियों को स्थापन करना चाहिये। यथा-ओं ह्रीं असुरेन्द्राय स्वाहा १ ओं ह्रीं नागेन्द्राय स्वाहा २ ओं ह्रीं विद्युदिन्द्राय स्वाहा ३ ओं ह्रा सुपर्णेन्द्राय स्वाहा ४ ओं ह्री अग्नीन्द्राय स्वाहा ५ ओं ह्रीं वातेन्द्राय स्वाहा ६ ओं ह्रीं स्तनितेन्द्राय स्वाहा ७ ओं ह्रीं उदधीन्द्राय स्वाहा ८ ओं ह्रीं द्वीपेन्द्राय स्वाहा ९ ओं ह्रीं दिगिन्द्राय स्वाहा १० ओं ह्रीं किन्नरेन्द्राय स्वाहा ११ ओं ह्रीं किंपुरुषेन्द्राय स्वाहा १२ ओं ह्रीं महोरगेन्द्राय स्वाहा १३ ओं ह्रीं गंधर्वेन्द्राय स्वाहा १४ ओं ह्रीं यक्षेन्द्राय स्वाहा १५ ओं ह्रीं राक्षसेन्द्राय स्वाहा १६ ओं ह्रीं भूतेन्द्राय स्वाहा १७ ओं ह्रीं पिशाचेन्द्राय स्वाहा १८ ओं ह्रीं चन्द्रेन्द्राय स्वाहा १९ ओं ह्रीं आदित्येन्द्राय स्वाहा २० ओं ह्रीं सौधर्मेन्द्राय स्वाहा २१ ओं ह्रीं ईशानेन्द्राय स्वाहा २२ ओं ह्रीं सानत्कुमारेन्द्राय स्वाहा २३ ओं ह्रीं माहेन्द्राय स्वाहा २४ ओं ह्रीं ब्रह्मेन्द्राय स्वाहा २५ ओं ह्रीं लांतवे-

इन्द्रों को लिखे। इन सबको अपने अपने मंत्र सहित लिखना चाहिये। इस प्रकार सात रेखाओं से वेष्टित करना चाहिये तथा सातों ही रेखाएं वज्र सहित होनी चाहिये। चारों ओर चार द्वार

न्द्राय स्वाहा २६ ओं ह्रीं शुक्रेन्द्राय स्वाहा २७ ओं ह्रीं शतारेन्द्राय स्वाहा २८ ओं ह्रीं आनतेन्द्राय स्वाहा २९ ओं ह्रीं प्राणतेन्द्राय स्वाहा ३० ओं ह्रीं आरणेन्द्राय स्वाहा ३१ ओं ह्रीं अच्युतेन्द्राय स्वाहा ३२ इस प्रकार बत्तीस दल कमल को भर देना चाहिये।

तदनतर चारों दिशाओं के चारों द्वारों के दोनों ओर लिखे हुए चौबीस वज्रों में गोमुख आदि चौबीसों यक्षों को वेद शक्ति बीज सहित होमांत लिखना चाहिये। इन सबको पूर्व दिशा से प्रारंभ कर पश्चिम की ओर होते हुए अनुक्रम से लिखना चाहिये। इस प्रकार एक एक दिशा में छह छह यक्ष लिखना चाहिये। यथा ओं ह्रीं गोमुखाय स्वाहा १ ओं ह्रीं महायक्षाय स्वाहा २ ओं ह्रीं त्रिमुखाय स्वाहा ३ ओं ह्रीं यक्षेश्वराय स्वाहा ४ ओं ह्रीं तुंवुरवे स्वाहा ५ ओं ह्रीं कुसुमाय स्वाहा ६ ओं ह्रीं वरंनदिने स्वाहा ७ ओं ह्रीं विजयाय स्वाहा ८ ओं ह्रीं अजिताय स्वाहा ९ ओं ह्रीं ब्रह्मे-श्वराय स्वाहा १० ओं ह्रीं कुमाराय स्वाहा ११ ओं ह्रीं षण्मुखाय स्वाहा १२ ओं ह्रीं पाताळाय स्वाहा १३ ओं ह्रीं किन्नराय स्वाहा १४ ओं ह्रीं किंपुरुषाय स्वाहा १५ ओं ह्रीं गरुडाय स्वाहा १६ ओं ह्रीं गंधर्वाय स्वाहा १७ ओं ह्रीं महेन्द्राय स्वाहा १८ ओं ह्रीं कुबेराय स्वाहा १९ ओं ह्रीं वरुणेन्द्राय स्वाहा २० ओं ह्रीं विद्युत्प्रभाय स्वाहा २१ ओं ह्रीं सर्वाल्हाय स्वाहा २२ ओं ह्रीं धरणेन्द्राय स्वाहा

करना चाहिये। बाहर प्रत्येक दिशा में छह छह यक्षों का निवेश करना चाहिये। इस प्रकार इस यंत्र का उद्धार करना चाहिये।

---

२३ ओं ह्रीं मातंगाय स्वाहा २४ इस प्रकार चारों दिशाओं में चौवीस यक्षों को लिखना चाहिये।

तदनंतर पूर्वादिक चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में तथा पूर्व और पश्चिम में प्रणव माया वीज आदि होमांत युक्त इन्द्रादिक दश दिक्पालों को स्थापन करना चाहिये। तथा ओं ह्रीं इन्द्राय स्वाहा १ पूर्वे, ओं ह्रीं अग्नीन्द्राय स्वाहा २ आग्नेय्याम, ओं ह्रीं यमाय स्वाहा ३ दक्षिणे, ओं ह्रीं नैऋताय स्वाहा ४ नैऋत दिशायां, ओं ह्रीं वरुणाय स्वाहा ५ पश्चिमे, ओं ह्रीं पवनाय स्वाहा ६ वायव्याम्, ओं ह्रीं कुवेराय स्वाहा ७ उत्तरे, ओं ह्रीं ईशानाय स्वाहा ८ ईशाने, ओं ह्रीं धरणीन्द्राय स्वाहा ९ पूर्वे, ओं ह्रीं सोमाय स्वाहा १० पश्चिमे।

तदनंतर-पूर्वादिक चारों दिशाओं तथा चारों विदिशाओं में और दुबारा पूर्व दिशाओं में इस प्रकार नौ स्थानों में प्रणवपूर्वक स्वाहा पर्यंत आदित्यादिक नव ग्रहों को लिखना चाहिये और उनको पूर्व दिशा से प्रारंभ कर अनुक्रम से पश्चिम की ओर घूमते हुए पूर्व दिशा तक लिखना चाहिये। यथा-ओं ह्रीं आदित्याय स्वाहा १ ओं ह्रीं सोमाय स्वाहा, ओं ह्रीं भौमाय स्वाहा, ओं ह्रीं बुधाय स्वाहा, ओं ह्रीं वृहस्पतये स्वाहा, ओं ह्रीं शुक्राय स्वाहा ओं ह्रीं शनैश्चराय स्वाहा ओं ह्रीं राहवे स्वाहा ओं ह्रीं केतवे स्वाहा।

एवं अंतुद्धारं इत्थं मइ अक्खियं समासेण।
सेसं किंपि विहाणं णायव्वं गुरु पसाएण॥
एवं यंत्रोद्धारं इत्थं मया कथितं समासेन।
शेषं किमपि विधानं ज्ञातव्यं गुरु प्रसादेन ॥४५४॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने यह यंत्रोद्धार का स्वरूप अत्यंत संक्षेप से कहा है। इसका शेष विधान वा विस्तार गुरुओं के प्रसाद से जान लेना चाहिये।

अट्ठ विह अच्चणाए पुज्जेयव्वं इमं खु णियमेण।
दव्वेहिं सुअंधेहि य लिहियव्वं अइपवित्तेहिं॥
अष्टविधार्चनया पूजितव्यं इदं खलु नियमेन।
द्रव्यैः सुगन्धैश्च लेखितव्यं अति पवित्रैः ॥४५५॥

अर्थ—इन यंत्रों को पवित्र धातुओं पर अत्यंत पवित्र और सुगंधित द्रव्यों से लिखना चाहिये। तदनंतर नियम पूर्वक आठों द्रव्यों से प्रति दिन पूजा करना चाहिये।

आगे इसका फल बतलाते हैं।

फिर सबके बाहर 'ओं ह्रीं आं क्रों अनावृताय स्वाहा' यह यंत्र लिख कर अनावृत यक्षको स्थापन करना चाहिये तदनंतर भूमंडल देकर अष्ट वज्र सहित क्षिति बीज और अष्ट इन्द्रायुध के बीजकर सहित लिखना चाहिये। इस प्रकार यह यंत्र विधि है।

जो पुज्जइ अणवरयं पावं णिद्दहइ आसभव बद्धं ।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पउराइं पुण्णाइं ॥
यः पूजयति अनवरतं पापं निर्दहति पूर्वभवबद्धम् ।
प्रतिदिनकृतं च विधुनाति बध्नाति प्रचुराणि पुण्यानि ॥४५६॥

अर्थ—जो पुरुष इन यंत्रों की प्रति दिन पूजा करता है वह अपने पूर्व भवों में संचित किये हुए समस्त पापों को जला देता है नष्ट कर देता है। तथा प्रति दिन के पापों को भी नष्ट कर देता है। इसके साथ ही वह बहुत अधिक मात्रा में पुण्य कर्मों का संचय करता है।

इह लोए पुण मंता सव्वे सिज्झंति पढिय मित्तेण ।
विज्जाओ सव्वाओ हवंति फुडु साणुकूलाओ ॥
इह लोके पुनर्मंत्राः सर्वे सिध्यन्ति पठितमात्रेण ।
विद्याः सर्वा भवन्ति स्फुटं सानुकूलाः ॥४५७॥

अर्थ—इसके पठन करने मात्र से पाठ करने से इस लोक में भी समस्त मंत्र सिद्ध हो जाते हैं तथा जितनी विद्याएं हैं वे सब स्पष्ट रीति से अपने अनुकूल हो जाती है।

गह भूय डायणीओ सव्वे णस्संति तस्स णामेण ।
णिव्विसियरणं पयडइ सुसिद्ध चक्कप्पहावेण ॥
ग्रहभूतपिशाचिन्यः सर्वा नश्यन्ति तस्य नाम्ना ।
निर्विषीकरणं प्रकटयति सुसिद्ध चक्रप्रभावेन ॥४५८॥

अर्थ—यह भूत डाकिनी पिशाच आदि सिद्ध चक्र का नाम लेने से ही सब नष्ट हो जाते हैं। तथा इसी सिद्ध चक्र के प्रभाव से समस्त प्रकार के विष दूर हो जाते हैं। निर्विषी करण प्रगट हो जाता है।

वसियरणं आइट्ठी थंभं गोहं च संति कम्माणि।
नानाजराणां हरणं कुणेइ तं झाणजोएण ॥
वशीकरणं आकृष्टिं स्तम्भनं स्नेहं शान्ति कर्म।
नानाजराणां हरणं करोति तद्ध्यानयोगेन ॥४५६॥

अर्थ- इन यंत्र मंत्रों का ध्यान करने से वशी करण आकर्षण स्तंभन शांति कर्म स्नेह आदि सब मंत्र सिद्ध हो जाते हैं। इन्हीं मंत्रों का ध्यान करने से वशीकरण हो जाता है जिसको आकर्षण करना चाहो वह आकर्षित हो जाता है जिसका स्तंभन करना चाहो इसका स्तंभन हो जाता है रुक जाता है जिसको शांत करना चाहो वह शांत हो जाता है बुढापा दूर हो जाता है तथा और भी अनेक प्रकार के लाभ हो जाते हैं।

पहरंति ण तस्स रिउणो सत्तू मित्तत्तणं च उवयादि।
पुज्जो हवेइ लोए सुवल्लहो णरवरिंदाणं ॥
प्रहरन्ति न तस्य रिपवः शत्रुः मित्रत्वं च उपयाति।
पूजा भवति लोके सुवल्लभो नरवरेन्द्राणाम् ॥४६०॥

अर्थ—इस यंत्र मंत्र का ध्यान करने वाले पुरुष को उसका कोई भी शत्रु मार नहीं सकता, उसके सब शत्रु मित्र के समान हो जाते हैं, संसार में उसकी पूजा प्रतिष्ठा होती है और वह पुरुष राजा महाराजाओं का तथा इन्द्रों का भी प्रिय वा वल्लभ होता है

किं बहुणा उत्तेण य मोक्खं सोक्खं च लब्भई जेण ।
केत्तिय मेत्तं एयं सुसाहियं सिद्ध चक्केण ॥
किं बहुना उक्तेन च मोक्षः सौख्य च लभ्यते येन ।
कियन्मात्रमेतत् सुसाधितं सिद्धचक्रेण ॥४६१॥

अर्थ—अथवा बहुत कहने से क्या ? जिस सिद्धचक्र के प्रताप से इस मनुष्य को मोक्ष के अनंत सुख प्राप्त होते हैं फिर भला ये संसारिक लाभ उसके सामने क्या पदार्थ हैं अर्थात् कुछ भी नहीं ।

आगे पंच परमेष्ठी चक्र को कहते हैं ।

अहवा जइ असमत्थो पुज्जइ परमेट्ठिपंचकं चक्कं ।
तं पायडं खु लोए इच्छिय फलदायगं परमं ॥
अथवा यद्यसमर्थः पूजयेत्परमेष्ठिपंचकं चक्रम् ।
तत्प्रकटं खलु लोके इच्छितफलदायकं परमम् ॥४६२॥

अर्थ—अथवा जो कोई पुरुष इन यंत्रों के बनाने में वा पूजा अर्चा करने असमर्थ हो तो उसको पंच परमेष्ठी चक्र की पूजा

करनी चाहिये । वह पच परमेष्ठी चक्र भी इस लोक में सर्वोत्कृष्ट इच्छानुसार फलको देने वाला है ।

आगे पच परमेष्ठी चक्र का यन्त्रोद्धार बतलाते हैं ।

सिररेह भिण्ण सुण्णं चंदकला विंदुएण संजुत्तं ।
मत्ताहिय उवरगयं सुवेढियं कामवीएण ॥
शिरोरेफभिन्नशून्यं चन्द्रकलाविन्दुकेन संयुक्तम् ।
मात्राधिकोपरिगतं सुवेष्टितं कामवीजेन ॥४६३॥

वामदिसाइणयारं मयार सविसग्ग दाहिणे भाए ।
बहि अट्ठ पत्र कमलं तिउणं वेढेइ मायाए ॥
वाम दिशायां नकारं मकार सविसर्गं दक्षिणे भागे ।
वहिरष्टपत्रकमलं त्रिगुणं वेष्टयेत् मायया ॥४६४॥

पणमंति मुत्तिमेगे अरहंत पयं दलेसु सेसेसु ।
धरणीमंडल मज्झे झाएह सुरच्चियं चक्कं ॥
प्रणव इति मूर्तिमेकस्मिन् अर्हत्पदं दलेषु शेषेषु ।
धरणीमंडलमध्ये ध्यायेत्सुरार्चितं चक्रम् ॥४६५॥

---

१ बहुत तलाश करने पर भी दक्षिण उत्तर में कहीं भी इसका यन्त्र नहीं मिला तथा विना यन्त्र के इन पद्यों का अर्थ भी नहीं लग सका इसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं ।

अह एउणवण्णासे कोहे काऊण विउलरेहाहिं ।
अइरोइ अक्खराइं कमेण विण्णिसहं सव्वाइं ॥
अथवा एकोनपंचाशान् कोष्ठान् कृत्वा विपुलरेखाभिः ।
अतिरोच्यक्षराणि क्रमेण विनिवेशय सर्वाणि ॥४६६॥

ता णिसदं जहयारं मज्झिम ठाणेसु ठाइ जुत्तीए ।
वेढइ वीएण पुणो दलमंडल उयरमज्झत्थं ॥
तावत् निवेशय यथाकारं मध्यमस्थानेषु स्थापय युक्त्या ।
वेष्टय वीजेन पुनः इलामण्डलोदरमध्यस्थम् ॥४६७॥

अथवा अनेक रेखाओं से एक उनचास कोठे का यन्त्र बनाना चाहिये । मध्य में पंच परमेष्ठी का नाम देना चाहिये । तथा फिर अनुक्रम से अम्ल वर्यूं आम्ल वर्यूं इस प्रकार समस्त अक्षरों के मन्त्र लिखना चाहिये । जैसा कि यन्त्र में लिखा है । फिर तीन रेखाओं से घरा मण्डल लिखना चाहिये । इस प्रकार यन्त्र बनता है ।

एए जंतुद्धारे पुज्जइ परमेट्ठिपंच अहिहाणे ।
इच्छइ फलदायारो पावघणपडलहंतारो ॥
एतान् यंत्रोद्धारान् पूजयेत् परमेष्ठिपंचाभिधानान् ।
इच्छित फलदातृन् पापघनपटलहन्तृन् ॥४६८॥

अर्थ—ये यन्त्रोद्धार पंच परमेष्ठी वाचक हैं। इनकी पूजा करने से इच्छानुसार फलकी प्राप्ति होती है, तथा पापरूपी घने बादलों के समूह सब नष्ट हो जाते हैं। इसलिये इन यन्त्रों के द्वारा पंच परमेष्ठी की पूजा प्रति दिन करनी चाहिये।

अट्ठविहच्चण काउं पुव्व पउत्तम्मि ठावियं पडिमा।
पुज्जेह तग्गयमणो विविहहि पुज्जाहिं भत्तीए ॥
अष्टविधार्चनां कृत्वा पूर्वप्रोक्ते स्थापितां प्रतिमाम्।
पूजयेत् तद्गतमनाः विविधाभिः पूजाभिः भक्त्या ॥४६९॥

अर्थ—इस प्रकार अष्ट द्रव्य से यन्त्रों के द्वारा पंच परमेष्ठी की पूजा करके पहले अभिषेक के लिये विराजमान की हुई प्रतिमा में अपना मन लगाकर भक्ति पूर्वक अनेक प्रकार के द्रव्यों से अभिषेक बाद उन प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिये।

आगे अष्ट द्रव्यों के नाम और उनसे होने वाली पूजा का फल बतलाते हैं।

पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्ण जलधारा।
भिंगारणाल णिग्गइ भमंतभिंगेहिं कब्बुरिया ॥
प्रशमति रजः अशेषं जिनपद कमलेषु दत्तजलधारा।
भृंगारनालनिर्गता भ्रमद्भृंगैः कर्बुरिता ॥४७०॥

अर्थ—सबसे पहले जलकी धारा देकर भगवान की पूजा करनी चाहिये। वह जलकी धारा भृंगार (झारी) की नाल से निकलनी चाहिये तथा वह जल इतना सुगंधित होना चाहिये कि उस पर भ्रमर आजांय और जल धारा के चारों ओर घूमते हुए उन भ्रमरों से वह जलकी धारा अनेक रंग की दिखाई देने लगे ऐसी जलकी धारा भगवान के चरण कमलों पर पड़नी चाहिये। इस प्रकार जलकी धारा से भगवान की पूजा करनेसे समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म शांत हो जाते है।

चंदणसुअन्ध लेओ जिणवर चरणेसु जो कुणइ भविओ ।
लहइ तणूविक्कि रियं सहावसुयंधयं अमलं ॥
चन्दन सुगंध लेपं जिनवर चरणेषु यः करोति भव्यः ।
लभते तनुं वैक्रियिकं स्वभावसुगन्धकं अमलम् ॥४७१॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों पर (जिन प्रतिमा के चरण कमलों पर) सुगंधित चन्दन का लेप करता है उसको स्वर्ग में जाकर अत्यन्त निर्मल और स्वभाव से ही सुगंधित वैक्रियिक शरीर प्राप्त होता है। भावार्थ-चन्दन से पूजा करने वाला भव्य जीव स्वर्ग में जाकर उत्तम देव होता है।

पुण्णाण पुञ्जे हि य अक्खय पुन्जेहि देवपयपुरओ ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवत्तित्तं ॥

पूर्णैः पूजयेच्च अक्षतपुंजैः देवपद पुरतः ।
लभ्यन्ते नव निधानानि सु अक्षयानि चक्रवर्तित्वम् ॥४७२॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान जिनेन्द्रदेव के सामने पूर्ण अक्षतों के पुंज चढ़ाता है अक्षतों से भगवान की पूजा करता है वह पुरुष चक्रवर्ती का पद पाकर अक्षय रूप नव निधियों को प्राप्त करता है। चक्रवर्ती को जो निधियां प्राप्त होती हैं उनमें से चाहे जितना सामान निकाला जाय निकलता ही जाता है कम नहीं होता।

अलि चुंविएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं ।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवर वणेहिं ॥
अलि चुम्बितैः पूजयति जिनपद कमलं च जातिमल्लिकैः ।
स भवति सुरवरेन्द्रः रमते सुरतरुवरवनेषु ॥ ४७३॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों की जिन पर भ्रमर घूम रहे हैं ऐसे चमेली मोगरा आदि उत्तम पुष्पों से पूजा करता है वह स्वर्ग में जाकर अनेक देवों का इन्द्र होता है और वह वहां पर चिरकालतक स्वर्ग में होने वाले कल्प वृक्षों के वनों में (बगीचों में) क्रीडा किया करता है।

दहिखीर सप्पि संभव उत्तम चरुरगहि पुज्जए जो हु ।
जिणवरपाय पओरुह सो पावइ उत्तमे भोए ॥

दधि क्षीर सर्पिः सम्भवोत्तम चरुकैः पूजयेत् योहि ।
जिनवर पादपयोरुहं स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान् ॥४७४॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष दही दूध घी आदि से बने हुए उत्तम नैवेद्य से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है उसे उत्तमोत्तम भोगों की प्राप्ति होती है ।

कप्पूर तेल्ल पयलिय मंद मरुपहयणडियदीवेहिं ।
पुज्जइ जिण पय पोमं ससि सूरवि सम तणु लहई ॥
कर्पूर तैल प्रज्वलित मन्द मरुत्प्रहतनटितदीपैः ।
पूजयति जिन पद्मं शशिसूर्यसम तनु लभते ॥४७५॥

अर्थ—जो दीपक कपूर घी तेल आदि से प्रज्वलित हो रहा है और मन्द मन्द वायु से नाच सा रहा है ऐसे दीपक से जो भव्य पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों की पूजा करता है वह पुरुष सूर्य चन्द्रमा के समान तेजस्वी शरीर को धारण करता है ।

सिल्लारस अयरु मिस्सिय णिग्गइ धूवेहिं वहल धूमेहिं ।
धूवइ जो जिण चरणेस लहई सुहवत्तणं तिजए ॥
शिलारसागुरुमिश्रितनिर्गतधूपैः वहलधूम्रैः ।
धूपयेद्यः जिनचरणेसलभते शुभवर्तनं त्रिजगति ॥४७६॥

अर्थ—जिससे बहुत भारी धूंआं निकल रहा है और जो शिलारस (शिलाजीत) अगुरु चंदन आदि सुगंधित द्रव्यों से बनी हुई है ऐसी धूप अग्नि में खेकर भगवान जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों को धूपित करता है वह तीनों लोकों में उत्तम पद को प्राप्त होता है। धूप को अग्नि में खेना चाहिये और उससे निकला हुआ धूंआं दायें हाथ से भगवान की ओर करना चाहिये।

पक्केहिं रसड्ढ समुज्जलेहिं जिणचरणपुरओ ।
णाणा फलेहिं पावइ पुरिसो हिय इच्छियं सुफलं ॥
पक्वैः रसाढयैः समुज्वलैः जिनवरचरणपुरः ।
नानाफलैः प्राप्नोति पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलम् ॥४७७॥

अर्थ—जो भव्य पुरुष अत्यन्त उज्वल रससे भरपूर ऐसे अनेक प्रकार के पके फलों से भगवान जिनेन्द्र देव के चरण कमलों के सामने समर्पण कर पूजा करता है वह अपने हृदय अनुकूल उत्तम फलों को प्राप्त होता है।

इय अट्ठमेय अच्चण काऊं पुण जवइ मूलविज्जा य ।
जा जत्थ जहा उत्ता सयं च अट्ठोत्तरं जावा ॥
इति अष्टभेदार्चनं कृत्वा पुनः जपेत् मूलविद्यां च ।
यां यत्र यथोक्तां शतं चाष्टोत्तरं जाप्यम् ॥४७८॥

अर्थ—इस प्रकार अष्ट द्रव्यों से भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा करनी चाहिये तदनतर मूल मन्त्र का जप करना चाहिये। जिस पूजा में जो मूल मन्त्र बतलाया है उसी मन्त्र को एकसौ आठ बार जपना चाहिये।

आगे किस रूप से भगवान का ध्यान करना चाहिये सो बतलाते हैं।

किच्चा काउस्सग्गं देवं झाएह समवसरणत्थं।
लद्धट्ठ पाडिहेरं णवकेवल लद्धि संपुण्णं॥
कृत्वा कायोत्सर्गं देवं ध्यायेत् समवसरणस्थम्।
लब्धाष्ट प्रातिहार्यं नवकेवललब्धिसम्पूर्णम्॥४७६॥

अर्थ—तदनन्तर कायोत्सर्ग कर भगवान जिनेन्द्र देव का ध्यान करना चाहिये। आगे किस रूप से ध्यान करना चाहिये सो बतलाते हैं। भगवान समवसरण मे विराजमान हैं आठों प्राति हार्यों से सुशोभित हैं तथा नौ केवल लब्धियां से परिपूर्ण हैं। अशोक वृक्ष का होना देवों के द्वारा पुष्प वृष्टि का होना, देवों के द्वारा बाजे बजना, सिंहासन, चमर, छत्र भामंडल का होना दिव्य ध्वनि का होना ये आठ प्राति हार्य कहलाते है। अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान क्षायिक दान क्षायिक लाभ क्षायिक भोग क्षायिक उपभोग क्षायिक वीर्य क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र ये नौ लब्धियां कहलाती हैं।

आगे और भी बतलाते हैं।

णट्ठ चउ घाइ कम्मं केवल णाणेण मुणिय तियलोयं।
परमेट्ठी अरिहंतं परमत्थं परम झाणत्थं ॥
नष्ट चतुर्घाति कर्माणं केवल ज्ञानेन ज्ञातत्रिलोकम्।
परमेष्ठिनमर्हन्तं परमात्मानं परमध्यानस्थम् ॥४८०॥

अर्थ—जिनके चारों घातिया कर्म नष्ट होगये हैं जो अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों को प्रत्यक्ष जानते हैं जो अरहंत पद में विराजमान हैं, परम परमेष्ठी हैं परमात्मा हैं और परम वा सर्वोत्कृष्ट ध्यान में लीन हैं। ऐसे भगवान अरहत देव का ध्यान करना चाहिये।

झाणं झाऊण पुणो मज्झाणिय वंदणत्थ काऊणं।
उवसंहरिय विसज्जे जे पुव्वावाहिया देवा ॥
ध्याने ध्यात्वा पुनः माध्याह्निकवंदनामत्र कृत्वा।
उपसंहृत्य बिसर्जयेत् यान् पूर्वमाहूतान् देवान् ॥४८१॥

अर्थ—इस प्रकार अरहंत भगवान का ध्यान कर माध्यान्हिक वंदना करनी चाहिये। तदनंतर उपसंहार कर पहले आह्वान किये हुये देवों का विसर्जन करना चाहिये।

आगे पूजा का फल कहते हैं।

एए विहाणेण पुडं पुज्जा जो कुणइ भत्ति संजुत्तो।
सो डहइ णियं पावं बंधइ पुण्णं तिजय खोहं ॥
एतद् विधानेन स्फुटं पूजां यः करोति भक्तिसंयुक्तः।
सदहति निजं पापं बध्नाति पुण्यं त्रिजगत्क्षोभम् ॥४८२॥

अर्थ--इस प्रकार जो भव्य पुरुष भक्ति सहित ऊपर लिखी विधि के अनुसार भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा करता है वह अपने समस्त पापों को नाश कर देता है तथा तीनों लोकों को क्षोभ उत्पन्न करने वाले पुण्य का बंध करता है।

उप्पज्जइ दिवलोए भुंजइ भोए मणिच्छिए इट्ठे।
बहुकालं चविय पुणो उत्तम मणुयत्तणं लहई ॥
उत्पद्यते स्वर्गलोके भुंक्ते भोगान् मन इच्छितान् इष्टान्।
बहुकालं च्युत्वा पुनः उत्तममनुष्यत्वं लभते ॥४८३॥

अर्थ—तदनन्तर आयु पूर्ण होने पर वह स्वर्गलोक मे उत्पन्न होता है, वहां पर अपने मन की इच्छानुसार अनेक प्रकार के इष्ट भोगों का अनुभव करता है तथा चिरकाल तक उन भोगों का अनुभव करता रहता है। आयु पूर्ण होने पर वहां से च्युत होता है और मनुष्य लोक में आकर उत्तम मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है।

होऊण चक्क वट्टी चउदह रयणेहि णव णिहाणेहिं।
पालिय छक्खंडधरा भुंजिय भोए णिरुगारिट्ठा ॥

भूत्वा चक्रवर्ती चतुर्दशरत्नैर्नव निधानैः ।
पालयित्वा षट्खण्डधरां भुक्त्वा भोगान् निर्गरिष्ठान् ॥४८४॥

अर्थ—उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर वह चक्रवर्ती पद प्राप्त करता है चौदह रत्न और नौ निधियों को प्राप्त करता है छहों खंड पृथ्वी का पालन करता है और उत्तमोत्तम भोगों का अनुभव करता है।

संपत्त बोहि लाहो रज्जं परिहरिय भविय णिग्गंथो ।
लहिऊण सयलसंजम धरिऊण महव्वया पंच ॥
संप्राप्तबोधिलाभः राज्यं परिहृत्य भूत्वा निर्ग्रन्थः ।
लब्ध्वा सकलसंयमं धृत्वा महाव्रतानि पंच ॥४८५॥

अर्थ—तदनतर वह संसार शरीर और भोगों से विरक्त होकर रत्नत्रय को धारण करता है, राज्य का त्याग कर दीक्षा लेकर निर्ग्रन्थ अवस्था धारण करता है सकल संयम को धारण करता है और पच महाव्रतों को धारण करता है।

लहिऊण सुक्कझाणं उप्पाइय केवलं वरं णाणं ।
सिज्झेइ णट्ठकम्मो अहिसेयं लहिय मेरुम्मि ॥
लब्ध्वा शुक्लध्यानं उत्पाद्य केवलं वरं ज्ञानम् ।
सिध्यति नष्टकर्मा अभिषेकं लब्ध्वा मेरौ ॥४८६॥

अर्थ—पंच महाव्रत धारण कर वह शुक्ल ध्यान को धारण करता है चारों घातिया कर्मों को नाश कर मोक्ष प्राप्त करता है। यदि वह फिर स्वर्ग में उत्पन्न हुआ तो वहां से आकर तीर्थंकर होकर मेरु पर्वत पर अपना अभिषेक कराता है और फिर तपश्च-रण कर केवल ज्ञान प्राप्त कर अनेक जीवों को मोक्षमार्ग में लगाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

इय णाउण विसेसं पुण्णं आयरइ कारणे तस्स।
पावहणं जाम सयलं संजमयं अप्पमत्तं च॥
इति ज्ञात्वा विशेषं पुण्यं अर्जयेत् कारणं तस्य।
पापघ्नं यावत् सकलं सयम अप्रमत्त च ॥४८७॥

अर्थ—यह सब पुण्य की विशेष महिमा समझकर जबतक सकल संयम प्राप्त न हो जाय तब तक समस्त पापों को नाश करने वाले और मोक्ष के कारण भूत ऐसे विशेष पुण्य का उपार्जन करते रहना चाहिये।

आगे विशेष पुण्य के लिये और क्या क्या करना चाहिये सो कहते हैं।

भावह अणुव्वयाइं पालह सीलं च कुणह उववासं।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जह अणवरय दाणाइं॥
भावयेत् अणुव्रतानि पालयेत् शीलं च कुर्यादुपवासम्।
पर्वणि पर्वणि नियमं दद्यात् अनवरतं दानानि ॥४८८॥

अर्थ—ऐसे विशेष पुण्य को उपार्जन करने के लिये अणुव्रतों को पालन करना चाहिये, गुणव्रत शिक्षाव्रत रूप शीलों का पालन करना चाहिये। प्रत्येक पर्व के दिन उपवास करना चाहिये और नियम पूर्वक निरन्तर दान देना चाहिये।

अभय पयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थ दाणं च ।
तइयं ओसह दाणं आहारदाणं चउत्थं च ॥
अभयप्रदानं प्रथमं द्वितीयं भवति शास्त्रदानं च ।
तृतीयं त्वौषधदानं आहारदानं चतुर्थं च ॥४८९॥

अर्थ—दान के चार भेद हैं पहला अभयदान, दूसरा शास्त्रदान, तीसरा औषधदान और चौथा आहार दान।

आगे इन दानों का फल बतलाते हैं।

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरुणं ।
सो णिब्भओ तिलोए उत्तमो होइ सव्वेसिं ॥
सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरण भीरूणाम् ।
स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषाम् ॥४९०॥

अर्थ—जो जीव अपने मरने से भयभीत हो रहे हैं ऐसे समस्त जीवों को जो अभय दान देता है वह पुरुष तीनों लोकों में निर्भय होता है और सब मनुष्यों में उत्कृष्ट होता है।

सुयदाणेण य लब्भइ मइ सुइ णाणं च ओहिमणणाणं।
बुद्धितवेणय सहियं पच्छा वर केवलं णाणं ॥
श्रुतदानेन च लभते मतिश्रुतज्ञानं च अवधि मनोज्ञानम्।
बुद्धि तपोभ्यां च सहितं पश्चाद्वरकेवलं ज्ञानम् ॥४६१॥

अर्थ—जो पुरुष शास्त्र दान देता है, जिनागम को पढ़ाता है वह पुरुष मति ज्ञान श्रुतज्ञान दान दोनों ज्ञानों को पूर्ण रूप से प्राप्त करता है, बुद्धि और तपश्चरण के साथ साथ अवधि ज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान को प्राप्त करता है।

ओसहदाणेण णरो अतुलिम बलपरक्कमोमहासत्तो।
वाहि विमुक्क सरीरो चिराउ सो होइ तेयट्ठो ॥
औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महासत्वः।
व्याधि विमुक्त शरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्थः ॥४६२॥

अर्थ—जो पुरुष औषध दान देता है वह अतुलित वा सर्वोत्कृष्ट बल और पराक्रम को धारण करता है महा शक्ति को धारण करता है, वह चिरायु होता है, तेजस्वी होता है और उसका शरीर समस्त रोग व्याधियों से रहित होता है।

ज्ञानवान् ज्ञानदानेण निर्भयोऽभय दानतः।
अन्नदानात्सुखी नित्यं निर्व्याधि र्भेषजाद्भवेत ॥

अर्थ—यह जीव ज्ञान दान से ज्ञानी होता है, अभयदान से निर्भय होता है अन्नदान से सुखी होता है और औषध दान से निरोग होता है।

दाणस्साहार फलं को सक्कइ वरिणऊण भुवणयले ।
दिण्णेण जेण भोआ लब्भंति मणिच्छियासव्वे ॥
दानस्य आहारस्य फलं कः शक्नोति वर्णयितुं भुवनतले ।
दत्तेन येन भोगा लभ्यन्ते मन इच्छिताः सर्वे ॥४६३॥

अर्थ--इन तीनों लोकों में आहार दान के फल को वर्णन करने के लिये भला कौन समर्थ है । भावार्थ--आहार दान के फल को कोई कह ही नहीं सकता क्योंकि आहार दान के देने से अपने मन की इच्छानुसार समस्त उत्तम भोगों की प्राप्ति होती है ।

दायारो वि य पत्तं दाण विसेसो तहा विहाणं च ।
एए चउ अहियारा णायव्वा होंति भव्वेण ॥
दातापि च पात्रं दानविशेषस्तथा विधानं च ।
एते चतुरधिकारो ज्ञातव्या भवन्ति भव्येन ॥४६४॥

अर्थ—भव्य जीवों को सबसे पहले दान देने के चार अधिकार समझ लेने चाहिये । दाता, पात्र, दान, देने योग्य द्रव्य और देने की विधि ये चार अधिकार है ।

दान देने वाले को दाता कहते हैं जिसको दान दिया जाता है वह पात्र कहलाता है, दान में जो द्रव्य दिया जाता है वह दान विशेष है और दान देने के नियमों को विधि कहते हैं ।

दायारो उवमंतो मणवय काएण संजुओ दच्छो ।
दाणे कयउच्छाहो पयडय वर छग्गुणो अमये ॥
दाता उपशान्तो मनोवचन कायेन संयुक्तो दक्षः ।
दाने कृतोत्साहः प्रकटित वरषड्गुणः अभयः ॥४६५॥

अर्थ—जो भव्य जीव शांत परिणामों को धारण करता है, जो मन वचन काय से दान देने में लगा हो अत्यन्त चतुर हो, दान देने में जिसका उत्साह हो, जो मद वा अभिमान रहित हो और दाता के छह गुणों से सुशोभित हो ऐसा भव्य जीव दात गिना जाता है ।

भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।
विउणाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥
भक्तिः तुष्टिः क्षमाश्रद्धा सत्वं च लोभपरित्यागः ।
विज्ञानं तत्काले सप्तगुणाः भवन्ति दातरि ॥४६६॥

अर्थ—जिनको दान देना है उनमें जिसकी भक्ति हो, दान देने में जिसको संतोष हो, क्षमा को धारण करने वाला हो, देव शास्त्र गुरु में वा पात्र में श्रद्धा रखता हो, दान देने की शक्ति रखता हो, जिसके लोभ का त्याग हो और दान देने में क्या क्या करना चाहिये इस बात का जिसको पूरा ज्ञान हो वही उत्तम दाता कहलाता है । भावार्थ-दाता में ये सात गुण अवश्य होने चाहिये ।

आगे पात्रों के भेद बतलाते हैं ।

तिविहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च ।
उत्तम पत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ॥
त्रिविधं भणन्ति पात्रं मध्यमं तथोत्तमं जघन्यं च ।
उत्तमपात्रं साधुः मध्यमपात्रं च श्रावका भणिताः ॥४६७॥

अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्ण पत्तं तु अक्खियं समये ।
णाउण पत्तविसेसं दिज्जइ दाणाइ भत्तीए ॥
अविरत सम्यग्दृष्टिः जघन्यपात्रं तु कथितं समये ।
ज्ञात्वा पात्रविशेषं दद्यात् दानानि भक्त्या ॥४६८॥

अर्थ—पात्र तीन प्रकार के हैं उत्तम पात्र मध्यम पात्र और जघन्यपात्र । इनमें से उत्तम पात्र रत्नत्रय को धारण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनि हैं मध्यम पात्र अणुव्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अविरत सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं । ऐसा शास्त्रों में निरूपण किया है । इसलिये भव्य जीवों को इन पात्रों के भेद और विशेषता समझकर भक्ति पूर्वक दान देना चाहिये ।

आगे जैसा पुरुष जैसे पात्र को दान देता है उसको वैसा ही उत्तम फल मिलता है यही दिखलाते हैं ;

मिच्छादट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते ।
सो पावइ वर भोए फुड उत्तम भोय भूमीसु ॥

मिथ्यादृष्टिः पुरुषो दानं यो ददाति उत्तमे पात्रे ।
स प्राप्नोति वर भोगान् स्फुट उत्तमभोगभूमीषु ॥४९९॥

अर्थ--यदि कोई मिथ्यादृष्टी पुरुष किसी उत्तमपात्र को दान देता है तो वह पुरुष उत्तम भोगभूमि के उत्तम भोगों को प्राप्त होता है ।

मज्झिम पत्ते मज्झिम भोयभूमीसु पावए भोए ।
पावइ जहण्ण भोए जहण्ण पत्तस्स दाणेण ॥
मध्यमपात्रे मध्यमभोगभूमिषु प्राप्नोति भोगान् ।
प्राप्नोति जघन्यभोगान् जघन्यपात्रस्य दानेन ॥५००॥

अर्थ--यदि मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी मध्यम पात्र को दान देता है तो वह मध्यम भोग भूमि के भोगों को प्राप्त होता है और यदि वही मिथ्या दृष्टि पुरुष किसी जघन्य पात्र को दान देता है तो वह जघन्य भाग भूमि मे जन्म लेकर वहां के भोगों का अनुभव करता है ।

आगे फलों में यह न्यूनाधिकता क्यों होती है सो बतलाते है ।

उत्तम छित्ते वीयं फलइ जहा लक्ख कोडि गुणणेहिं ।
दाणं उत्तम पत्ते फलइ तहा किमिच्छ भणिएण ॥
उत्तम क्षेत्रे बीजं फलति यथा लक्षकोटि गुणैः ।
दानं उत्तमपात्रे फलति तथा किमिच्छभणितेन ॥५०१॥

अर्थ--जिस प्रकार उत्तम पृथ्वीपर बोया हुआ बीज लाखों गुणा या करोडों गुणा फलता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान इच्छानुसार फलको देता है।

सम्मादिट्ठी पुरिसो उत्तम पुरिसस्स दिण्ण दाणेण।
उववज्जइ दिव लोए हवइ स महड्ढिओ देओ॥
सम्यग्दृष्टिः पुरुषः उत्तम पुरुषस्य दत्तदानेन।
उत्पद्यते स्वर्गलोके भवति स महर्द्धिको देवः॥५०२॥

अर्थ-यदि कोई सम्यग्दृष्टी पुरुष उत्तम पात्र को दान देता है तो वह स्वर्ग लोक में जाकर महा ऋद्धियों को महा विभूतियों को धारण करने वाला उत्तम देव होता है।

जह णीरं उच्छुगयं कालं परिणावइ अमिय रूवेण।
तह दाणं वर पत्ते फलेइ भोएहिं विविहे हिं॥
यथा नीरमिक्षुगतं काले परिणमति अमृतरूपेण।
तथा दान वरपात्रे फलति भोगैः विविधैः॥५०३॥

अर्थ-जिस प्रकार ईख के खेत में दिया हुआ पानी अपने समय पर अमृतरूप (मीठे रसरूप) परिणत हो जाता है उसी प्रकार उत्तम पात्र को दिया हुआ दान अपने समय पर अनेक प्रकार के भोगों से फलता है।

उत्तमरयणं खु जहा उत्तम पुरिसासियं च बहुमुल्लं।
तह उत्तम पत्तगयं दाणं णिउणेहि णायव्वं॥

उत्तमरत्नं खलु यथा उत्तम पुरुषाश्रितं च बहुमूल्यम् ।
तथोत्तमपात्रगतं दानं निपुणैः ज्ञातव्यम् ॥५०४॥

अर्थ–जिस प्रकार कोई उत्तम रत्न किसी उत्तम पुरुष के आश्रय से बहुमूल्य माना जाता है उसी प्रकार किसी उत्तम पात्र को दिया हुआ दान विद्वान लोगों के द्वारा सर्वोत्तम माना जाता है ऐसा समझना चाहिये ।

किंचिवि वेयमयं पत्तं किंचिवि पत्तं तवोमयं परमं ।
तं पत्तं संसारे तारणयं होइ णियमेण ॥
किं किंचिदपि वेदमयं किंचिदपि पात्र तपोमयं परमम् ।
तत्पात्रं ससारे तारकं भवति नियमेन ॥५०५॥

अर्थ--अन्य प्रकार से पात्रों के और भी दो भेद है । एक तो थोड़े वा बहुत वेद को जानने वाले को वेदमय पात्र और दूसरे थोडा बहुत परमोत्कृष्ट तपश्चरण करने वाले को तपोमय पात्र ऐसे पात्र के दो भेद हैं, ये दोनों प्रकार के पात्र नियम पूर्वक संसार से पार कर देने वाले होते हैं ।

आगे वेद क्या है और वेदमय पात्र कैसे होते है सो दिखलाते हैं ।

वेओ किल सिद्धंतो तस्सट्ठा णवपयत्थ छद्दव्वं ।
गुण मग्गणठाणाविय जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥

वेदः किल सिद्धान्तः तस्योर्थानःव पदार्थ षड् द्रव्याणि ।
गुणमार्गणा स्थानान्यपि च जीवस्थानानि सर्वाणि ॥५०६॥

परमप्पयस्स रूवं जीव कम्माण उहय सब्भावं ।
जो जाणइ सविसेसं वेयमयं होइ तं पत्तं ॥
परमात्मनो रूपं जीवकर्मणोरुभयोः स्वभावम् ।
यो जानाति सविशेषः वेदमय भवति तत्पात्रम् ॥५०७॥

अर्थ--वेद शब्द का अर्थ सिद्धांत शास्त्र है, जो पुरुष सिद्धान्त शास्त्रों को तथा उनके अर्थ को जानता है, नौ पदार्थों के स्वरूप को छहों द्रव्यों के स्वरूप को जानता है समस्त गुण-स्थान, मार्गणा स्थान और जीवस्थानों को जानता है, परमात्माके स्वरूपको को जानता है, जीवों का स्वभाव कर्मों का स्वभाव और कर्म विशिष्ट जीवों का स्वभाव जानता है तथा इन सबका स्वरूप विशेष रीति से जानता है उसको वेदमय पात्र कहते हैं।

बहिरब्भतर तवसा कालो परिखवइ जिणोवएसेण ।
दिढ बंभचेर णाणी पत्तं तु तवोमयं भणियं ॥ ५०८ ॥
बाह्याभ्यन्तरतपसा कालं परिक्षिपति जिनोपदेशेन ।
दृढब्रह्मचर्यो ज्ञानी पात्रं तु तपोमयं भणितम् ॥५०८॥

अर्थ--जो पुरुष भगवान जिनेंद्र देव के कहे हुए वाह्य और अभ्यंतर तपश्चरण के द्वारा अपना समय व्यतीत करता है तथा

जो अपने ब्रह्मचर्य व्रत को दृढता के साथ पालन करता है और सम्यग्ज्ञान को धारण करता है उसको तपोमय पात्र कहते हैं। इस प्रकार वेदमय और तपोमय दो प्रकार के पात्र बतलाये। आगे उदाहरण देकर पात्रदान का फल बतलाते हैं।

जह णावा णिच्छिद्दा गुणमइया विविह रयण परिपुण्णा।
तारइ पारावारे बहु जलयर संकडे भीमे। ५०९

यथा नौः निश्छिद्रा गुणमया त्रिविधरत्न परिपूर्णा।
तारयति पारावारे बहुजलचर संकटे भीमे ॥५०९॥

तह संसार समुद्दे जाइ जरामरण जलयरा विण्णे।
दुक्ख सहस्सावत्ते तारइ गुणाहियं पत्तं ॥ ५१०

तथा संसार समुद्रे जातिजरामरणजलचराकीर्णे।
दुःखसहस्रा वर्ते तारयति गुणाधिकं पात्रम् ॥५१०॥

अर्थ--जिस प्रकार अनेक प्रकार के रत्नों से भरी हुई और नाव में होने वाले अनेक गुणों को धारण करने वाली बिना छिद्रवाली नाव अनेक जलचर जीवों से भरे हुए और अत्यन्त भयानक ऐसे समुद्र से पार कर देती है उसी प्रकार अधिक अधिक गुणों से सुशोभित होने वाला पात्र जो जन्म जरा मरण रूपी विकट जलचर जीवों से भरा हुआ है और जिसमें हजारों दुःख-रूपी भवर पड रहे हैं ऐसे इस ससार समुद्र से भव्य जीवों को पार कर देता है। इस प्रकार संक्षेप से पात्रों का स्वरूप

बतलाया ।

आगे दानमें देने योग्य द्रव्य को बतलाते हैं ।

कुच्छिगयं जस्सउण्णं जीरइ तवझाणबंभ चरिएहिं ।
सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥ ५११ ॥
कुक्षिगतं यस्यान्नं जीर्यते तपो ध्यान ब्रह्मचर्यैः ।
तत्पात्रं निस्तारयति आत्मानं चैव दातारम् ॥५११॥

अर्थ--जिसका जो अन्न पेटमें पहुंचने पर तपश्चरण ध्यान और ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा सुखपूर्वक जीर्ण हो जाय पच जाय वही अन्न पात्र को भी संसार से पार कर देता है और दान देने वाले दाता को भी संसार से पार कर देता है ।

एरिस पत्तम्मि वरे दिज्जइ आहारदाणमणवज्जं ।
पासुय सुद्धं अमलं जोग्गं मणदेह सुक्खयरं ॥ ५१२ ॥
एतादृश पात्रे वरे दद्यात् आहारदान मनवद्यम् ।
प्रासुकं शुद्धं अमलं योग्यं मनोदेहसुखकरम् ॥५१२॥

अर्थ—इस प्रकार कहे हुए उत्तम पात्रों को निरन्तर आहार दान देना चाहिये । वह आहार निर्दोष हो प्रासुक हो, शुद्ध हो, निर्मल हो, योग्य हो और मन तथा शरीर को सुख देने वाला हो ।

कालस्स य अणुरूवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं ।
दायव्वं जह जोग्गं आहारं गेहवंतेण ॥ ५ ३ ॥

कालस्य चानुरूपं रोगारोगत्वं च ज्ञात्वा ।
दातव्यं यथायोग्यं आहारं गेहवता ॥५१३॥

अर्थ—गृहस्थों को यथा योग्य ऐसा आहार दान देना चाहिये जो समय वा ऋतुओं के अनुकूल हो, तथा जिसमें रोग वा नीरोगता का भी विचार हो।

पत्तस्सेस सहावो जं दिएणं दायगेण भत्तीए।
तं कर पत्ते सोहिय गहियव्वं विगइरायेण ॥ ५१४ ।
पात्रस्यैष स्वभावो यद्दत्तं दायकेन भक्त्या ।
तत्कर पात्रे शोधयित्वा गृहीतव्यं विगतरागेण ॥५१४॥

अर्थ—पात्रका भी यह स्वभाव होना चाहिए कि दाता ने जो भक्ति पूर्वक दान दिया है उसको कर पात्र में लेना चाहिये और उसको शोध कर बिना किसी राग द्वेष के ग्रहण कर लेना चाहिये।

आगे दाता का भी स्वभाव बतलाते हैं।

दायारेण पुणो विय अप्पाणो सुक्ख मिच्छमाणेण ।
देयं उत्तम दाणं विहिणा वरणीय सत्तीए ॥ ५१५ ॥
दात्रा पुनरपि च आत्मनः सुखमिच्छता ।
देयं उत्तमदानं विधिना वर्णितशक्त्या ॥५१५॥

अर्थ-जो दान देने वाला दाता अपने आत्मा को सुख

पहुँचाना चाहता है उसको विधि पूर्वक ऊपर कही हुई शक्ति के अनुसार उत्तम दान देना चाहिये।

आगे लोभी दाता के लिये कहते हैं।

जो पुण हंतइ धण कणइ मुणिहिं कुभोयणु देइ।
जम्मि जम्मिदालिद्दहण पुट्ठिं ण तहो छंडेइ॥ ५१६

यः पुनः सतिधन कनके मुनिभ्यः कुभोजनं ददाति।
जन्मनि जन्मनि दारिद्र्य दहनंपृष्ठं न तस्य त्यजति॥५१६॥

अर्थ. जो पुरुष अन्न धन आदि के होते हुए भी मुनियों को कुभोजन देता है उसकी पीठ को दरिद्रता अनेक जन्मों तक भी नहीं छोडती अर्थात् वह अनेक जन्म तक दरिद्री बना रहता है।

आगे आहार दान के लाभ बतलाते हैं।

देहो पाणा रूवं विज्जा धम्मं तवो सुहं मोक्खं।
सव्वं दिण्णं णियमा हवेइ आहारदाणेण॥ ५१७

देहः प्राणाः रूपं विद्या धर्मः तपः सुखं मोक्षः।
सर्वं दत्तं नियमात् भवेत् आहारदानेन॥५१७॥

अर्थ—शरीर, प्राण, रूप, विद्या धम, तप, सुख और मोक्ष ये सब आहार के ऊपर निर्भर हैं। इस लिये जो भव्य पुरुष यतियों को आहार दान देता है वह नियम से शरीर, प्राण, रूप विद्या, धर्म, तप, सुख मोक्ष आदि सबका दान देता है ऐसा समझना चाहिये।

भुक्ख समा णहु वाही अण्णसमाणं य ओसहं णत्थि ।
तम्हा अहार दाणे आरोगत्तं हवे दिण्णं ।। ५१८

बुभुक्षासमो नहि व्याधिः अन्नसमानं च औषधं नास्ति ।
तस्मादाहारदानेन आरोग्यत्वं भवेद्दत्तम् ।।५१८।।

अर्थ—इस संसार में भूख के समान अन्य कोई व्याधि नहीं है और अन्न के समान कोई औषधि नहीं है। इस लिये जो भव्य आहार दान देता है वह पुरुष आरोग्य दान भी देता है ऐसा अवश्य समझना चाहिये।

आहार मओ देहो आहारेण विणा पडेइ णियमेण ।
तम्हा जेणाहारो दिण्णो देहो हवे तेण ।। ५१९ ।।

आहार मयो देहः आहारे विना पतति नियमेन ।
तस्मात्येना ऽऽहारो दत्तो देहो भवेत्तेन ।।५१९।।

अर्थ—यह शरीर आहार मय है अन्न का कीड़ा है। यदि इसको आहार न मिले तो नियम से शिथिल होकर गिरपड़ता है। इस लिये जिसने ऐसे शरीर के लिये आहार दिया उसने उस शरीर को ही दिया ऐसा समझना चाहिये।

ता देहो ता पाणा ता रूवं ताम णाण विण्णाणं ।
जामा हारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो ।।५२०।।

तावद्देहस्तावत्प्राणा स्तावद्रूपं तावद्ज्ञान विज्ञानम् ।
यावदाहारो प्रविशति देहे जीवानां सुखकरः ।।५२०।।

अर्थ—इस संसार मे जब तक जीवों को सुख देने वाला आहार इस शरीर में रहता है तब तक ही यह शरीर है तब तक ही प्राण रहते हैं तबतक ही रूप रहता है, तबतक ही ज्ञान रहता है और तब तक ही विज्ञान रहता है। बिना आहार के ये सब नष्ट हो जाते हैं।

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रय सडणं।
रय णासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणोभणई ॥ ५२१
आहाराशने देहो देहन तपस्तपसा रजः सटनम्।
रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणाति ॥५२१॥

अर्थ—आहार ग्रहण करने से शरीर की स्थिति रहती है, शरीर की स्थिति रहने से तपश्चरण होता है, तपश्चरण से ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मों का नाश होता है, ज्ञानवरण दर्शनावरण कर्मो के नाश होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है ऐसा भगवान जिनेन्द्र देव ने कहा है।

आगे आहारदान से चारों दानों का फल मिलता है ऐसा कहते हैं।

चउविहदाणं उत्तं जे तं सयलमवि होइ इह दिण्णं।
सविसेसं दिण्णेणाय इक्केणाहारदाणेण ॥ ५२२ ॥

चतुर्विधदानं उक्तं यत् तत् सकलमपि भवति इह दत्तम् ।
सविशेषं दत्तेन च एकेनाहार दानेन ॥५२२॥

अर्थ—जो पुरुष विशेष रीति से एक आहार दान को ही देता है वह उस एक आहार दान से ही समस्त चारों दान दिये, ऐसा समझा जाता है ।

आगे यही बात दिखलाते हैं ।

भुक्खा कय मरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं ।
सो एव हणइ वाही उसहं फुडअत्थितेण आहारो ॥ ५२३ ॥
बुभुक्षाकृत मरण भयं नाशयति जीवानां तेन तदभयम् ।
स एव हन्ति व्याधिं औषधं स्फुटमस्ति तेनाहारः ॥५२४॥

अर्थ—देखो-भूख की पीडा अधिक होने से मरने का भय होता है इसलिये आहार दान देने से अभयदान की भी प्राप्ति होती है । तथा भूख ही सबसे प्रबल व्याधि है । और वह आहार दान से नष्ट होती है । इसलिए आहार दान देने से ही औषध दान समझना चाहिये ।

आयाराई सत्थं आहारबलेण पढइ णिस्सेसं ।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥ ५२४ ॥
आचारादि शास्त्रं आहारबलेन पठति निःशेषम् ।
तस्मात् तच्छ्रुतदानं दत्तं आहार दानेन ॥५२५॥

अर्थ—इस आहार के ही बलसे आचार आदि समस्त शास्त्रों का पठन पाठन होता है इसलिये एक आहार दान देने से ही शास्त्र दान का भी फल मिल जाता है। इस प्रकार एक आहार दान से ही चारों दानों के फल मिल जाते हैं।

आगे आहार दान का और भी महत्व बतलाते हैं।

हय गयगो दाणाइं धरणीरय कणय जाण दाणाइं
तित्तिं ण कुणंति सया जह तित्तिं कुणइ आहारो ॥ ५२५ ॥
हयगज गोदानानि धरणी रत्नकनक यानदानानि ।
तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥५२५॥

अर्थ—घोड़ा हाथी और गायों का दान, पृथ्वी, रत्न, अन्न वाहन आदि का दान देने से दान लेने वालों को उतनी तृप्ति नहीं होती जितनी तृप्ति सदाकाल आहार दान देने से होती है।

आगे और भी कहते हैं।

जह रयणाण वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू ।
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥ ५२६ ॥
यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः ।
तथा दानानां प्रवरः आहारो भवति ज्ञातव्यः ॥५२६॥

अर्थ—जिस प्रकार समस्त रत्नों में वज्र रत्न उत्तम है, और समस्त पर्वतों में मेरु पर्वत उत्तम है उसी प्रकार समस्त दानों में

आहारदान सबसे उत्तम है ऐसा समझना चाहिये।

आगे आहार दान देने की विधि बतलाते हैं।

सो दायव्वो पत्ते विहाण जुत्तेण सा विही एसा।
पडिगह मुच्चट्ठाणं पादोदय अच्चणं पणामं च ॥५२७॥
तत् दातव्य पात्रे विधान युक्तेन स विधिरेषः।
प्रतिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमचनं प्रणामं च ॥५२७॥

मणवयण कायसुद्धो एसणसुद्धी य परम कायव्वा।
होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुव्व कम्मेण ॥ ५२८ ॥
मनो वचन काय शुद्धि रेषण शुद्धिश्च परमा कर्तव्या।
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्म णा ॥५२८॥

अर्थ – वह आहार दान पात्र को ही देना चाहिये और विधि पूर्वक ही देना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है प्रतिग्रह उच्चस्थान, पादोदक, अर्चन, प्रणाम, मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय और आहार शुद्धि इस प्रकार नवधा (नौ प्रकार) भक्ति पूर्वक आहार देना चाहिये।

जब मुनि अपने समय पर वा श्रावकों के घर भोजन बन जाने के समय पर चर्या के लिये निकलते हैं तब वे प्रायः श्रावकों के घर के सामने होकर निकलते हैं। जिससमय मुनि अपने घर के सामने आवें उस समय श्रावक को कहना चाहिये कि हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु तिष्ठ तिष्ठ

'आहार जलं शुद्धं वर्तते' अर्थात् हे स्वामिन् नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु इस प्रकार तीनबार हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर नमस्कार करना चाहिये और फिर कहना चाहिये कि महाराज यहां ठहरिये ठहरिये आहार जल शुद्ध है। इतना कहने पर जब वे खडे होजांय तो तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये और फिर कहना चाहिये कि महाराज घर पधारिये। इतना कहकर उस श्रावक को आगे चलना चाहिये। इसको प्रतिग्रह कहते हैं। घर जाकर उनको किसी ऊंचे स्थान पर पाटा या कुरसी पर बिठाना चाहिये। महाराज इस पर विराजो ऐसा कहकर बिठाना चाहिये। इसको उच्चस्थान कहते हैं। तदनंतर प्रासुक गर्म जलसे किसी थाली में उनके पैर धोने चाहिये और चरणोदक को मस्तक पर एक अर्घ्य देकर उन मुनि की पूजा करनी चाहिये इसको अर्चन कहते हैं। इसके अनन्तर कहना चाहिये कि महाराज मेरा मन शुद्ध है वचन शुद्ध है शरीर शुद्ध है और आहार शुद्ध है। आप चौका में पधारिये। इतने कहने पर वे चौका में चले जाते हैं। मुनि खड़े होकर आहार लेते हैं इसलिये उनको खडे होने के लिए एक पाटा बिछा रखना चाहिये जो हिले नहीं तथा उसके सामने किसी छोटी सी ऊंची चौकी पर

या छोटी मेजपर एक बड़ा भगोना या तसला रखना चाहिये जिसमें थोड़ी सूखी घास रक्खी हो यदि आहार लेते समय हाथ से पानी गिरे तो उसी में गिरे और घास रखने से इधर उधर छींटे नहीं जाते यह नवधा भक्ति है और यथा योग्य सब ही पात्रों के लिये होती है।

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्ध भत्तीए।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं ॥ ५२९ ॥
एवं विधिना युक्तं देयं दानं त्रिशुद्धि भक्त्या।
वर्जयित्वा कुत्सितपात्र तथा चापात्रं च निसारम् ॥५२९॥

अर्थ-इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक तथा मन वचन काय की शुद्धतापूर्वक पात्रों को दान देना चाहिये, तथा कुत्सित पात्र वा कुपात्र और अपात्र इन दोनों को कभी दान नहीं देना चाहिये। क्योंकि इन दोनों को दान देना निःसार है।

आगे कुत्सित पात्रों को कहते हैं।

जं रयणत्तय रहियं मिच्छमय कहियधम्म अणुलग्गं।
जइ विहु तवइ सुघोरं तहाविं कुच्छियं पत्तं ॥ ५३० ॥
तद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामत कथित धर्मानुलग्नम्।
यद्यपि हि तप्यते सुघोरं तथापि तत् कुत्सितं पात्रम् ॥५३०॥

अर्थ--जो पुरुप रत्नत्रय से रहित है और मिथ्या मत में कहे हुए धर्म में लीन रहता है ऐसा पुरुष चाहे जितना घोर

तपश्चरण करे तथापि वह कुत्सित पात्र वा कुपात्र ही कहलाता है।

आगे अपात्र को कहते हैं

जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वर गुणो कोई।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥ ५३१ ॥
यस्य न तपो न चरणं न चापि यस्यास्ति वरगुणः कोऽपि।
तज्जानीयादपात्रमफलं दानं कृतं तस्य ॥५३१॥

अर्थ--जो न तो तपश्चरण करता है, न किसी प्रकार का चारित्र पालन करता है और न उसमें कोई अन्य श्रेष्ठ गुण है ऐसा पुरुष अपात्र कहलाता है ऐसे अपात्र को दान देना सर्वथा व्यर्थ है। उसका कोई फल नहीं होता है।

ऊसर खित्ते बीयं सुक्खे रुक्खे य णीर अहिसेओ।
जह तह दाणमपत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई ॥५३२॥
ऊषर क्षेत्रे बीजं शुष्के वृक्षे च नीराभिषेकः।
यथा तथा दानमपात्रे दत्तं खलु निरर्थकं भवति ॥५३२॥

अर्थ--जिस प्रकार ऊसर पृथ्वीपर बोया हुआ बीज व्यर्थ-जाता है और सूके हुए वृक्ष में पानी देना व्यर्थ जाता है उसी प्रकार अपात्र को दिया हुआ दान सर्वथा व्यर्थ जाता है।

आगे कुपात्रों को दिये हुए दान का फल बतलाते हैं

कुच्छिय पत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु ।
कुच्छिय भोयधरासु य लवणंबुहि कालउवहीसु ॥५३३॥
कुत्सितपात्रे किंचिदपि फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सित भोग धरासु च लव णाम्बुधि कालोदधिषु ॥५३३॥

अर्थ–कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का कुत्सित ही फल मिलता है और वह उस कुपात्र दान के फलसे कुदेवों में उत्पन्न होता है, कुमनुष्यों में उत्पन्न होता है खोटे तिर्यंचों में उत्पन्न होता है और लवणोदधि तथा कालोदधि समुद्र में होने वाली कुभोग भूमियों में उत्पन्न होता है ।

आगे उन कुभोगभूमियों को और उनमें उत्पन्न होने वाले मनुष्यों को कहते हैं ।

लवणे अडयालीसा काल समुद्दे य तित्तियाचेव ।
अंतरदीवा भणिया कुभोय भूमीय विक्खाया ॥ ५३४ ॥
लवणे अष्ट चत्वारिंशत् कालसमुद्रे च तावन्त एव ।
अन्तर्द्वीपा भणिताः कुभोग भूम्यः विख्याताः ॥५३४॥

अर्थ—लवणोदधि समुद्र में अडतालीस अंतर्द्वीप है और कालोदधि समुद्र में भी अडतालीस अंतर्द्वीप हैं । इस प्रकार इन छियानवें अंतर्द्वीपों में कुभोग भूमियां हैं ।

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थभूमीसु ।
जुवलेण गेहरहिया णग्गा तरुमूलिणिवसंति ॥ ५३५ ॥

उत्पद्यन्ते मनुष्याः कुपात्रदानेन तत्र भूमिषु ।
युगलेन गृहरहिता नग्नाः तरुमूले निवसन्ति ॥५३५॥

अर्थ--जो मनुष्य कुपात्रों को दान देता है वह मनुष्य इन कुभोग भूमियों में मनुष्य होकर उत्पन्न होता है। वहां पर सब मनुष्य युगलिया (स्त्री पुरुष दोनों साथ साथ) उत्पन्न होते हैं, उनके रहने के लिये घर नहीं होते वृक्षों के नीचे रहा करते हैं और नग्न रहते हैं ।

पल्लोवम आउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं ।
तरुपल्लव पुप्फरसं फलाण रसं चेव भक्खति ॥ ५३६ ॥
पल्योपमायुषः वस्त्राभरणेन वर्जिता नित्यम् ।
तरुपल्लव पुष्परसं फलानां रसं चैव भक्षयन्ति ॥५३६॥

अर्थ—इन मनुष्यों की आयु एक पल्य की होती है तथा ये लोग सदा काल वस्त्राभरण से रहित होते हैं और वृक्षों के पत्ते, फूलों का रस और फलों का रस भक्षण करते रहते हैं ।

दीवे कहिं पि मणु या सक्कर गुड खंड सण्णिहा भूमी ।
भक्खंति पुट्ठि जणया अइसरसा पुव्व कम्मेण ॥ ५३७ ॥
द्वीपे कुत्रापि मनुजाः शर्करा गुडखण्डसन्निभां भूमिम् ।
भक्षयन्ति पुष्टिजनकां अतिसरसां पूर्वकर्मणा ॥५३७॥

किसी किसी द्वीप की भूमि गुड शक्कर और खांड के समान मीठी होती है, पौष्टिक होती है और अत्यन्त सरस होती

है। इसलिये उन द्वीपों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य अपने पूर्व कर्म के उदय से उसी भूमि की मिट्टी को खाकर रहते हैं।

केई गय सीह मुहा केई हरि महिस कवि कोल मुहा।
केई आदरिस मुहा केई पुण एय पाया य ॥ ५३८ ॥
केचित् गजसिंह मुखाः केचिद्धरिमहिष केपि कोलूकमुखा।
केचिदादर्शमुखाः केचित्पुनः एकपादाश्च ॥५३८॥

अर्थ--उन द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों में कितने ही मनुष्यों के मुख हाथी के मुख के समान होते हैं कितने मनुष्यों के मुख सिंह के मुख के समान होते हैं, कितने ही भैसा के से मुखवाले होते हैं कितने ही सूअर के से मुखवाले होते हैं कितने ही मनुष्य वंदर के से मुख वाले होते हैं और कितने ही मनुष्य दर्पण के समान मुखवाले होते है। इसके सिवाय कितने ही मनुष्य एक पैर वाले होते हैं। तथा-

ससंसुक्कलि कण्णाविय कण्णपावरण दीह कण्णा य ॥
लांगूलधरा अपरे अपरे मणुया अभासा य ॥ ५३६ ॥
शश शष्कुलिकर्णा अपिच कर्णप्रवरणा दीर्घ कर्णाश्च।
लांगूलधरा अपरे अपरे मनुष्या अभाषकाश्च ॥५३६॥

अर्थ--उन मनुष्यों में से कितने ही मनुष्य खरगोश केसे कान वाले होते हैं, कितने ही पूरी के से कान वाले होते हैं कितने ही मनुष्यों के चौडे कान होते हैं और कितने ही मनुष्यों

के लम्बे कान होते हैं। इनके सिवाय कितने ही मनुष्यों के पूंछ होती है और कितने मनुष्य किसी भी प्रकार की भाषा नहीं बोलते।

ए ए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोय भूमीसु।
मणुसुतर वाहिरेसु अ असंख दीवेसु ते होंति ॥ ५४० ॥
एते नराः प्रसिद्धाः तिर्यंचोपि भवन्ति कुभोग भूमिषु।
मानुषोन्तर बाह्येषु च असंख्य द्वीपेषु ते भवन्ति ॥५४०॥

अर्थ--इन सब कुभोग भूमियों में मनुष्य ही होते हैं, तथा इनके सिवाय मानुषोत्तर पर्वत के बाहर असंख्यात द्वीपों में होने वाली कुभोग भूमियों मे तिर्यंच भी होते हैं।

सव्वे मंद कसाया सव्वे णिस्सेस बाहि परिहीणा।
मरिऊण विंतरा विहु जोइसु भवणेसु जायंति ॥ ५४१ ॥
सर्वे मन्दकषायाः सर्वे निःशेषव्याधिपरिहीनाः।
मृत्वा व्यन्तरेष्वपि हि ज्योतिर्भवनेषु जायन्ते ॥५४०॥

अर्थ—ये सब मनुष्य और तिर्यन्च मंद कषायी होते हैं और सब के सब संपूर्ण व्याधियों से रहित होते हैं। वे सब मरकर कितने व्यंतर देवों में उत्पन्न होते हैं, और कितने ही ज्योतिषी और भवन वासी देवों में उत्पन्न होते हैं।

तत्थ चुया पुण संता तिरियणरा पुण हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पावं पुणोवि णिरयापहा होंति ॥ ५४२ ॥
ततश्च्युताः पुनःसन्तः तिर्यग्नराः पुनः भवंति ते सर्वे ।
कृत्वा तत्र पापं पुनरपि नरकपथा भवन्ति ॥५४२॥

अर्थ—कुपात्र दान देने वाले मनुष्य जो मरकर कुभोग भूमि में उत्पन्न होते हैं और वहां से आकर भवन वासी व्यंतर ज्योतिषियों में उत्पन्न होते हैं वहां की भी आयु पूर्णकर वे फिर मनुष्य वा तिर्यंच होते हैं और वहां भी अनेक प्रकार के पापकर नरकमें जाकर पडते हैं ।

चंडालभिल्ल छिंपिय डोंव य कल्लाल एव माईणि ।
दीसंति रिध्दि पत्ता कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥ ५४३ ॥
चांडालभिल्लछिंपक डोम्ब कलवारा एवमादिकाः ।
दृश्यन्ते ऋद्धिप्राप्ताः कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥ ५४३॥

अर्थ—वर्तमान में जो चांडाल भील छीपी डोम कलाल आदि निम्न श्रेणी के लोग धन और विभूति आदि से परिपूर्ण दिखाई देते हैं वे सब कुत्सित पात्रों को दान देने से ही धनी होते हैं । भावार्थ—निम्न श्रेणी के लोगों में धन विभूति का होना कुपात्र दान का ही फल है ।

केई पुण गय तुरया गेहेरायाण उवणई पत्ता ।
दिस्सति मच्च लोए कुच्छिय पत्तस्स दाणेण ॥ ५४४ ॥

केचित्पुनः गजतुरगा गृहे राज्ञां उन्नतिं प्राप्ताः ।
दृश्यन्ते मर्त्यलोके कुत्सित पात्रस्य दानेन ॥५४४॥

अर्थ—इस मनुष्य लोक में राजाओं के घर जो कितने ही हाथी घोडे आदि उन्नति को प्राप्त हुए दिखाई देते हैं वहुत सुखी दिखाई देते हैं वह सब कुपात्र दान देने का फल समझना चाहिये ।

केई पुण दिव लोए उववण्णा वाहणत्तणेण ते मणुया ।
सोसंति जाइ दुक्खं पिच्छिय रिध्दी सुदेवाणं ॥ ५४५ ॥
केचित्पुनः स्वर्गलोके उत्पन्ना वाहनत्वेन ते मनुजाः ।
शोचन्ति जाति दुःखं प्रेक्ष्य ऋद्धिं सुदेवानाम् ॥५४५॥

अर्थ—कुपात्रों को दान देने वालों में से कितने ही मनुष्य स्वर्गलोक में भी उत्पन्न होते हैं परन्तु वहां पर वे वाहन रूपसे उत्पन्न होते हैं अन्य बडे देवों के वाहन बनकर रहते हैं । इस लिये वे बडे देवों की ऋद्धियों को देखकर अपनी वाहन रूप जाति के दुःख का शोक करते रहते हैं ।

णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा कया विसविणम्मि ।
परिहरह सया दूरं वुहियाण वि सविस सप्पं व ॥ ५४६ ॥
ज्ञात्वा तस्य दोषं सम्मानयेन्मा कदापि स्वप्ने ।
परिहरेत्सदा दूरं ज्ञात्वा सविषसर्पवत् ॥५४६॥

अर्थ—कुपात्रों को दान देने में अनेक प्रकार के दोष होते हैं उन सबको समझकर स्वप्न में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिये, तथा कभी किसी अवस्था में भी उनका सन्मान नहीं करना चाहिये। विषधर सर्प के समान कुपात्रों का त्याग तो दूर से ही कर देना चाहिये।

पत्थर मया वि दोणी पत्थर मप्पाणयं च बोलेई ।
जह तह कुच्छिय पत्तं संसारे चेव बोलेई ॥ ५४७ ॥
प्रस्तर मय्यपि द्रोणी प्रस्तरमात्मानं च निमज्जयति ।
यथा तथा कुत्सितपात्रं संसारे एव निमज्जयति ॥५४७॥

अर्थ—जिस प्रकार पत्थर की बनी हुई और पत्थरों से भरी हुई नाव उन पत्थरों को भी डुबो देती है और स्वयं भी डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी संसार समुद्र मे डूब जाता है और दूसरों को भी डुबा देता है।

णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहि सलिलम्मि ।
बो लेइ तह कुपत्तं संसार महोवही भीमे ॥ ५४८ ॥
नौर्यथा सछिद्रा परमात्मानं चोदधिसलिले ।
निमज्जयति तथा कुपात्रं संसारमहोदधौ भीमे ॥५४८॥

अर्थ—जिस प्रकार छिद्र सहित नाव समुद्र के जल मे अपने आप डूब जाती है उसी प्रकार कुपात्र भी इस संसार रूपी भयानक महा समुद्र मे अपने आप डूब जाता है।

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तारिणी वाहे ।
वुड्ढइ जह तह वुड्ढइ कुपत्त सम्माणओ पुरिसो ॥५४९॥
लोहमये कुतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तारिणीवाहे ।
मज्जति यथा तथा मज्जति कुपात्रसम्मानकः पुरुषः ॥५४९॥

अर्थ-जिस प्रकार लोहे की बनी नाव में बैठा हुआ पुरुष भी नदी में अवश्य डूब जाता है उसी प्रकार कुपात्रों का सन्मान करने वाला पुरुष भी इस संसार रूपी समुद्र में अवश्य डूबता है ।

ण लहंति फलं गरुयं कुच्छिय पहु वित्त सेविया पुरिसा ।
जह तह कुच्छिय पत्ते दिण्णा दाणा मुणेयव्वा ॥ ५५० ॥
न लभन्ते फलं गुरुकं कुत्सितप्रभुत्व सेवकाः पुरुषाः ।
यथा तथा कुत्सितपात्रे दत्तानि दानानि मन्तव्यानि ॥५५०॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी कुत्सित स्वामी के आश्रित रहने वाले सेवक पुरुष को उसकी सेवा का अच्छा श्रेष्ठ फल नहीं मिलता उसी प्रकार कुत्सित पात्रों को दिया हुआ दान समझना चाहिये । भावार्थ—कुत्सित पात्रों को दिये हुए दान का फल भी श्रेष्ठ फल कभी नहीं मिल सकता ।

णत्थि वय सील संजम झाणं तव णियम बंभचेरंच ।
एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोय मज्झम्मि ॥५५१॥

नास्ति व्रतशीलसंयम ध्यानं तपोनियमब्रह्मचर्यं च ।
एवमेव भणंति पात्रं आत्मानं लोकमध्ये ॥५५१॥

अर्थ—जो न तो व्रतों को पालन करते हैं न शीलों को पालन करते हैं, जिनके न सयम है न ध्यान है जो न किसी प्रकार का तपश्चरण करते हैं न किसी नियम का पालन करते हैं और न ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं ऐसे लोग भी इस लोक में अपने को पात्र कहते हैं ।

आगे और भी कहते हैं ।

मय कोह लोह गहिओ उड्डिय हत्थोय जायणा सीलो ।
गिह वावारासत्तो जो सो पत्तो कह हवइ ॥५५२॥
मदक्रोध लोभगर्भित उत्थितहस्तश्च याचनाशीलः ।
गृहव्यापारासक्तः यः स पात्रं कथं भवति ॥५५२॥

अर्थ—भला विचार करने की बात है कि जो झूठमूठ ही अपने बड़प्पन का अभिमान करते हैं जो क्रोधी हैं लोभी हैं हाथ उठाकर सर्वत्र मांगते फिरते हैं और जो गृहस्थी के व्यापार में सदा लगे रहते हैं ऐसे लोग पात्र कैसे हो सकते हैं अर्थात् कभी नहीं हो सकते ।

हिंसाइदोसजुत्तो अत्तरउद्दहिं गमिय अहरत्तो ।
क्रय विक्किय वट्टंतो इंदिय विसएसु लोहिल्लो ॥ ५५३ ॥

हिंसादिदोषयुक्त आर्तरौद्रैः गमिताहोरात्रः ।
क्रयविक्रयवर्तमानः इन्द्रिय विषयेषु लुब्धः ॥५५३॥

उत्तम पत्तं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो ।
होउं पावेण गुरू वुड्डइ पुण कुगइ उवहिम्मि ॥ ५५४ ॥
उत्तमपात्रं निन्दित्वा गुरुस्थाने आत्मानंप्रकुर्वन् ।
भूत्वा पापेन गुरुः ब्रुडति पुनः कुगत्युदधौ ॥५५४॥

अर्थ--जो पुरुष हिंसा झूठ चोरी आदि पापों में लगा रहता है, रातदिन आर्तध्यान अथवा रौद्र ध्यान में लगा रहता है, संसार भर के सामानों को खरीदने और बेचने में लगा रहता है, और इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त लोलुपता धारण करता है, इसके सिवाय जो उत्तम पात्रों की सदा निन्दा करता रहता है और गुरुओं के स्थान में अपने आत्मा को नियुक्त करता है अर्थात् अपने आप स्वयं गुरु बन बैठता है। इस प्रकार जो अपने ही पापों से अपने को स्वयं गुरु मानता है वह मनुष्य नरक निगोद रूपी कुगतियों के समुद्र में अवश्य डूब जाता है।

जो बोलइ अप्पाणं संसार महण्णवम्मि गरुयम्मि ।
सो अण्णं कह तारइ तस्सणुमग्गे जणे लग्गं ॥ ५५५ ॥
यः निमज्जयति आत्मानं संसारमहार्णवे गुरुके ।
स अन्यं कथ तारयति तस्यानुमार्गे जनलग्नम् ॥५५५॥

अर्थ—इस प्रकार अपने को गुरु मानने वाला पुरुष इस संसार रूपी महा भयानक समुद्र में अपने आत्मा को डुबा देता है। वह मिथ्या गुरु उस मिथ्या गुरु के पीछे पीछे लगे हुए मनुष्य को भला पार कैसे कर सकता है अर्थात् ऐसे गुरु के पीछे जो मनुष्य लगता है वह भी उसके साथ साथ अवश्य डूबता है।

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं।
णिय जीव सग्गमोक्खं इच्छयमो पयत्तेण ॥ ५५६ ॥
एवं पात्र विशेषं ज्ञात्वा देहि दानमनवरतम्।
निज जीव स्वर्गमोक्षाविच्छन् प्रयत्नेन ॥५५६॥

अर्थ—जो पुरुष अपने आत्मा को स्वर्ग मोक्ष में पहुँचाना चाहते हैं उनको चाहिये कि वे ऊपर लिखे अनुसार पात्र अपात्रों के भेदों को अच्छी तरह समझ कर प्रयत्न पूर्वक सदा काल उत्तम पात्रों को दान देते रहें।

आगे समर्थ होकर भी जो दान नहीं देता उसके लिये कहते हैं।

लहिऊण संपया जो देइणदाणाइं मोह संछण्णो।
सो अप्पाणं अप्पे वंचेइ य णत्थि संदेहो ॥ ५५७ ॥
लब्ध्वा सम्पत् यो ददाति न दानादि मोहसंच्छन्नः।
स आत्मानं आत्मना वंचयति च नास्ति सन्देहः ॥५५७॥

अर्थ--जो पुरुष धन संपदा पाकर भी इसमें अत्यन्त मोह करता है और पात्रों को भी दान नहीं देता वह अपने ही आत्मा के द्वारा अपने ही आत्मा को ठगता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

णय देइ णेय भुंजइ अत्थं णिखणेइ लोहसंछण्णो ।
सो तणकय पुरिसो इव रक्खइ सस्सं परस्सत्थे ॥ ५५८ ॥
न च ददाति नैव भुंक्तेऽर्थं निक्षिपति लोभसंच्छन्नः ।
स तृणकृत पुरुषः इव रक्षति सस्यं परस्यार्थे ॥५५८॥

अर्थ—जो धनी पुरुष न तो किसी को दान देता है न अपने भोगोपभोगों में धन को लगाता है केवल तीव्र लोभ में पडकर उसकी रक्षा करता रहता है वह पुरुष घास फूंस के बने हुए पुरुषाकार पुतले के समान केवल दूसरों के लिये खेतों की रक्षा करता है। भावार्थ-बहुत से लोग घासफूंस का पुतला बनाकर खेतों में गाड देते हैं उसको देखकर तथा उसको मनुष्य समझ कर उस खेत में जानवर आकर नहीं खाते। इस प्रकार वह पुतला न तो दूसरों को खाने देता है और न स्वयं कुछ खाता है। उसी प्रकार जो न तो दान देता है और न स्वयं खाता पीता है वह पुरुष फूंस के पुतले के समान दूसरों के लिए धनकी रक्षा करता रहता है।

किविणेण संचियधणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥ ५५६ ॥

कृपणेन संचित धनं न भवति उपकारकं यथा तस्य।
मधुकरेण इव संचितमधु हरन्ति अन्ये सपाणयः ॥५५६॥

अर्थ—जिस प्रकार मधुमक्खी अपने छत्ते में मधु वा शहत को इकट्ठा करती है परन्तु वह स्वयं उसका उपभोग नहीं करती। इसीलिये दूसरे मनुष्य आकर उस छत्ते को तोड़कर उसका इकट्ठा किया हुआ शहत भी ले जाते हैं और सैकड़ों हजारों मक्खियों को मार भी जाते हैं। इसी प्रकार जो कृपण मनुष्य केवल धन को इकट्ठा करता रहता है उसका धन उसके काम में कभी नहीं आता। वह दूसरे के ही काम आता है।

आगे कृपण के लिये और भी कहते हैं।

कस्स थिरा इह लच्छी कस्स थिरं जुव्वणं धणं जीवं।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥ ५६०॥
कस्य स्थिरेह लक्ष्मीः कस्य स्थिरं यौवनं धनं जीवितम्।
इति ज्ञात्वा सुपुरुषा ददति सुपात्रेषु दानानि ॥५६०॥

अर्थ—इस संसार में लक्ष्मी किसके यहां स्थिर रही है, यौवन किसका स्थिर रहा है, धन किसका स्थिर रहा है और अर्थात् लक्ष्मी यौवन धन जीवन कभी किसी का स्थिर नहीं रहता। यही समझकर श्रेष्ठ पुरुषों को श्रेष्ठ पात्रों को सदा काल

दान देते रहना चाहिये।

आगे इसका कारण बतलाते हैं

दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।
लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभो व ॥ ५६१ ॥
दुःखेन लभते वित्तं वित्ते लब्धेऽपि दुर्लभं चित्तम् ।
लब्धे चित्ते वित्ते सुदुर्लभः पात्रलाभश्च ॥५६१॥

अर्थ—इस संसार में धन की प्राप्ति बडे दुःख से होती है है यदि कदाचित् किसी भाग्य विशेष से धन की प्राप्ति हो भी जाय तो चित्त में दान देने की उत्सुकता होना अत्यन्त कठिन है। कदाचित् चित्त में दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और धन भी प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये किसी पात्रका लाभ होना अत्यन्त कठिन है।

चित्तं वित्तं पत्तं तिडिअ वि पावेइ कहवि जइ पुरिसो ।
तोअ लहइ अनुकूलं सयनं पुत्तं कलतं च ॥ ५६२ ॥
चित्तं वित्तं पात्रं त्रीण्यपि प्राप्नोति कथमपि यदि पुरुषः ।
तर्हि न लभतेऽनुकूलं स्वजनं पुत्रं कलत्रं च ॥५६२॥

अर्थ—यदि किसी शुभ कर्म के उदय से धन भी मिल जाय, चित्तमें दान देने की उत्सुकता भी प्राप्त हो जाय और पात्र

मिलने का भी संयोग प्राप्त हो जाय तो दान देने के लिये अपने स्वजन परिजन पुत्र स्त्री आदि अपने अनुकूल नहीं होते हैं।

पडिकूल माइ काऊं विग्धं कुव्वंति धम्म दाणस्स ।
उवएसं त दुबुद्धि दुग्गइगम कारया असुहा ॥ ५१३ ॥
प्रतिकूलमादि कृत्वा विघ्नं कुर्वन्ति धर्मदानस्य ।
उपदिशन्ति दुर्बुद्धिं दुर्गतिगमनकारकामशुभाम् ॥५६३॥

अर्थ—यदि स्त्री पुत्र स्वजन आदि अपने प्रतिकूल हो जाते हैं तो फिर वे लोग धर्मस्थानों मे दान देने में विघ्न करते हैं। तथा नरकादिक दुर्गतियों के कारण भूत और अत्यन्त अशुभ दुर्बुद्धिका उपदेश देते हैं। भावार्थ—प्रतिकूल होने से पुत्रादिक धर्मस्थानों में तो दान का निषेध कर देते हैं और नरकादिक, दुर्गतियों में लेजाने वाले दान का वा ऐसे कार्यों का उपदेश देते हैं।

आगे और भी कहते है।

सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पाव वुद्धी हाडइ दुक्खायरे णरए ॥ ५६४ ॥
स कथं स्वजनो भण्यते विघ्नं यः करोति धर्मदाननाय ।
दत्वा पापवुद्धिं पातयति दुःखाकरे नरके ॥५६४॥

अर्थ—विचार करने की बात है कि स्वजन होकर भी जो धर्म कार्यों में दिये हुए दान का निषेध करता है और पाप रूप

बुद्धि का उपदेश देकर अनेक दुःखों से भरे हुए नरक में डालना चाहता है वह अपना स्वजन कैसे हो सकता है। भावार्थ उसे तो पूर्ण शत्रु समझना चाहिए !

सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मे ।
जो धम्म विग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥५६५॥

स स्वजनः स बंधुः स मित्रं यः सहायकः धर्मे ।
यो धर्म विघ्नकारी स शत्रुः नास्ति सन्देहः ॥५६५

अर्थ—इस संसार में जो पुरुष अपने धर्म के पालन करने में सहायक होता है उसी को स्वजन समझना चाहिये उसीको बन्धु समझना चाहिये और उसीको मित्र समझना चाहिये। जो पुरुष धर्मकार्यों में विघ्न करता है धर्म पालन करने में विघ्न करता है वह पुरुष शत्रु ही है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

ते धण्णा लोयत तेहिं णिरुद्धाइं कुगई गमणाणि ।
वित्तं पत्तं चित्तं पाविवि जहिं दिण्ण दाणाइं ॥५६६॥

ते धन्या लोक त्रये तैः निरुद्धानि कुगति गमनानि ।
वित्तं पात्रं चित्तं प्राप्यापिः दत्तदानानि ॥५६६॥

अर्थ—जिन पुरुषों को यथेष्ट धनका प्राप्ति हुई है चित्तमें दान देने की बुद्धि प्राप्त हुई है और सुपात्रों का लाभ भी प्राप्त

हुआ है। इन तीनों संयोगों को पाकर जो सुपात्रों को दान देते रहते हैं वे पुरुष तीनों लोकों में धन्य समझे जाते हैं और ऐसे ही नरकादिक दुर्गतियों को सदा के लिये रोक देते हैं।

मुणिभोयणेण दव्वं जस्स गयं जुव्वणं च तवयरणे।
सण्णासेण य जीवं जस्स गयं किं गयं तस्स ॥५६७॥

मुनि भोजनेन द्रव्यं यस्य गतं यौवनं च तपश्चरणे।
सन्यासेन तु जीवितं यस्य गतं किं गतं तस्य ॥५६७॥

अर्थ—जिस महापुरुष का धन मुनियों के भोजन कराने में चला गया जिसकी युवावस्था तपश्चरण करने मे चली गई और जिसका जीव सन्यास (समाधिमरण) धारण कर चला गया उसका क्या गया ? अर्थात् उसका तो कुछ भी नहीं गया। भावार्थ—जिसने अपना धन पात्र दान में लगा दिया उसने आगे के जन्म के लिये अनन्त गुनी सम्पत्ति वा स्वर्ग सम्पदा प्राप्त करने का साधन बना लिया। तपश्चरण करते हुए जिसकी युवावस्था चली गई उसने उत्तम सुगन्धित देवों के शरीर को प्राप्त करने का या मोक्ष प्राप्त करने का साधन बना लिया तथा जिसने समाधि मरण पूर्वक मरण किया उसने अजर अमर पद प्राप्त करने का साधन बनालिया। इस प्रकार ऐसे जीवों को थोडी सी विभूति के बदले अतुल विभूति प्राप्त होती है।

आगे और भी दान देने की प्रेरणा करते हैं।

जह जह वड्ढइ लच्छी तह तह दाणाइं देह पत्तेसु ।
अहवा हीयइ जह जह देः विसेसेण तह तह यं ॥५६८॥
यथा यथा वर्द्धते लक्ष्मीः तथा तथा दानानि देहि पात्रेषु ।
अथवा हीयते यथा यथा देहि विशेषेण तथा तथाएव ॥५६८॥

अर्थ—इस लिये श्रावकों को उचित है कि यह धन जितना जितना बढता जाय उतना उतना ही सुपात्रों को अधिक दान देता जाय। यदि कदाचित् धन घटता जाय तो जितना जितना घटता जाय उतना उतना ही विशेष रूपसे अधिक दान देता जाय। भावार्थ—लक्ष्मी के बढने पर तो अधिक दान देना स्वाभाविक ही है। परन्तु जब लक्ष्मी घटने लगे तब समझना चाहिए कि यह लक्ष्मी अब तो जा ही रही है और चली ही जायगी इस लिए इसको और कामों मे क्यों जाने दिया जाय इसको तो सुपात्र दान में ही देदेना चाहिए। यही समझ कर लक्ष्मी के घटने पर भी विशेषरीति से सुपात्रों को अधिक दान देना चाहिये।

आगे जिन पूजा और पात्र दान न देने वालों की दुर्गतियों का वर्णन करते हैं।

जेहि ण दिण्णं दाणं ण चावि पुज्जा किया जिणिंदस्स ।
ते हीणदीण दुग्गय भिक्खं ण लहंति जायंता ॥५६९॥
यैर्न दत्तं दानं न चापि पूजा कृता जिनेन्द्रस्य ।
ते हीन, दीन, दुर्गत, भिक्षां न लभन्ते याचमानाः ॥५६९॥

अर्थ—जो पुरुष न तो कभी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करते हैं और न कभी सुपात्रों को दान देते हैं वे पुरुष अत्यन्त दीन हीन हो जाते हैं उनकी अवस्था अत्यन्त दुर्गति रूप में परिणत हो जाती है और मांगने पर भी उनको भीख नहीं मिलती।

पर पेसणाइं णिच्चं करंति भत्तीए लह य णिय देहं।
पूरंति ण णियय घरे परवस गासेण जीवंति ॥५७०॥
पर पेषणादिकं नित्यं कुर्वन्ति भक्त्या तथा च निजोदरम्।
पूरयन्ति न निजगृहे पर वशग्रासेन जीवन्ति ॥५७०॥

अर्थ—जिन जीवों ने कभी जिनेन्द्रदेव की पूजन नहीं की है और न कभी पात्रों को दान दिया है ऐसे जीव भक्ति पूर्वक दूसरों का अन्न पीस पीस कर अपना पेट भरते हैं। तो भी उनको पेट भरने योग्य अन्न अपने घर में नहीं मिलता है। वे पर वश होकर दूसरों के अन्न के टुकड़ों से ही जीवित रहते हैं।

खंधेण वहंति णरं गासत्थं दीह पंथ समसंता।
तं चेव विणवंता मुहकय कर विणय संजुत्ता ॥५७१॥
स्कंधेन वहन्ति नरं ग्रासार्थं दीर्घ पथ समासक्ताः।
तमेव विनमन्तः मुखकृत कर विनय संयुक्ताः ॥५७१॥

अर्थ—जो पुरुष जिन पूजा और पात्र दान नहीं करते वे जीव परलोक में जाकर अन्न के टुकड़ों के लिए मनुष्यों को अपने

कंधों पर रखकर (पालकी डोली पीनस आदि में बिठाकर) बहुत दूर दूर तक ले जाते हैं तथा अपने मुख की दीन आकृति बनाकर और हाथ जोड़कर उसकी बहुत बड़ी विनय करते जाते हैं।

पहु तुम्ह समं जायं कोमल अंगणाइ सुट्ठु सुहियाइं।
हय मुह पियाइं काऊं मलंति पाया सहत्थेहिं ।।५७२।।
प्रभो युष्माभिः समं जातानि कोमलांगानि सुष्टु सुभगानि।
इति मुखप्रियाणि कृत्वा संवहन्ते पादान् स्वहस्ताभ्याम् ।।५७२।।

अर्थ—जिन पूजन और पात्र दान न करने वाले पुरुष पर-लोक में अपने हाथ से दूसरों के पैर दाबते फिरते हैं और मुंह से बड़े मधुर शब्दों के द्वारा प्रिय शब्दों के द्वारा कहते जाते हैं कि हे प्रभो आपके शरीर के अङ्ग बड़े ही कोमल हैं, बड़े ही श्रेष्ठ हैं और वहुत ही सुन्दर हैं।

रक्खंति गोगवाइं छेलयखर तुरय छेत्त खलिहाणं।
वुणंति कप्प डाइं घडंति पिडउल्लयाइं च ।।५७३।।
रक्षन्ति गोगवादिकं अजाखरतुरग क्षेत्रखलिनान्।
कुर्वन्ति कर्पटादिकं घटन्ते पिढरादिकानि ।।५७३।।

अर्थ—दान पूजा न करने वाले पुरुष परभव में गाय भैंस बकरी गधा घोड़ा खेत खलिहान आदि की रखवाली करते रहते हैं और कितने ही लोग खाट पीढी आदि बढई के छोटे छोटे काम किया करते हैं।

धावंति सत्थहत्था उएहं च गणंति तह य सीयाइं।
तुरय मुह फेण सित्ता रयलित्ता गलियपायेसा ॥५७४॥
धावन्ति शस्त्र हस्ता उष्णं न गणयन्ति तथा च शीतादि।
तुरग मुख फेन सिक्ता रजो लिप्ता गलित प्रस्वेदाः ॥५७४॥

अर्थ—दान पूजा न करने वाले कितने ही जीव हाथ में शस्त्र लेकर दौड़ते हैं राजा महाराजाओं की सवारी के आगे आगे दौड़ते हैं उस समय न तो वे धूप वा गर्मी को गिनते हैं और न शीत वा ठंडक को गिनते हैं। उस समय उनका शरीर घोड़ों के मुख से निकलते हुए फेन से भर जाता है, धूल उनके शरीर पर लिपट जाती है और पसीने की धार बध जाती है।

पिच्छिय पर महिलाओ घणथण मय णयण चंद वयणाइं।
ताडेइ णियंसीसं झूरइ हिययम्मि दीण मुहो ॥५७५॥
प्रेक्ष्य परमहिलाः धनस्तन मदनयन चन्द्रवदनानि।
ताडयति निजं शीर्षं झूरयति हृदये दीनमुखाः ॥५७५॥
पर संपया णिएऊं पमणइ हा किं मया ण दिण्णाइं।
दाणाइं पर पत्ते उत्तम भत्ती य जुत्तण ॥५७६॥
पर सम्पदः दृष्ट्वा प्रणमति हा किं मया न दत्तानि।
दानानि प्रवर पात्रे उत्तम भक्त्या युक्तेन ॥५७६॥

अर्थ—जिन पूजन और पात्र दान न देने वाले पुरुष परभव में जाकर इतने दीन दुखी होते हैं कि वे लोग जिनके स्तन

अत्यन्त कठिन हैं जिनके नेत्रों में मद छाया हुआ है और चन्द्रमा के समान जिनका सुन्दर मुख है ऐसी पर स्त्रियों को देखकर अपने मस्तक को धुना करते हैं और दीन मुख होकर अपने हृदय में रोया करते हैं। इसके सिवाय दूसरों की संपत्ति को देखकर वे लोग रो रो कर कहते हैं कि हाय हाय क्या हमने पहले भव में उत्तम भक्ति पूर्वक उत्तम पात्रों को दान नहीं दिया था। यदि पहले भव में हमने भी पात्र दान दिया होता तो हमें भी ऐसी संपत्तियां अवश्य प्राप्त होतीं।

एवं णाऊण फुडं लोहो उवसानिऊण णियचित्ते।
णिय वित्ताणुस्सारं दिज्जइ दाणं सुपत्तेसु ॥५७७॥
एवं ज्ञात्वा स्फुटं उपशम्य निज चित्ते।
निज वित्ता नुसारं देहि दानं सुपात्रेष्षु ॥५७७॥

अर्थ—इस प्रकार पात्र दान के फल को जानकर और पात्र दान न देने के फल को जानकर अपने हृदय में लोभ को दबाना चाहिये, लोभ नहीं करना चाहिये और अपने धन संपत्ति के के अनुसार सुपात्रों को अवश्य दान देना चाहिये।

आगे कमाये हुए द्रव्य को किस प्रकार खर्च करना चाहिये सो कहते हैं।

जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंत्तेण।
छहणायगयं सव्वं पढमो भावो हि धम्मस्स ॥५७८॥

यदुत्पाद्यते द्रव्यं तत्कर्तव्यं च बुद्धिमता ।
षड्भागगतं सर्वं प्रथमो भागो हि धर्मस्य ॥५७८॥

अर्थ—बुद्धिमान् गृहस्थों को उचित है कि वे जितना धन उत्पन्न करें उसके छह भाग करे । उसमें से पहला भाग धर्म के लिये निकाल दें ।

बीओ भाओ गेहे दायव्वो कुडंब पोसणत्थेण ।
तइओ भाओ भोए चउत्थओ सयण वग्गम्मि ॥५७९॥
द्वितीयो भागो गृहे दातव्यः कुटुम्ब पोषणार्थम् ।
तृतीयो भागो भोगे चतुर्थः स्वजन वर्गे ।५७९॥

अर्थ—दूसरा भाग अपने कुटम्ब के भरण पोषण के लिये अपने घर वालों को देना चाहिये । तीसरा भाग अपने भोगों के लिये रखना चाहिये और चौथा भाग अपने स्वजन परिवार आदि के लिये रखना चाहिये ।

सेसा जे वे भावा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण ।
पूज्जा महिमा कज्जे अहवा कालावकालस्स ॥५८०॥
शेषौ यौ द्वौ भागौ स्थापनीयौ भवतः तावपि पुरुषेण ।
पूजामहिमा कार्ये अथवा कालापकालाय ॥५८०॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार चार भाग तो काम में लाने चाहिये और शेष बचे हुए दो भाग इस पुरुष को जमा

रखना चाहिये। वे बचे हुए दोनों भाग भगवान जिनेन्द्रदेव की विशेष पूजा करने में लगाना चाहिये अथवा किसी प्रभावना के कार्य में धर्म की महिमा बढ़ाने के कार्य में लगाना चाहिये। अथवा वे बचे हुए दोनों भाग किसी आपत्ति काल के लिये रख छोड़ना चाहिये।

आगे लोभी पुरुषों को लिये आचार्य फिर समझाते हैं।

अहवा णियं विढत्तं कस्स वि मा देहि होइ लोहिल्लो।
सो कौ थि कुण उवाऊ जह तं दव्वं समं जाइ ॥५८१॥
अथवा निजं वित्तं कस्यापि मा देहिं भव लुब्धः।
स कमपि कुरु उपायं यथा तद् द्रव्यं समं याति ॥५८१॥

अर्थ—अथवा प्रत्येक गृहस्थ को अपना द्रव्य किसी को भी नहीं देना चाहिये और अत्यन्त लोभी बनकर कोई भी ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे कि वह द्रव्य मरने के बाद भी अपने साथ चला चले।

आगे कौनसा द्रव्य अपने साथ जाता है और कौनसा नष्ट हो जाता है सो कहते है।

तं दव्वं जाइ समं जं खीणं पुज्ज महिम दाणेहिं।
जं पुण धरा णिहत्ते णट्ठे त्ते जाणि णियमेण ॥५८२॥
तद्द्रव्यं याति समं यत् क्षीणं पूजा महिम दानैः।
यत्पुनः धरानिचितं नष्टं तज्जानीहि नियमेन ॥५८२॥

अर्थ—जो द्रव्य भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा में खर्च होता है, जो द्रव्य धर्म की महिमा बढ़ाने में, धर्म की प्रभावना करने में खर्च होता है और जो द्रव्य पात्र-दान में खर्च होता है वही द्रव्य परलोक में अपने साथ जाता है। तथा जो द्रव्य पृथ्वी में गाड़ कर रख दिया जाता है। उसको निमम पूर्वक नष्ट हुआ समझो।

आगे पृथ्वी में गढा धन कैसे नष्ट होता है सो कहते हैं।

सइ ठाणाओ मुल्लह अहवा भूसेहि णिज्जए तं पि।
अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेइ अह राओ ॥५८३॥
स्वयं स्थानं विस्मरति अथवा मूषकैः नीयते तदापि।
अथ भ्राता अथ पुत्रः चोर स्तत् गृह्णाति अथ राजा ॥५८३॥

अर्थ—जो पुरुप पृथ्वी मे धन गाढ कर रखता है वह या तो स्वयं उस स्थान को भूल जाता है अथवा चूहे उस द्रव्य को लेकर दूसरे स्थान पर रख देते हैं, अथवा उसे भाई बन्धु ले जाते हैं अथवा पुत्र ले जाता वा चोर ले जाते हैं और इनसे भी बच रहता है तो उसे राजा ले लेता है।

अथवा—

अहवा तरुणी महिला जायइ अण्णेण जार पुरिसेण।
सह तं गिण्हिय दव्वं अण्णं देसंतरं दुट्ठा ॥५८४॥
अथवा तरुणी महिला याति अन्येन जारपुरुषेण।
सह तद् गृहीत्वा द्रव्यं अन्यद्देशान्तरं दुष्टा ॥५८४॥

अर्थ—अथवा अपनी दुष्ट तरुण स्त्री उस समस्त द्रव्य को लेकर किसी अन्य जार पुरुप के साथ दूर देशांतर को भाग जाती है। इस प्रकार अनेक प्रकार से वह गढा हुआ धन नष्ट हो जाता है।

आगे द्रव्य का सदुपयोग बतलाते है।

इय जाणिऊण णूणं देह सुपत्तेसु चहुविहं दाणं।
जह कय पावेण सया मुच्चेह लिथेद् सुपुण्णेण॥५८५॥
इतिज्ञात्वा नूनं देहि सुपात्रेषु चतुर्विधं दानम्।
यथाकृतपापेन मुच्जत लिप्पेत सुपुण्येन ॥५८५॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय रीति से समझ कर सुपात्रों के लिये चारों प्रकार का दान देना चाहिये। जिससे कि किये हुए पापों का नाश हो जाय और श्रेष्ठ पुण्य का उपार्जन हो।

आगे दान से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल बतलाते हैं

पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तियलोए।
पुण्णेण रूपमतुलं सोहागं जोवणं तेयं ॥५८६॥
पुण्येन कुलं विपुलं कीर्तिः पुण्येन भ्रमति त्रिलोके।
पुण्येन रूपवतुल सौभाग्यं तेजः ॥५८६॥

अर्थ—इस संसार में पुण्य के उदय से उत्तम कुल की और बहुत से कुटुम्ब की प्राप्ति होती है, पुण्य के ही उदय से इस

मनुष्य की कीर्ति तीनों लोकों में फैल जाती है पुण्य से ही सर्वोत्तम उपमा रहित रूप प्राप्ति होती है, पुण्य से ही सुहाग की प्राप्ति होती है पुण्य से ही युवावस्था प्राप्त होती है और पुण्य से ही तेज की प्राप्ति होती है।

पुण्णबलेणुब वज्जइ कहयवि पुरिसो य भोय भूमीसु।
भुंजेइ तत्थभोए दह कप्पतरुब्भवे दिव्वे ॥५८७॥
पुण्यबलेनोत्पद्यते कथमपि पुरुषश्च भोगभूमिषु।
भुंक्ते तत्र भोगान् दशकल्पतरूद्भवान् दिव्यान् ॥५८७॥

अर्थ—पुण्य कर्म के उदय से ही यह जीव किसी प्रकार भोग भूमि में भी उत्तम पुरुष उत्पन्न होता है और वहां पर दश प्रकार के कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए दिव्य भोगों का अनुभव करता है।

गिह तरुवर वरगेहे भोयण रुक्खाय भोयणे सरिसे।
कणयमय भायणाणिय भायण रुक्खा पयच्छन्ति ॥५८८॥
गृहतरुवरा वरगृहानपि भोजन वृक्षाश्च भोजनानि सरसेनि।
कनकमने भाजनानि च भाजन वृक्षा प्रयच्छन्ति ॥५८८॥

अर्थ—वहां पर दश प्रकार के कल्पवृक्ष हैं। उनमें से गृह जाति के कल्पवृक्ष उत्तम उत्तम घर देते हैं भोजन जाति के वृक्ष सरस भोजन देते हैं और भाजन जाति के वृक्ष सुवर्णमय पात्र वा वर्तन देते हैं।

वत्थंगा वर वत्थे कुसुमंगा दिंति कुसुम मालाये ।
दिंति सुयंध विलेवण विलेवणंगा महारुक्खा ॥५८६॥
वस्त्रांगा वर वस्त्राणि कुसुमांगा ददाति कुसुममालाः ।
ददाति सुगंध विलेपनं विलेपनांगा महावृक्षाः ॥५८६॥

अर्थ—वस्त्रांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के सुन्दर वस्त्र देते हैं, पुष्पांग जाति के वृक्ष पुष्प या पुष्पों की मालाएं देते हैं और विलेपनांग जाति के वृक्ष सुगंधित विलेपन उवटन आदि देते हैं।

तूरंगा वर तूरे मज्जंगादिंति सरस मज्जाइं ।
आहारणंगा दिंतिय आहरणे कणममणि जडिए ॥५६०॥
तूर्यांगा वर तौर्याणि मद्यांगा ददाति सरस मद्यानि ।
आभरणांगा ददति च आभरणानि कनकमणि जटितानि ॥५६॥

अर्थ—वाद्यांग जाति के वृक्ष तुरई आदि अनेक प्रकार के बाजे देते हैं, मद्यांग जाति के वृक्ष सरस पौष्टिक मद्य (एक प्रकार का रस जो केवल पौष्टिक होता है) देते हैं और आभरणांग जाति के वृक्ष अनेक प्रकार के मणियों से जड़े हुए सुवर्णमय आभूषण देते हैं।

दयणिदिणं ससि सूरा जह तह दीवंति जोइसारुक्खा ।
पायव दसप्पयारा चिंतियवं दिंति मणुयाणं ॥५६१॥

रजनी दिनयोः शशिसूरा यथा तथा दीप्यन्ते ज्योतिर्वृक्षाः ।
पादपा दशप्रकाराः चिन्तितं ददति मनुष्येभ्यः ॥५६१॥

अर्थ—ज्योतिष जाति के वृक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान रात दिन प्रकाश करते रहते हैं। इस प्रकार भोगभूमियों में दश प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं जो मनुष्यों को चिंतवन करने मात्र से अपनी इच्छानुसार पदार्थ देते हैं।

जरसोय वाहि वेअण कासं सासं च जिंभणं छिक्का ।
ए ए अण्णे दोसा णहवंति हु भोय भूमीसु ॥५६२॥
जरा शोक व्याधि वेदना कासं श्वासनं जृम्भणं क्षुतम् ।
एते अन्ये दोषा न भवन्ति हि भोग भूमिषु ॥५६२॥

अर्थ—बुढापा, व्याधि, वेदना, काम, श्वास, जंभाई, छींक आदि कितने ही दोष भोग भूमियों में नहीं होते हैं।

सव्वे भोए दिव्वे भुंजित्ता आउसाव साणम्मि ।
सम्मादिट्ठी मणुया कप्पा वासेसु जायंति ॥५६३॥
सर्वान् भोगान् दिव्यान् भुक्त्वा आयुरवसाने ।
संम्यग्दृष्टि मनुजाः कल्प वासिषु जायन्ते ॥५६३॥

अर्थ—इन भोग भूमियों में जो सम्यग्दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते हैं वे सब दीर्घ काल तक वहां के दिव्य भोगों को भोगते रहते

हैं और फिर आयु पूर्ण होने पर वे लोग मर कर कल्प वासी देव होते हैं।

जे पुणु मिच्छादिट्ठी विंतर भवणे सुजोइसाहोंति।
जम्हा मंद कसाया तम्हा देवेसु जायंति ॥५६४॥

ये पुन मिथ्या दृष्टयः व्यन्तर भावनाः सुज्योतिष्का भवन्ति।
यस्माद् मन्दकषायास्तस्माद्देवेषु जायन्ते ॥५६४

अर्थ—जो इन भोग भूमियों में मिथ्या दृष्टि पुरुष उत्पन्न होते हैं वे वहां के भोगों को भोग कर आयु के अन्त में भवन वासी व्यन्तर वा ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होते हैं। भोग भूमियों में उत्पन्न होने वाले जीव सब मंद कषाय वाले होते हैं इसलिये वे मर कर देव ही होते हैं।

केई समवसरणगया जोइस भावेण सुविंतरा देवा।
कहिऊण सम्मदंसण तत्थ चुया हुंति वा पुरिसा ॥५६५॥

केचित्समवसरणागता ज्योतिष्क भावनाः सुव्यन्तरा देवाः।
गृहीत्वा सम्यग्दर्शनं ततश्च्युता भवन्ति वा पुरुषाः ॥५६५॥

अर्थ—उन भवन वासी व्यन्तर ज्योतिषी देवों में से कितने ही देव भगवान के समव सरण में जाकर सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर लेते हैं और फिर वहां से आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्य होते हैं।

लहिऊण देस संजम सयलं वा होइ सुरोत्तमो सरगे ।
भोत्तूण सुहे रम्मे पुणोवि अवयरइ मणुयत्ते ॥५६६॥
लब्ध्वा देश संयमं सकलं वा भवति सुरोत्तमः स्वर्गे ।
भुक्त्वा शुभान् रम्यान् पुनरपि अवतरति मनुजत्वे ॥५६६॥

अर्थ मनुष्य होकर वे जीव देश संयम धारण करते हैं अथवा सकल संयम धारण कर स्वर्गों में उत्तम देव होते हैं। वहां पर वे मनोहर सुखों का अनुभव कर आयु के अन्त में फिर भी मनुष्य भव धारण करते हैं।

तत्थवि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो ।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेई ॥५६७॥
तत्रापि शुभान् भुक्त्वा दीक्षां गृहीत्वा भूत्वा निर्ग्रन्थः ।
शुक्लध्यानं प्राप्य कर्म हत्वा सिद्ध्यति ॥५६७॥

अर्थ—उस मनुष्य भव में भी अनेक प्रकार के सुखों का अनुभव करता है। तदनन्तर दीक्षा धारण कर निर्गंथ अवस्था धारण करता है तथा शुक्ल ध्यान को धारण कर समस्त कर्मों का नाश करता है और अन्त में सिद्ध प्राप्त कर लेता है।

सिद्धं सरूवरूवं कम्म रहियं च होइ झाणेण ।
सिद्धावासी य णरो ण हवइ संसारिओ जीवो ॥५६८॥
सिद्धं स्वरूपरूपं कर्म रहितं च भवति ध्यानेन ।
सिद्धावासी च नरो न भवति संसारी जीवः ॥५६८॥

अर्थ - सिद्धों का स्वरूप शुद्ध आत्मस्वरूप होता है तथा शुक्ल ध्यान के द्वारा समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। सिद्धस्थान में रहने वाले समस्त सिद्ध परमेष्ठी जीव फिर कभी भी संसार नहीं आते हैं।

पंचमयं गुणठाणं एयं कहियं मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं पमत्तविरयं तु छमयं ॥५९९॥
पंचमं गुणस्थानं एतत्कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये प्रमत्तविरतं तु षष्ठमकम् ॥५९९॥

अर्थ—इस प्रकार मैंने अत्यन्त संक्षेप से पांचवें गुण स्थान का स्वरूप कहा। अब इस के आगे प्रमत्तविरत नाम के छठे गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ।

इस प्रकार विरता विरत नाम के पांचवे गुण स्थान का स्वरूप समाप्त हुआ

आगे छठे प्रमत्त संयत गुण स्थान का लक्षण कहते हैं।

इत्थेव तिण्णि भावा खय उव समाइं होंतिगुणठाणे ।
पण्दह हुंति पमाया पमत्त विरओ हवे तम्हा ॥६००॥
अत्रैव त्रयो भावाः क्षयोपशमादयः भवन्ति गुणस्थाने ।
पंचदश भवन्ति प्रमादा प्रमत्तविरतो भवेत्तस्मात् ॥६००॥

अर्थ—इस प्रमत्त विरत नाम के गुण स्थान में औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक तीनों प्रकार के भाव होते हैं, तथा

पंद्रह प्रमाद भी इसी गुण स्थान तक होते हैं इसीलिये इस गुण स्थान को प्रमत्त विरत कहते हैं। भावार्थ—यद्यपि प्रमाद सब नीचे के गुण स्थानों में भी रहते हैं परन्तु नीचे के गुण स्थानों में पापों का सर्वथा त्याग नहीं है इसलिये उन पापों के साथ प्रमाद भी रहते ही हैं। परन्तु इस छठे गुण स्थान मे पापों का सर्वथा त्याग हो जाता है पंच महाव्रत धारण किये जाते हैं तथा उनके साथ प्रमाद भी रहते हैं पापों का त्याग होने पर भी प्रमादों का त्याग नहीं होता इसलिये इस गुण स्थान को प्रमत्त विरत कहते हैं।

आगे इस गुण स्थान का लक्षण कहते हैं।

वत्तावत्त पमाए जो णिवसइ पमत्तसंजदो होइ।
सयल गुण सील कलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥६०१॥
व्यक्ताव्यक्त प्रमादे यो निवसति प्रमत्त संयतो भवति।
सकल गुणशील कलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ॥६०१॥

अर्थ—जो मुनि अट्ठाईस मूल गुणों को पालन करते हैं शील वा उत्तर गुणों को पालन करते हैं महाव्रतों का पालन करते हैं ऐसे मुनि जब व्यक्त वा अव्यक्त रूप प्रमाद में निवास करते हैं तब वे प्रमत्त संयत वा प्रमत्त संयमी मुनि कहलाते है। ऐसे मुनियों का चारित्र अत्यन्त शुद्ध नहीं होता किन्तु अनेक रंगों से बने हुए चित्र के समान होता है। भावार्थ—प्रमाद के होने से कुछ न कुछ दोष उसमें लगे ही रहते हैं।

आगे प्रमादों को कहते हैं।

विकहा तहय कसाया इंदियणिद्दा तहय पणओ य।
चउ चउ पण मेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा ॥६०२॥
विकथास्तथा च कषाया इन्द्रियाणि निद्रा तथा च प्रणयश्च।
चतस्रः चत्वारः पंच एका एकः भवन्ति प्रमादाः हि पंचदश॥६०२

अर्थ—चार विकथा चार कषाय पांच इन्द्रियां निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद कहलाते हैं।

भावार्थ—राजकथा, भोजन कथा, देश कथा और चोर कथा ये चार विकथाएं कहलाती हैं। इन कथाओं के सुनने से वा कहने से पाप का ही बंध होता है इसलिये इनको विकथा कहते हैं।

क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये भी पाप बंध के कारण हैं। पांचों इन्द्रियों के विषय भी पाप बंध के कारण हैं निद्रा पाप बन्ध का कारण है ही। तथा स्नेह वा प्रणय भी पाप बन्ध का कारण है इसलिये इन सब को प्रमाद कहते हैं तथा इन्हीं प्रमादों के कारण चारित्र की अत्यन्त शुद्धता नहीं होती। प्रमादों के कारण उनमें दोष वा अशुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है।

आगे इस गुणस्थान में कौनसा ध्यान होता है सो बतलाते हैं।

झायइ धम्मज्झाणं अट्टं पि य णो कसाय उदयाओ।
मज्झाय भावणाए उवसामइ पुणु वि झाणम्मि ॥६०३॥

ध्यायति धर्म्यं ध्यानं आर्तमपि नो कषायो दयात् ।
स्वाध्याय भावनाभ्यां उपशाम्यति पुनरपि ध्याने ॥६०३॥

अर्थ—छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनि धर्म्यध्यान का चिंतवन करते हैं। तथा नो कषाय के उदय होने से उनके आर्त-ध्यान भी हो जाता है। तथापि स्वाध्याय और रत्नत्रय की भावना के कारण उसी ध्यान में वे उस आर्तध्यान का उपशम कर देते हैं। भावार्थ—मुनियों के आर्तध्यान कभी कभी होता है तथा तीन ही प्रकार का आर्तध्यान होता है निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता। यदि किसी मुनि के निदान नामका आर्तध्यान हो जाय तो फिर उस मुनि का छठा गुणस्थान ही छूट जाता है।

तज्झाण जाय कम्मं खवेइ आवासएहिं परिपुण्णो ।
णिंदण गरहण जुत्तो पडिकमण किरियाहिं ॥६०४॥
तद्ध्यान जातकर्म क्षिपति आवश्यकैः परिपूर्णः ।
निन्दनगर्हण युक्तो युक्तः प्रतिक्रमण क्रियाभिः ॥६०४॥

अर्थ—छठे गुणस्थान में रहने वाले वे मुनि अपने छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते हैं। तथा उन्हीं आव-श्यकों के द्वारा उस स्वल्प आर्तध्यान से उत्पन्न हुए कर्मों को नाश कर देते हैं। इसके सिवाय वे मुनि उस आर्तध्यान के कारण अपनी निन्दा करते रहते हैं अपनी गर्हा करते रहते हैं प्रतिक्रमण करते रहते हैं और अपनी समस्त क्रियाओं का पालन करते रहते हैं।

जाव पमाए वट्टइ जावथिरं थाइ णिच्चलं झाणं ।
णिंदण गहण जुत्तो आवासइ कुणइ ता भिक्खू ॥६०५॥
यावत्प्रमादे वर्तते यावन्न स्थिरं तिष्ठति निश्चल ध्यानम् ।
निन्दन गर्हण युक्तः आवश्यकानि करोति तावद् भिक्षुः॥६०५॥

अर्थ—वे छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनि जबतक प्रमाद सहित रहते हैं जबतक उनका निश्चल ध्यान अत्यन्त स्थिर नहीं होता है तब तक वे मुनि अपनी निन्दा करते रहते हैं गर्हा करते रहते हैं और छहों आवश्यकों को पूर्ण रीति से पालन करते रहते हैं।

छट्ठ मए गुणठाणे वट्टंतो परिहरेइ छावासं ।
जो साहु सोण मुणाई परमायम सार संदोहं ॥६०६॥
षष्ठमके गुणस्थाने वर्तमानः परिहरति षडावश्यकानि ।
यः साधुः स न जानाति परमागमसारसन्दोहम् ॥६०६॥

अर्थ—जो साधु छठे गुणस्थान में रहकर भी छहों आवश्यकों को नहीं करता वह साधु परमागम के सार को नहीं समझता

समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।
व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ॥

समता धारण करना, वन्दना करना, स्तुति करना, प्रत्याख्यान वा त्याग करना, प्रति क्रमण करना और व्युत्सर्ग करना ये छह आवश्यक कहलाते हैं।

ऐसा समझना चाहिये। भावार्थ—छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों को छहों आवश्यक अवश्य करने चाहिये और प्रतिदिन ही करने चाहिये। इनको कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

आगे जो साधु आवश्यक नहीं करता उसके लिये कहते हैं।

अहव मुणंतो छंडइ मत्रावासाइं सुत्तबद्धाइं।
तो तेण होइ चत्तो सुआयमो जिणवादस्स ॥६०७॥
अथवा जानन् त्यजति सर्वावश्यकानि सूत्रबद्धानि।
तर्हितेन भवति त्यक्तः स्वागमो जिनवरेन्द्रस्य ॥६०७॥
आयमचाए चत्तो परमप्पा होइ तेण पुरिसेण।
परमप्पय चायेण य मिच्छत्तं पोसियं होइ ॥६०८॥
आगमे त्यक्ते त्यक्तः परमात्मा भवति तेन पुरुषेण।
परमात्मनः त्यागेन मिथ्यात्वं पोषितं भवति ॥६०८॥

अर्थ—अथवा जो साधु जान बूझ कर सिद्धांत सूत्रों में कहे हुए आवश्यकों का त्याग कर देता है। छह आवश्यकों को नहीं करता वह साधु भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए आगम का ही त्याग कर देता है ऐसा समझना चाहिये तथा यह बात भी निश्चित है कि जिसने आगम का त्याग कर दिया उसने परमात्मा का भी त्याग कर दिया और परमात्मा का त्याग करने से वह पुरुष मिथ्यात्व की ही पुष्टि करता है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। भावार्थ—आगम सब भगवान जिनेन्द्र देवका

कहा हुआ है । इसलिये जो पुरुष आगम को नहीं मानता वह पुरुष भगवान जिनेन्द्र देव को भी नहीं मानता वह पुरुष मिथ्या दृष्टि ही समझा जाता है । इसीलिये आगम की अवहेलना करना महापाप माना जाता है ।

एवं णाऊण सया जावण पावेहि णिच्चलं झाणं ।
मण संकप्प विमुक्कं तावासय कुणइ वयसहियं ॥६०६॥
एवं ज्ञात्वा सदा यावन्न प्राप्नोति निश्चलं ध्यानम् ।
मनः संकल्पविमुक्तं तावदावश्यकं कुर्यात् व्रतसहितम् ॥६०६॥

अर्थ—यही समझ कर मुनियों को उचित है कि जबतक मनके संकल्प विकल्पों से रहित होकर निश्चल ध्यान की प्राप्ति नहीं होती तब तक उनको छहों आवश्यक प्रतिदिन अवश्य करते रहना चाहिये तथा अपने अन्य समस्त व्रतों का पालन करते रहना चाहिये ।

आगे आवश्यक आदि कार्यों का फल बतलाते हैं ।

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाण पूजाइं ।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जर णिमित्तं ॥६१०॥
आवश्यकादि कर्म वैयावृत्यं च दान पूजादि ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरा निमित्तम् ॥६१०॥

जो सम्यग्दृष्टी पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकों का पालन करता है, व्रत नियम आदि का पालन करता है वैयावृत्य करता

है, पात्र दान देता है और भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है उस पुरुष का वह सब कार्य कर्मों की निर्जरा का कारण माना जाता है।

जस्सण णहगामित्तं पायविलेवो ण ओसही लेवो।
सो नावाइ समुद्दं तरेइ किमिच्छ भणिएण ॥६११॥
यस्य न नभोगामित्वं पादविलेपो न औषधिलेपः।
स नौरिव समुद्रं तारयति किमिच्छ भणितेन ॥६११॥

अर्थ—जिनके न तो आकाश गामिनी ऋद्धि है, न पैरों को स्थिर कर आकाश में चलने की ऋद्धि है और न औषधि लेप ऋद्धि है तथापि वह नाव के समान भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देता है। भावार्थ--जिन मुनियों के कोई किसी प्रकार की ऋद्धि नहीं है ऐसे साधारण मुनि भी अपने रत्नत्रय स्वरूप शरीर से अपने धर्मोपदेश से अनेक भव्य जीवों को संसार समुद्र से पार कर देते हैं मुनियों की महिमा अपार वचनातीत है।

जा संकप्पो चित्ते सुहासुहो भोयणाइ किरियाओ।
ताकुणउसाविकिरियं पडिकमणाईय णिस्सेसं ॥६१२॥
यावत्संकल्पश्चित्ते शुभाशुभः भोजनादि क्रियातः।
तावत्करोतु तामपि क्रियां प्रतिक्रमणादिकां च निःशेषाम् ॥

अर्थ—इस छठे गुणस्थान में रहने वाले मुनियों के हृदय में जबतक शुभ संकल्प वा अशुभ संकल्प विकल्प होते रहते हैं

और जब तक भोजनादिक क्रियाओं की प्रवृत्ति होती रहती है, तब तक उन मुनियों को प्रतिक्रमण आदि समस्त क्रियाएं करते रहना चाहिये।

एसो पमत्त विरओ साहू मए कहिउ समासेण।
एत्तो उड्ढं वोच्छं अप्पमत्तो णिसामेह ॥६१३॥
एषः प्रमत्त विरतः साधुःमया कथितः समासेन।
इतः ऊर्ध्वं वक्ष्येऽप्रमत्तं निशामयत ॥६१३॥

अर्थ--इस प्रकार मैंने प्रमत्त विरत नाम के छटे गुणस्थान का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप से कहा। अब इसके आगे अप्रमत्त विरत नाम के सातवें गुणस्थान का स्वरूप कहता हूँ, उसे सुनो।

इस प्रकार प्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप समाप्त हुआ।

णट्ठासेसपमाओ वय गुणसीलेहिं मंडिओ णाणी।
अणुव समुओ अखवओ झाणणिलीणोहु अप्पमत्तो सो ६१४
नष्टाशेष प्रमादो व्रतगुण शीलैर्मण्डितो ज्ञानी।
अनुपशमकोऽक्षपको ध्यान निलीनोहि अप्रमत्तः ॥६१४॥

अर्थ--जिनके ऊपर लिखे प्रमाद सब नष्ट हो गये हैं जो व्रत शील गुणों से सुशोभित हैं जो सम्यग्ज्ञानी हैं, और ध्यान में सदा लीन रहते हैं तथा जो न तो उपशम श्रेणी में चढ़ रहे

हैं और न क्षपक श्रेणी में चढ़ रहे हैं ऐसे मुनि अप्रमत्त कहला ते हैं। भावार्थ—सातवें गुणस्थान वर्ती मुनि पांचों महाव्रतों को पालन करते हैं अट्ठाईस मूल गुणों को पालन करते हैं शीलों का पालन करते हैं उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणी में चढ़ने के लिये सन्मुख रहते हैं तथा ध्यान में ही लीन रहते हैं।

पुवुत्ता जे भावा हवंति तिण्णेव तत्थ णायव्वा।
मुक्खं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव ॥६१५॥

पूर्वोक्ता ये भावा भवन्ति त्रय एव तत्र ज्ञातव्याः।
मुख्यं धर्म्यं ध्यानं भवेत् नियमेन अत्रैव ॥६१५॥

अर्थ—इस सातवे गुणस्थान मे पहले कहे हुए औपशमिक भाव, क्षायिक भाव और क्षायोपशमिक भाव तीनों भावहोते हैं। तथा इस गुण स्थान में नियम पूर्वक मुख्य रीति से धर्म्य ध्यान होता है।

झायारो पुण झाणं झेयं तहवफलं च तस्सेव।
ए ए चउ अहियारा णायव्वा होंति णियमेण ॥६१६॥

ध्याता पुन ध्यानं ध्येयं तथा वा फलं च तस्यैव।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति नियमेन ॥६१६॥

अर्थ—इस गुण स्थान मे चार अधिकार बतलाये हैं ध्यान करने वाला ध्याता, चितवन करने रूप ध्यान, जिसका चितवन

किया जाय ऐसा आत्मा ध्येय और उस ध्यान का फल। ये चार अधिकार नियम पूर्वक इस गुण स्थान मे होते हैं।

आगे ध्यान का लक्षण कहते हैं।

आहारासणणिद्दा विजओ तह इंदियाण पंचण्हं।
बावीस परि सहाणं कोहाईणं कषायाणं ॥६१७॥
णिस्संगो णिम्मोहो णिग्गय वावार करण सुत्तड्ढो।
दिढकाओ थिरचित्तो एरिसओ होइ झायारो ॥६१७॥
आहारासननिद्राणां विजयस्तथा इन्द्रियाणां पंचानाम्।
द्वाविंशति परीषहानां क्रोधादीनां कषायाणाम् ॥६१८॥
निःसंगो निर्मोही निर्गतव्यापार करण सूत्राढ्यः।
दृढकायः स्थिरचित्तः एतादृशो भवति ध्याता ॥६१८॥

अर्थ—जिसने आहार का विजय कर लिया है निद्रा का विजय कर लिया है, पांचों इन्द्रियों का विजय कर लिया है, जो बाईस परिषहों के विजय करने में समर्थ हैं, जिसने क्रोधादिक समस्त कसायों का विजय कर लिया है दश प्रकार के बाह्य परिग्रह और चौदह प्रकार अन्तरग परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर दिया है ❀

❀ खेत धन घर धान्य सोना चांदी दासी दास वर्तन कुप्य (वस्त्रादिक) दश वाह्य परिग्रह हैं। हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा मिथ्यात्व स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसक वेद क्रोध मान माया लोभ ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं।

मोह का सर्वथा त्याग कर दिया है, जिसने अपने समस्त इन्द्रियों के व्यापार का त्याग कर दिया है, जो सिद्धान्त सूत्रों का जानकार है, जिसका शरीर अत्य त दृढ है और जिसका चित्त अत्यन्त स्थिर है, ऐसा साधु ध्यान करने योग्य ध्याता कहलाता है।

आगे ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

चित्तणिरोहे झाणं चहुविहभेयं च तं मुणेयव्वं ।
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं चेव ॥६१६॥

चित्त निरोधे ध्यानं चतुर्विध भेदं च तन्मन्तव्यम् ।
पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूप वर्जितं चैव ॥६१६॥

अर्थ—चित्त का निरोध करना ध्यान है अर्थात् चित्त में अन्य समस्त चिंतवनों का त्याग कर किसी एक ही पदार्थ का चितवन करना, उस एक पदार्थ के सिवाय अन्य किसी पदार्थ का चिंतवन न करना ध्यान कहलाता है। उस ध्यान के चार भेद हैं पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत।

आगे पिंडस्थ ध्यान को कहते हैं।

पिंडो वुच्चइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णियअप्पा ।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेय किरणड्ढो ॥६२०॥

पिण्ड उच्यते देहस्तस्य मध्यस्थितो हि निजात्मा ।
ध्यायते अति शुद्धो विस्फुरितः सित किरणस्थः ॥६२०॥

अर्थ—यहां पर पिंड शब्द का अर्थ शरीर है, उस शरीर के मध्य में विराजमान अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिये। तथा वह अपना आत्मा अत्यन्त शुद्ध है है, उसमें से सफेद किरणें निकल रही हैं और वह अत्यन्त दैदीप्य मान हो रहा है ऐसे अपने आत्मा का चितवन करना चाहिये।

देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंध विरहिओ णिच्चं।
णिम्मल तेय फुरंतो गयणतले सूर विंवेव ॥६२१॥
जीवप्पदेसपचयं पुरिसायारं हि णियदेहत्थं।
अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थ अभिदाणं ॥६२२॥
देहस्थो ध्यायते देह सम्बन्ध विरहितो नित्यम्।
निर्मल तेजसा स्फुरन् गगनतले सूर्य बिम्ब इव॥६२१॥
जीव प्रदेश प्रचयं पुरुषाकारं हि निज देहस्थम्।
अमल गुणं ध्यानम् ध्यानं पिण्डस्थाभिधानम् ॥६२२॥

अर्थ – वह अपना शुद्ध आत्मा अपने शरीर में विराजमान है तथापि उसका शरीर से कोई सम्बन्ध नहीं है, वह आत्मा अत्यन्त निर्मल है और जिस प्रकार आकाश में सूर्य दैदीप्यमान होता है उसी प्रकार वह आत्मा भी अपने तेज से दैदीप्यमान हो रहा है उस आत्मा के प्रदेशों का प्रचय वा समूह पुरुषाकार है वह प्रदेशों का समूह अपने ही शरीर में ठहरा हुआ है और उसमें अनेक निर्मल गुण भरे हुए हैं। इस प्रकार जो शरीर में

स्थित अपने आत्मा का ध्यान किया जाता है उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं।

आगे रूपस्थ ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

जारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देह बाहिरे तह य।
अप्पा सुद्ध सहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं ॥६२३॥
यादृशो देहस्थो ध्यायते देह बाह्ये तथा परगतं च।
आत्मा शुद्धस्वभावस्तद् रूपस्थं स्फुटं ध्यानम् ॥६२३॥

अर्थ—ऊपर लिखे पिंडस्थ ध्यान में अपने ही शरीर में स्थित अपने ही शुद्ध निर्मल और अत्यन्त देदीप्यमान आत्मा का ध्यान करना बतलाया है उसी प्रकार शरीर के बाहर अपने ही शुद्ध निर्मल अत्यन्त देदीप्यमान और शुद्ध स्वभाव आत्मा का ध्यान करना रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं।
तं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंच परमेट्ठी ॥६२४॥
रूपस्थं पुनः द्विविधं स्वागतं तथा परगतं च ज्ञातव्यम्।
तत्परगतं भण्यते ध्यायते यत्र पंच परमेष्ठी ॥६२४॥

अर्थ—इस रूपस्थ ध्यान के दो भेद हैं एक स्वागत आत्मा का ध्यान और दूसरा परगत आत्मा का ध्यान। जहां पर पंच परमेष्ठी का ध्यान किया जाता है उस ध्यान को परगत रूपस्थ ध्यान

कहते हैं। पंच परमेष्ठी का आत्मा अत्यन्त शुद्ध है परन्तु वह अपने आत्मा से भिन्न है इसलिये उसको परगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं।

सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा।
णियदेहस्स वहित्थो फुरंत रविनेय संकासो ॥६२५॥
स्वगतं तु रूपस्थं ध्यायते यत्र आत्मना आत्मा।
निज देहाद्बहिःस्थः स्फुरत् रवितेजः संकाशः ॥६२५॥

अर्थ—जो अपना आत्मा सूर्य के तेज के समान अत्यन्त दैदीप्यमान है अत्यन्त शुद्ध है निर्मल है ऐसा अपना आत्मा अपने ही आत्मा के द्वारा अपने शरीर के बाहर ध्यान किया जाता है उसको स्वगत रूपस्थ ध्यान कहते हैं। इस प्रकार रूपस्थ ध्यान का स्वगत स्वरूप कहा।

अब आगे पदस्थ ध्यान को कहते हैं।

देवच्चणा विहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणंदेहिं ॥६२६॥
देवार्चना विधानं यत्कथितं देश विरत स्थाने।
भवति पदस्थं ध्यानं कथितं तद्वरजिनेन्द्रैः ॥६२६॥

अर्थ - पहले देश विरत वा विरता विरत गुणस्थान के स्वरूप में जो भावना जिनेन्द्रदेव की पूजन करना समवसरण में विरा-

जमान अष्ट प्रतिहार्य सहित अनन्त चतुष्टय सहित भगवान अरहंत परमेष्ठी का ध्यान करना आदि बतलाया है वह सब पदस्थ ध्यान है ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

एक पय मक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुवसंबंधं ।
तं पिय होइ पयत्थं झाणं कम्माण णिद्दहणं ॥६२७॥

एक पद मक्षरं वा जाप्यते यत्पंच गुरु सम्बन्धम् ।
तदपि च भवति पदस्थं ध्यानं कर्मणां निर्दहनम् ॥६२७॥

अर्थ—पंच परमेष्ठी के वाचक एक पद के मन्त्र का जप करना वा एक अक्षर मन्त्र का जप करना वा अधिक अक्षरों के मंत्र का जप करना भी पदस्थ ध्यान कहलाता है। यह पदस्थ ध्यान कर्मों के नाश करने का साधन है। भावार्थ—पणतीस सोल छप्पण चदु दुग मेगं च जवह झाएह। परमेट्ठि वाचयाण अण्णं च गुरु वएसेण। अर्थात्—णमो अरहंताण णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं यह पेंतीस अक्षर का मंत्र है। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्योनमः यह सोलह अक्षर का मंत्र है। अ सि आ उ सा यह पांच अक्षर का मंत्र है। अरहंत यह चार अक्षर का मंत्र है। सिद्ध यह दो अक्षर का मंत्र है ओं यह एक अक्षर का मंत्र है। अ अरहंत का पहला अक्षर है, सि सिद्ध का पहला अक्षर है, आ आचार्य का पहला अक्षर है, उ उपाध्याय का पहला अक्षर है और सा साधु

का पहला अक्षर है। इसी प्रकार ओं भी पंच परमेष्ठी का वाचक है।

अरहंसा असरीरा आइरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढम क्खर णिप्पणो ओंकारो पंच परमेष्ठी॥

अर्थ—अरहंत अशरीरा अर्थात् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और मुनि इन पांचों परमेष्ठियों का पहला अक्षर लेकर संधि करने से पंच परमेष्ठी का वाचक ओं सिद्ध हो जाता है। यथा अ+अ=आ, आ+आ=आ। आ+उ=ओ। ओ+म=ओम्। इस प्रकार ओं पंच परमेष्ठी का वाचक है।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान का स्वरूप कहा।

अब आगे रूपातीत ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

णीय चिंतइ देहत्थं देह वहित्थं ण चिंतए किं पि।
ण सगय परगयरूवं तं गयरूवं णिरालंवं॥६२८॥
नच चिन्तयति देहस्थं देह वाह्यस्थं न चिन्तयेत् किमपि।
न स्वागत परगत रूपं तद्गतरूपं निरालम्बम्॥६२८॥

अर्थ—जो न तो शरीर में स्थित शुद्ध आत्मा का चिंतवन करता न शरीर के बाहर शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है न स्वगत आत्मा का ध्यान करता है और न परगत पंच परमेष्ठी का ध्यान करता है किन्तु बिना किसी आलम्बन के किसी पदार्थ का ध्यान करता है अपने चित्त को अन्य समस्त चिंतवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ में लगाता है वह रूपातीत ध्यान कहलाता है।

जत्थ ण करणं चिंता अक्खर रूवं ण धारणा धेयं ।
ण य वावारो कोई चित्तस्सय तं णिरालेवं ॥६२६॥
यत्र न करणं चिन्ता अक्षर रूपं न धारणा ध्येयम् ।
न च व्यापारः कश्चिच्चित्तस्य च तन्निरालम्बम् ॥६२६॥

अर्थ—जिस ध्यान में किसी विशेष पदार्थ का चिंतवन नहीं करना पडता न किसी शब्द वा अक्षर का चितवन करना पड़ता है, जिसमें न धारणा है न ध्येय है और न जिसमें मन का कोई व्यापार होता है । ऐसे ध्यान को निरावलम्ब ध्यान कहते हैं। भावार्थ—निरालंब ध्यान करने वाला योगी अपने आत्मा को अपने ही आत्मा में लीन कर लेता है । अपने आत्मा के द्वारा उसी अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है। वही निरालंब ध्यान कहलाता है ।

इंदिय विसय वियारा जत्थ खयं जंति राय दोसं च ।
मण वावारा सव्वे तं गयारूवं मुणेयव्वं ॥६३०॥
इन्द्रिय विषय विकारा यत्र क्षयं यान्ति रागद्वेषौ च ।
मनो व्यापाराः सर्वे तद्गतरूपं मन्तव्यम् ॥६३०॥

अर्थ—जिस ध्यान में इन्द्रियों के समस्त विकार नाश हो जाते हैं जिसमें राग द्वेष सब नष्ट हो जाते हैं और मन के व्यापार सब नष्ट हो जाते हैं उसको रूपातीत ध्यान कहते हैं। इस प्रकार रूपातीत ध्यान का स्वरूप है ।

आगे ध्येय वा ध्यान करने योग्य पदार्थ को कहते हैं।

घेयं तिविह पयारं अक्खरस्वं तह अरूवंच।
रूवं परमेट्ठिगयं अक्खरयं तेसि मुच्चारं ॥६३१॥
गयरूवं जंझेयं जिणेहिं भणियं पि तं णिरालंबं।
सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाइण्णं ॥६३२॥

ध्येयं त्रिविध प्रकारं अक्षर रूपं तथाऽरूपं च।
रूपं परमेष्ठिगतं अक्षरकं तेषामुच्चारणम् ॥६३१॥
गतरूपं यद्ध्येयं जिनैर्भणितमपि तन्निरालम्बम्।
शून्यमपि तन्न शून्यं यस्माद रत्नत्रयाकीर्णम् ॥६३२॥

अर्थ—जिसका ध्यान किया जाता है उसको ध्येय कहते हैं वह ध्येय तीन प्रकार का है। अक्षर, रूप और अरूपी। जो पंच

इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत्।
ध्यानं ध्येय विकल्पेन तद्ध्यानं रूप वर्जितम् ॥
अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ॥

जहां पर इन्द्रियों की प्रवृत्ति सब नष्ट हो जाय मन की प्रवृत्ति नष्ट हो जाय जहां पर ध्यान और ध्येय का अलग अलग विकल्प न हो, जो ध्यान अमूर्त आत्मा का किया जाय जो ध्यान अव्यक्त हो, विकल्प रहित हो शुद्ध चैतन्य स्वरूप हो। इस प्रकार जो अपने आत्मा के द्वारा अपने ही शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना रूपातीत ध्यान है

परमेष्ठी का ध्यान करना है तथा उन परमेष्ठी के वाचक अक्षरों का उच्चारण करना है वह अक्षर रूप ध्यान कहलाता है तथा जो रत्नत्रयस्वरूप निरालंब ध्यान किया जाता है जो रत्नत्रय से ओत प्रोत भरा हुआ है और इसीलिये जो शून्य होकर भी शून्य नहीं कहलाता उस ध्यान को भगवान जिनेन्द्र देव ने रूपातीत ध्येय बतलाया है।

आगे ध्यान का फल बतलाते हैं।

झाणस्स फलं तिविहं कहंति वर जोइणो विगयमोहा।
इह भव पर लोय भवं सव्वं कम्मक्खए तइयं ॥६३३॥

ध्यानस्य फलं त्रिविधं कथयन्ति वर योगिनो विगतमोहाः।
इह भव परलोक भवं सर्वं कर्मक्षये तृतीयम् ॥६३३॥

अर्थ—राग द्वेष और मोह रहित परम योगी पुरुषों ने ध्यान का फल तीन प्रकार बतलाया है। पहला इसी भव में होने वाला फल, दूसरा परलोक में होने वाला फल और तीसरा समस्त कर्मों का नाश होना। इस प्रकार ध्यान के फल तीन प्रकार के होते हैं।

झाणस्स य सत्तीए जायंति अइसयाणि विविहाणी।
दूरालोयण पहुई झाणे आएस करणं च ॥६३४॥

ध्यानस्य च शक्त्या जायन्ते अतिशयानि विविधानि।
दूरालोकन प्रभृतीनि ध्याने आदेश करणं च ॥६३४॥

अर्थ—ध्यान की शक्ति से अनेक प्रकार के अतिशय प्राप्त हो जाते हैं, हजारों कोस दूर के पदार्थ देख लेना, दूर के शब्द सुन लेना आदि रूप से इन्द्रिय ज्ञान की वृद्धि हो जाती है तथा आदेश करने की शक्ति प्रगट हो जाती है।

मइसुइ ओहीणाणं मणपज्जय केवलं तहा णाणं।
रिद्धीओ सव्वाओ जइपूजा इह फलं झाणे ॥६३५॥
मतिश्रुतावधि ज्ञान मनः पर्ययः केवलं तथा ज्ञानम्।
ऋद्धयः सर्वाः यतिपूजा इह फलं ध्याने ॥६३५॥

अर्थ—मति ज्ञान श्रुत ज्ञान की वृद्धि वा पूर्णता हो जातो है अवधि ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान प्रगट हो जाता है तथा केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है, समस्त ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं और यति पूजा भी होने लगती है अथवा केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर जिन पूजा भी होने लगती है। यह इतना फल तो इसी लोक में मिल जाता है।

आगे परलोक सम्बन्धी फल बतलाते हैं।

सक्काई इंदत्तं अहमिदत्तं च सग्गलोयम्मि।
लोयंति य देवत्तं तं परभवगयफलं झाणे ॥६३६॥
शक्रादीन्द्रत्वं अहमिन्द्रत्वं च स्वर्ग लोके।
लौकान्तिक देवत्वं तत्परभवगत फलं ध्याने ॥६३६॥

अर्थ—स्वर्गों में जाकर इन्द्र पद की प्राप्ति, अहमिन्द्र पद की प्राप्ति होना, और लौकान्तिक पद की प्राप्ति होना आदि ध्यान का परलोक सम्बन्धी फल समझना चाहिये।

आगे ध्यान का तीसरा फल बतलाते हैं।

तणुपंचस्सय णासो सिद्धसरूवस्स चेव उप्पत्ती।
तिहुयण पहुत्त लाहो लाहो य अणंत विरियस्स ॥६३७॥
अट्ठगुणाणं लद्धी लोय सिहरग्गखेत्तसंवासो।
तइय फलं कहिय मिणं जिणवरचंदेहि झाणस्स ॥६३८॥

तनुपंचानां नाशः सिद्धस्वरूपस्य चैवोत्पत्तिः।
त्रिभुवन प्रभुत्वलाभो लाभश्चानन्त वीर्यस्य ॥६३७॥
अष्टगुणानां लब्धिः लोक शिखराग्रक्षेत्र संवासः।
तृतीय फलं कथितमिदं जिनवरचन्द्रैः ध्यानस्य ॥६३८॥

अर्थ—औदारिक आदि पांचों शरीरों का नाश हो जाना, सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाना, तीनों लोकों का प्रभुत्व प्राप्त हो जाना, अनन्त वीर्य की प्राप्ति हो जाना सम्यक्त्व, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मत्व अगुरु लघुत्व अव्याबाध दर्शन इन आठ गुणों की प्राप्ति हो जाना और लोक शिखर के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाना यह सब ध्यान का तीसरा फल भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

आगे दस गुण स्थान के स्वरूप का उपसंहार कहते हैं।

एवं धम्मज्झाणं कहियं अपमत्त गुण समासेण ।
सालंव मणालंव तं मुक्खं इत्थ णायव्वं ॥६३६॥
एवं धर्म्यध्यानं कथितं अप्रमत्तगुणे समासेन ।
सालम्बमनालम्बं तन्मुख्यं अत्र ज्ञातव्यम् ॥६३६॥

अर्थ—इस प्रकार इस सातवें अप्रमत्त गुण स्थान में होने वाले धर्म्य ध्यान का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप से कहा। इस गुण स्थान में अवलम्बन सहित धर्म ध्यान भी होता है तथा इस गुण स्थान में दोनों ही ध्यानों की मुख्यता रहती है। ऐसा समझना चाहिये।

एदम्हि गुणट्ठाणे अत्थि आवासयाण परिहारो ।
झाणं मणम्मि थिरत्त णिरंतरं अत्थितं जम्हा ॥६४०॥
एतस्मिन् गुणस्थाने अस्ति आवश्यकानां परिहारः ।
ध्यान मनसि स्थिरत्वं निरन्तरं अस्ति तद् यस्मात् ॥६४०॥

अर्थ—इस सातवें गुण स्थान में छहों आवश्यकताओं की आवश्यकता नहीं होती और इसीलिये ध्यान में लगा हुआ मन निरन्तर अत्यन्त स्थिर हो जाता है।

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्त णाम संजुत्तं ।
एत्तो अपुव्वणामं वुच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥६४१॥
सप्तकं गुणस्थानं कथितं अप्रमत्त नाम संयुक्तम् ।
इतोऽपूर्वनाम वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या ॥६४१॥

अर्थ—इस प्रकार अप्रमत्त संयत नाम के सातवें गुण स्थान का स्वरूप कहा। अब इसके आगे अनुक्रम से होने वाले अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान का स्वरूप कहते है।

इस प्रकार अप्रमत्त संयत नाम के सातवें
गुण स्थान का स्वरूप कहा।

आगे अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

तं दुब्भेय पउत्त खवयं उवसामिय च णायव्वं।
खवए खवओ भावो उवसमए होइ उवसमओ ॥६४२॥
तद्‌द्विभेद प्रोक्तं क्षपक मुपशमकं च ज्ञातव्यम्।
क्षपके क्षपको भावः उपशमके भवति उपशमकः ॥६४२॥

अर्थ—इस आठवें गुण स्थान के दो भेद हैं एक औपशमिक और दूसरा क्षायिक। क्षायिक अपूर्व करण में क्षायिक भाव होते हैं औपशमिक अपूर्व करण में औपशमिक भाव होते हैं। भावार्थ—सातवें गुण स्थान में ध्यान करने वाले मुनि सातवें गुण स्थान के अन्त में दो प्रकार के मार्गो का अवलम्बन करते हैं। एक क्षपक श्रेणी और दूसरा उपशम श्रेणी। जो क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं वे अपने कर्मों का क्षय करते जाते हैं और बारहवें गुण स्थान के अन्त होने पर केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। उपशम श्रेणी चढ़ने वाले मुनि अपने ध्यान में कर्मो का क्षय नहीं करते किन्तु कर्मों का उपशम करते जाते हैं तथा ग्यारहवें गुण स्थान

में पहुँच कर उन कर्मों के उदय हो आने पर नीचे के गुण स्थानों में आजाते है उपशम श्रेणी वालों के औपशमिक भाव ही होते हैं और क्षपक श्रेणी वालों के क्षायिक भाव ही होते हैं।

आगे इस गुण में होने वाले ध्यान के भेद कहते हैं।

खवएसु उवसमेसु य अपुव्वणामेसु हवइ तिपयारं।
सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्त सवियक्क सवियारं ॥६४३॥
क्षपकेषु उपशमेषु चापूर्व नामसु भवति त्रिप्रकारम्।
शुक्लध्यानं नियमात् पृथक्त्व सवितर्क सविचारम् ॥६४३॥

अर्थ—इस अपूर्व करण नाम के आठवें गुण स्थान में पहला शुक्ल ध्यान ध्यान होता है तथा उपशम श्रेणी वाले के और क्षपक श्रेणी वाले के दोनों के ही पहला शुक्ल ध्यान होता है। * वह

* श्रुते चिंता वितर्कः स्याद्विचारः संक्रमो मतः।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येन् क्रियात्मकम् ॥

अर्थात्—श्रुत ज्ञान का चिंतवन करना वितर्क है संक्रमण होना विचार है और अनेकत्व होना पृथक्त्व है इस प्रकार पहला शुक्ल ध्यान तीन प्रकार का होता है।

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणांतरं व्रजेत।
पर्याया दन्य पर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥
सुशुद्धात्मानुभूत्यात्मा भाव श्रुतावलम्बनात्।
अंतर्जल्पो वितर्कः स्याद यस्मिस्तु सवितर्कजम् ॥

शुक्ल ध्यान नियम से तीन प्रकार होता है। पृथक्त्व, सवितर्क और सवीचार।

आगे पृथक्त्व का लक्षण कहते हैं।

पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण।
तम्हा पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिदेहिं ॥६४४॥
पर्यायं च गुणं वा यस्माद् द्रव्याणां जानाति भेदेन।
तस्मात्पृथक्त्वनाम भणितं ध्यानं मुनीन्द्रैः ॥६४४॥

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते।

अर्थात्—एक द्रव्य को छोड़कर दूसरे द्रव्य का चितवन करना, एक गुण को छोड़कर दूसरे गुण का चिंतवन करना और एक पर्याय को छोड़कर दूसरे पर्याय का चितवन करना सपृथक्त्व कहलाता है। जिस ध्यान में भाव-श्रुतज्ञान के आलम्बन से अत्यन्त शुद्ध आत्मा अथवा शुद्ध अनुभूति स्वरूप आत्मा का स्वरूप आत्मा के ही भीतर प्रतिभासमान होता हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं। वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान श्रुतज्ञान सहित हो उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं जो ध्यान एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को बदल जाय एक शब्द से होने वाला चितवन दूसरे शब्द से होने लगे और एक योग से होने वाला चितवन दूसरे योग से होने लगे उसको संक्रम वा वीचार कहते हैं। पहले शुक्ल ध्यान में ये तीनों बातें होती हैं इसलिये वह शुक्ल ध्यान पृथक्त्व सवितर्क सवीचार कहलाता है।

अर्थ—ध्यान करने वाले मुनि जिस ध्यान में द्रव्य के पर्यायों को और द्रव्यों के गुणों को पृथक् पृथक् जानते हैं उस ध्यान को मुनि राज सर्वज्ञ देव पृथक्त्व नाम का ध्यान कहते हैं।

आगे वितर्क का लक्षण कहते हैं।

भणिय सुयं वियक्क वट्टइ सह तेण तंखु अणवरयं।
तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो ॥६४५॥
भणितं श्रुतं वितर्कं वर्तते सहतेन तत्खलु अनवरतम्।
तस्मात्तस्य वितर्कं सवीचारं पुनर्भणिष्यामः ॥६४५॥

अर्थ—वितर्क शब्द का अर्थ श्रुतज्ञान है जो ध्यान सदा काल श्रुतज्ञान के ही साथ रहे उस ध्यान को सवितर्क ध्यान कहते हैं।

आगे सवीचार का लक्षण कहते हैं।

जोएहिं तीहि वियरइ अक्खर अत्थेसु तेण सवियार।
पढमं सुक्कज्झाणं अतिक्ख परसोवमं भणियं ॥६४६॥
योगैस्त्रिभिः विचरति अक्षरार्थेषु तेन सवीचारम्।
प्रथमं शुक्लध्यानं अतीक्ष्णपरशूपमं भणितम् ॥६४६॥

अर्थ—जिस ध्यान में चिंतवन किये हुए पदार्थ वा उनको करने वाले शब्दों का चितवन मन से वचन से वा क्रम से अदल बदल कर किया जाता हो कभी काय से चिंतवन किया जाता हो तथा काय को छोड़कर मन से वा वचन से चिंतवन किया जाता

हो इस प्रकार जिसमें योग बदलते रहते हों तथा पदार्थ और उनके वाचक शब्द भी बदलते रहते हों उसको सवीचार ध्यान कहते हैं। योग पदार्थ और शब्दों का बदलना बीचार कहलाता हैं। तथा बीचार सहित ध्यान को सवीचार ध्यान कहते हैं यह ध्यान कर्म रूपी वृक्ष को काटने के लिये बिनाधार वाले अतीक्ष्ण कुल्हाडे के समान है जो देर से कर्मों का नाश करता है।

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्ख परसेण रुक्ख विच्छेए।
तह कम्माण य हणणे चिरकालो पढ़म सुक्कम्मि ॥६४७॥
यथा चिरकालो लगति अतीक्ष्ण परशुना वृक्षविच्छेदं।
तथा कर्मणां च हनने चिरकालः प्रथम शुक्ले ॥६४७॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी वृक्ष के काटने के लिये कुल्हाडी तीक्ष्ण न हो पथरी कुल्हाडी हो तो उस वृक्ष के काटने में बहुत देर लगती है उसी प्रकार इस प्रथम शुक्ल ध्यान में कर्मों का नाश करने में बहुत देर लगा करती है।

खइएण उवसमेण य कम्माणं जं अउव्व परिणामो।
तम्हा तं गुणठाण अपुव्वणामं तु तं भणियं ॥६४८॥
क्षपेणोपशमेन च कर्मणां यदपूर्वपरिणामः।
तस्मात्तद्गुणस्थानं अपूर्वनाम तु तद् भणितम् ॥६४८॥

अर्थ—इस गुण स्थान में कर्मों का क्षय होने पर अथवा कर्मों का उपशम होने पर अपूर्व अपूर्व परिणाम होते रहते हैं

जैसे शुद्ध परिणाम पहले कभी नहीं हुए थे वैसे अपूर्व शुद्ध परि-णाम होते रहते हैं इसलिये आचार्यों ने इस गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुण स्थान रक्खा।

इस प्रकार अपूर्व करण गुण स्थान का
स्वरूप कहा।

आगे अनिवृत्ति करण नाम के नौवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

जह तं अपुव्वणामं अणियट्टो तह य होइ णायव्वं।
उवसम खाइय भावं हवेइ फुडु तम्हि ठाणम्मि ॥६४६॥

यथा तदपूर्वनाम अनिवृत्ति तथा च भवति ज्ञातव्यम्।
औपशमिक क्षायिक भावौ भवतः स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥

अर्थ— जिस प्रकार उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होने के कारण आठवें गुण स्थान का नाम अपूर्व करण गुण स्थान है उसी प्रकार अतिवृत्ति करण नाम का नौवां गुण स्थान समझना चाहिये। इस गुण स्थान में उत्तरोत्तर जो परिणामों की शुद्धता होती जाती है वह शुद्धता बढ़ती ही जाती है फिर कम नहीं होती। इसलिये इसको अनिवृत्ति करण कहते हैं जिसमें परिणाम की शुद्धता निवृत्त न हो सके, और बढ़ती ही चली जाय उसको अनिवृत्ति करण कहते हैं। इस गुण स्थान में भी औप-शमिक भाव और क्षायिक भाव दोनों ही होते हैं। उपशम श्रेणी

वाले के उपशम भाव होते हैं और क्षपक श्रेणी वाले के परिणाम क्षायिक होते है ।

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहिं पुव्वुत्त लक्खणं झाणं ।
णत्थि णियत्ती पुणरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा ॥६५०॥
शुक्लं तत्र प्रोक्तं जिनैः पूर्वोक्त लक्षणं ध्यानम् ।
नास्ति निवृत्तिः पुनरपि यस्मात् अनिवृत्ति तत्तस्मात् ॥६५०॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव ने इस नौवें गुण स्थान में भी पहले के अपूर्व करण गुण स्थान में कहा हुआ पहला शुक्ल ध्यान पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्ल ध्यान कहा है । इस गुण स्थान में शुद्ध परिणामों की निवृत्ति नहीं होती इसलिये इस गुण स्थान का नाम अनिवृत्ति करण कहा गया है ।

हंति अणियट्टिणो ते पडिसमय जस्स एक्क परिणामं ।
विमलयर झाण हुअवह सिहाहिं णिद्दड्ढ कम्म वणा ॥६५१॥
भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषां एकपरिणामः ।
विमलतरध्यान हुतवह शिखाभिः निर्दग्ध कर्मवनाः ॥६५१॥

अर्थ— इस गुण स्थान में एक समय में जितने जीव होंगे उन सबके एक समान परिणाम होंगे और वे परिणाम निवृत्ति रूप नहीं होते । इस गुण स्थान में रहने वाले मुनियों का ध्यान अत्यन्त निर्मल होता है तथा इसलिये उस निर्मल ध्यान रूपी अग्नि की शिखर से कर्म रूपी वन अवश्य जल जाते हैं । इस गुण स्थान

के समय असंख्यात होते हैं। उनमें वे ध्यानी मुनि उत्तरोत्तर समयों मे चढ़ते रहते हैं। इस गुण स्थान के पहले समय में जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक से ही होंगे दूसरे समय मे भी जितने जीव होंगे उन सबके परिणाम एक से होंगे। इसी प्रकार तीसरे चौथे पांचवें आदि असंख्यात समयों में समझ लेना चाहिये। इस प्रकार नौवें गुण स्थान का स्वरूप कहा।

अब आगे सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

जह अणियट्टि पउत्तं खाइय उवसमिय सेढि संजुत्तं।
तह सुहमसंपराये दुब्भेयं होइ जिण कहियं ॥६५२॥

यथा अनिवृत्ति प्रोक्तं क्षायिकौपशमिकश्रेणि संयुक्तम्।
तथा सूक्ष्मसांपरायं द्विभेदं भवति जिनकथितम् ॥६५२॥

अर्थ—जिस प्रकार अनिवृत्ति करण में क्षपक श्रेणी और उपशम श्रेणी दो प्रकार की श्रेणियां बतलाई हैं उसी प्रकार इस सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवें गुण स्थान में भी उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी दोनों ही श्रेणियां होती हैं ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

तत्थेव हि दो भावा झाणं पुणु तिविह भेय तं सुक्कं।
लोह कसाए सेसे समलत्तं होइ चित्तस्स ॥६५३॥

तत्रैव हि द्वौ भावौ ध्यानं पुनः त्रिविधभेदं तच्छुक्लम् ।
लोभकषाये शेषे समलत्वं भवति चित्तस्य ॥६५३॥

अर्थ—इस गुण स्थान में भी औपशमिक और क्षायिक दो ही भाव होते है। उपशम श्रेणी वाले के औपशमिक भाव होते हैं और क्षपक श्रेणी वाले क्षायिक भाव होते हैं। इसी प्रकार इस गुण स्थान में पहले कहा हुआ पृथक्त्व सवितर्क सवीचार नाम का तीनों भेद वाला प्रथम शुक्ल ध्यान ही होता है इस गुण स्थान में केवल सूक्ष्म लोभ कषाय होता है इसलिये उनका चित्त कुछ थोड़ासा समल वा मल सहित (अत्यन्त सूक्ष्म अशुद्धता सहित) होता है।

जह कोसुंभय वत्थं होइ सया सुहुमराग संजुत्तं ।
एवं सुहम कसाओ सुहम सराओत्ति णिद्दिट्ठो ॥६५४॥
यथा कौसुम्बं वस्त्रं भवति सदा सूक्ष्म राग संयुक्तम् ।
एवं सूक्ष्म कषायः सूक्ष्म सराग इति निर्दिष्टः ॥६५४॥

अर्थ—जिस प्रकार कसूमल में रंगे हुए वस्त्रों में (कसूमा के फूलों के रंग में रंगे हुए वस्त्र में) लाली अत्यन्त सूक्ष्म होती है इसी प्रकार इस दशवें गुण स्थान में लोभ रूपी कषाय अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये इस गुण स्थान का नाम सूक्ष्म सांपराय कहा गया है।

इस प्रकार सूक्ष्म सांपराय नाम के दशवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

अब आगे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

जो उवसमइ कसाए मोहासंबंधि पयडिवूहं च।
उवसामओत्ति भणिओ खवओ णाम ण सो लहई ॥६५५॥

यः उपशाम्यति कषायान् मोहस्य सम्बन्धि प्रकृति व्यूहं च।
उपशामक इति भणितः क्षपकं नाम न लभते ॥६५५॥

अर्थ—जो मुनि मोह की समस्त प्रकृतियों का उपशम कर देते हैं वे उपशांत कषाय नाम के ग्यारहवें गुण स्थान वर्ती मुनि कहलाते हैं। ग्यारहवें गुण स्थान वर्ती मुनि क्षपक कभी भी नहीं कहला सकते। क्योंकि जो उपशम श्रेणी में चढ़ते हैं और कर्मों का उपशम ही करते करते ग्यारहवें गुण स्थान तक आ जाते हैं। वे कर्मों का क्षय नहीं करते। इसलिये वे क्षपक नहीं कहला सकते। क्षपक वे ही कहलाते हैं जो क्षपक श्रेणी चढकर कर्मों का क्षय करते जाते हैं।

आगे और भी कहते हैं।

सुक्कज्झाणं पढमं भावो पुण तत्थ उवसमो भणिओ।
मोहोदयाउ कोई पडिऊण य जाइ मिच्छत्तं ॥६५६॥

शुक्ल ध्यानं प्रथमं भावः पुनः तत्रोपशमः भणितः।
मोहोदयात्कश्चित् प्रतिपत्य च याति मिथ्यात्वम् ॥६५६॥

अर्थ—इस गुण स्थान में पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार नाम का शुक्ल ध्यान होता है तथा इस गुण स्थान में औपशमिक भाव ही होते हैं । इस गुण स्थान के अन्त में मोहनीय कर्म की जो समस्त प्रकृतिया उपशांत हो गई थीं वे सब प्रकृतियां उदय में आ जाती हैं और फिर वे मुनि इस ग्यारहवें गुण स्थान से गिर जाते हैं । ग्यारहवें गुण स्थान से गिरने वाले कितने ही मुनि मिथ्यात्व प्रकृति का उदय हो जाने से मिथ्यात्व गुण स्थान में भी आ जाते हैं ।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुणवि आरुहइ ।
चरम सरीरो जीवो खवयसेढीं च रय हरणे ॥६५७॥

कश्चित् प्रमाद रहितं स्थान माश्रित्य पुनरप्यारोहयति ।
चरम शरीरो जीवः क्षपक श्रेणिं च रजोहरणे । ६५७॥

अर्थ—ग्यारहवें गुण स्थान से गिर कर कितने ही मुनि सातवें गुण स्थान में अप्रमत्त गुण स्थान में आ जाते हैं और सातवें गुण स्थान में आकर फिर भी श्रेणी चढ़ते हैं । यदि उन मुनियों में कोई मुनि चरम शरीरी हुए तो वे मुनि क्षपक श्रेणी में चढ़ जाते हैं तथा क्षपक श्रेणी में चढ कर वे ज्ञानावरण दर्शना वरण कर्मों का नाश करने के लिये उद्यम करते हैं ।

कालं काउं कोई तत्थय उवसामगे गुणट्ठाणे ।
सुक्कज्झाणं झाइय उववज्जइ सव्वसिद्धीए ॥६५८॥

कालं कृत्वा कश्चित्त्रोपशमके गुणस्थाने ।
शुक्लध्यानं ध्यात्वोत्पद्यते सर्वार्थ सिद्धौ ॥६५८॥

अर्थ—इसी उपशांत मोह नाम के ग्यारहवें गुण स्थान में रहने वाले मुनि की यदि आयु पूर्ण हो जाय तो वे शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ देते हैं और मर कर वे मुनि नियम से सर्वार्थ सिद्धि में उत्पन्न होते हैं ।

हेट्ठहिओ हु चेट्ठइ पंको सर पाणियम्मि जह सरइ ।
तह मोहो तम्मि गुणे हेउं लहि ऊण उल्ललई ॥६५६॥
अधः स्थितोहि तिष्ठति पंकः सरः पानीये यथा शरदि ।
तथा मोहस्तस्मिन् गुणे हेतुं लब्ध्वा उद्गच्छति ॥६५६॥

अर्थ—जिस प्रकार शरद् ऋतु में कीचड़ सब तालाब के पानी नीचे बैठ जाती है तथापि वह वायु आदि का कारण पाकर फिर ऊपर आ जाती है उसी प्रकार आठवें नौवें दशवें ग्यारहवे गुण स्थानों में जिस मोहनीय कर्म का उपशम किया था तथा ग्यारहवें गुण स्थान में आकर समस्त मोहनीय कर्म का उपशम कर दिया था वही मोहनीय कर्म इस ग्यारहवें गुण स्थान के अन्त समय में कारण पाकर उदय में आ जाता है । जब मोहनीय कर्म का उदय आ जाता है तब वे मुनि ग्यारहवें से गिर कर सातवें गुण स्थान में आ जाते हैं यदि उसी समय मिथ्यात्व का उदय हो जाय तो वे मुनि पहले मिथ्यात्व गुण स्थान में आ जाते है ।

जो खवयसेढि रूढो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो ।
मोहक्खयंकुणंतो उत्तो खवओ जिणिंदेहिं ॥६६०॥
यः क्षपक श्रेण्यारूढो न भवति उपशामकः इति स जीवः ।
मोह क्षयं कुर्वन् उक्तः क्षपको जिनेन्द्रैः ॥६६०॥

अर्थ—जो मुनि प्रारम्भ से ही क्षपक श्रेणी में चढ़ते हैं वे मुनि कर्मों का उपशम नहीं करते किन्तु मोहनीय कर्म का क्षय करते जाते हैं इसलिये वे दशवें गुण स्थान से ग्यारहवें गुण स्थान में नहीं आते किन्तु दशवें गुण स्थान से बारहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं। इसलिये वे मुनि फिर नीचे के गुण स्थानों में फिर कभी नहीं आते हैं। फिर तो बारहवें गुण स्थान के अन्त में घातिया कर्मों का नाश कर केवल ज्ञान ही प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार उपशांत कषाय गुण स्थान का
स्वरूप कहा

आगे क्षीण मोह वा क्षीण कषाय नाम के बारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

णिस्सेसमोह खीणे खीण कसायं तु णाम गुणठाणं ।
पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो ॥६६१॥
निःशेषमोहक्षीणे क्षीण कषायं तु नाम गुणस्थानम् ।
प्राप्नोति जीवो नूनं क्षायिक भावेन संयुक्तः ॥६६१॥

अर्थ—जिस समय उन ध्यानी मुनि के समस्त मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय उन मुनि के क्षीण कषाय नाम का बारहवां गुण स्थान होता है। बारहवें गुण स्थान में उन मुनियों के क्षायिक भाव ही होते हैं।

जह सुद्ध फलिय भायणि खित्तं णीरं खु णिम्मलं सुद्धं।
तह णिम्मल परिणामो खीण कसाओ मुणेयव्वो ॥६६२॥
यथाशुद्ध स्फटिक भाजने क्षिप्तं नीरं खलु निर्मलं शुद्धम्।
तथा निर्मल परिणामः क्षीण कषायो मन्तव्यः ॥६६२॥

अर्थ—जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक मणि के वर्तन में रक्खा हुआ शुद्ध निर्मल जल सदा शुद्ध निर्मल ही रहता है उसी प्रकार जिसके कषाय सब नष्ट हो चुके हैं ऐसे क्षीण कषाय गुण स्थान में रहने वाले मुनि के परिणाम सदाकाल निर्मल ही रहते हैं।

आगे बारहवें गुण स्थान में कौनसा ध्यान होता है सो कहते हैं।

सुक्कज्झाणं वीयं भणियं सवियक्क एक्क अवियारं।
माणिक्क सिहाचवलं अत्थि तहिं णत्थि संदेहो ॥६६३॥
शुक्लध्यानं द्वितीयं भणितं सवितर्कैकत्वावीचारम्।
माणिक्यशिखाचपलं अस्ति तत्र नास्ति सन्देहः ॥६६३॥

अर्थ—इस गुण स्थान में एकत्व वितर्क नाम का दूसरा शुक्ल ध्यान होता है वह ध्यान वितर्क अर्थात् श्रुत ज्ञान सहित होता है

किसी एक ही योग से होता है और उसमें वीचार वा संक्रमण नहीं होता वीचार रहित होता है। जिस प्रकार माणिक रत्न की शिखा निश्चल रहती है उसी प्रकार उन मुनि का ध्यान वीचार रहित निश्चल होता इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

होऊण खीण मोहो हणिऊण य मोह विडविवित्थारं।
घाइत्तयं च छाइय द्विचरम समएसु झाणेण ॥६६४॥
भूत्वा क्षीण मोहो हत्वा च मोह विटपि विस्तारम्।
घातित्रिकं च घातयित्वा द्विचरम समयेषु ध्यानेन ॥६६४॥

अर्थ—जिस समय वे ध्यानी मुनि मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का नाश कर बारहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं तब वे मुनि बारहवें गुण स्थान के उपांत्य समय में अपने प्रज्वलित ध्यान के द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म इन तीनों घातिया कर्मों का नाश कर डालते हैं। ※

※ अपृथक्त्व मवीचारं सवितर्कगुणान्वितम्।
सन् ध्यायत्येक योगेन शुक्ल ध्यानं द्वितीयकम्॥

अर्थ—दूसरे एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान में किसी एक ही पदार्थ का ध्यान होता है। वह किसी भी एक योग से धारण किया जाता है, श्रुत ज्ञान सहित होता है तथा विचार रहित होता है।

निजात्म द्रव्यमेकं वा पर्याय मथवा गुणम्।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥

घाइचउक्कविणासे उप्पज्जइ सयल विमल केवलयं ।
लोया लोय पयासं णाणं णिरुपद्दवं णिच्चं ।।६६५।।
घाति चतुष्क विनाशे उत्पद्यते सकलविमलकेवलकम् ।
लोकालोक प्रकाशं ज्ञानं निरुपद्रवं नित्यम् ।।६६५।।

अर्थ—दूसरे शुक्ल ध्यान में वे मुनि अपने एक आत्म द्रव्य का चिंतवन करते हैं अथवा उसकी किसी एक पर्याय का चिंतवन करते, अथवा उसके किसी एक गुण का चिंतवन करते । उनका वह ध्यान निश्चल होता है । इसको एकत्व वितर्क कहते हैं ।

तद्द्रव्य गुण पर्यायपरावर्तविवर्जितम् ।
चितनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ।।

अर्थ—इस दूसरे शुक्ल ध्यान में द्रव्य गुण पर्यायों का परिवर्तन नहीं होता यदि द्रव्य का ध्यान करता है तो द्रव्य का ही करता रहेगा । यदि गुणों का ध्यान करना है तो उस एक गुण का ही चितवन करता रहेगा, यदि पर्याय का ध्यान करता है तो पर्याय का ही ध्यान करता रहेगा, उसे बदलेगा नहीं । क्योंकि उसका वह ध्यान निश्चल होता है इस ऐसे निश्चल ध्यान को ध्यान में अत्यन्त चतुर गणधर देव अविचार ध्यान कहते हैं ।

निज शुद्धात्म निष्ठत्वाद् भावश्रुता वलंबनात् ।
चितनं क्रियते यत्र सवितर्कं तदुच्यते ।।

अर्थ—इस ध्यान में वे मुनि अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहते हैं और भाव श्रुतज्ञान का अवलंबन होता है इस प्रकार जो शुद्ध आत्मा का चिंतवन करना उसको सवितर्क ध्यान कहते हैं ।

अर्थ—जिस समय घातिया कर्मों का नाश हो जाता है उसी समय उन भगवान के पूर्ण निर्मल केवल-ज्ञान प्रगट हो जाता है। वह केवल ज्ञान लोक अलोक सबको एक साथ प्रकाशित करने वाला होता है, उसमें फिर किसी प्रकार का उपद्रव नहीं होता और वह ज्ञान फिर कभी भी नष्ट नहीं होता अनंतानत काल तक बना रहता है।

आवरणाण विणासे दंसण णाणाणि अंतरहियाणि ।
पावइ मोह विणासे अणंत सुक्खं च परमप्पा ॥६६६॥
विग्घ विणासे पावइ अणंतरहियं च वीरियं परमं ।
उच्चइ सजोइकेवलि तइय ज्झाणेण सो तइया ॥६६७॥
आवरणयोः विनाशे दर्शन ज्ञाने अन्त रहिते ।
प्राप्नोति मोह विनाशे अनन्त सुखं च परमात्मा ॥६६६॥
विघ्न विनाशे प्राप्नोति अन्त रहितं च वीर्यं परमम् ।
उच्यते सयोगि केवली तृतीय ध्यानेन स तत्र ॥६६७॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से उन परमात्मा स्वरूप भगवान के अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शना वरण कर्म के नाश होने से अनन्त दर्शन प्रगट हो जाता है, मोहनीय कर्म के अत्यन्त नाश होने से अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है अंतराय कर्म का अत्यन्त नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है। इस प्रकार वे भगवान अनंत चतुष्टय को धारण कर सयोगी केवली

कहलाते हैं। उन सयोगी केवली भगवान के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

इस प्रकार बारहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

सुद्धोखाइयभावो अवियप्पो णिच्चलो जिणिंदस्स ।
अत्थि तया तं झाणं सुहुम किरिया अपडिवाई ॥६६८॥
शुद्धः क्षायिको भावोऽविकल्पो निश्चलो जिनेन्द्रस्य ।
अस्ति तत्र तद्ध्यानं सूक्ष्म क्रियाऽप्रतिपाति ॥६६८॥

अर्थ—तेरहवें गुण स्थान वर्ती केवली भगवान जिनेन्द्र देव के शुद्ध क्षायिक भाव होते हैं तथा वे भाव विकल्प रहित होते हैं और निश्चल होते हैं। इस तेरहवे गुण स्थान में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।

परिफंदो अइसुहमो जीव पसायेण अत्थि तकाले ।
तेणाणू आइदा आसविय पुणो विविहडंति ॥६६९॥
परिस्पन्दोऽति सूक्ष्मो जीवप्रदेशानामस्ति तत्काले ।
तेन अणवः आगत्य आस्रवयित्वा च पुनरपि विघटन्ते ॥

अर्थ—इस तेरहवें गुण स्थान में रहने वाले भगवान जिनेन्द्र देव के जीव के प्रदेशों का परिस्पंदन अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी लिये शुभ कर्मों की वर्गणाएं आती हैं और उसी समय चली

जाती हैं। उनके आत्मा के प्रदेशों में वे कर्म वर्गणाएं ठहरती नहीं है।

आगे इसका कारण बतलाते हैं।

जे णत्थि राय दोसो तेण ण वंधोहु अत्थि केवलिणो।
जह सुक कुड्ड लग्गा वालू झडियंति तह कम्मं ॥६७०॥
यन्न स्तः राग द्वेषौ तेन न वन्धोहि अस्ति केवलिनः।
यथा शुष्क कुड्य लग्नाः वालुका निपतन्ति तथा कर्म ॥६७०॥

अर्थ—उन केवली भगवान के राग द्वेष कर्म का सर्वथा अभाव हो जाता है इसलिये उनके कर्मों का बंध कभी नहीं होता। जिस प्रकार सूखी दीवाल पर लगी हुई बालू उसी समय झड़ जाती है। सूखी दीवाल पर बालू ठहरती नहीं उसी प्रकार बिना राग द्वेष के आत्मा के प्रदेशों में कर्म भी नहीं ठहरते हैं। भावार्थ—स्थिति बंध और अनुभाग वंध दोनों कषायों से होते हैं। केवली भगवान के राग द्वेष का सर्वथा अभाव है इसलिये वहां पर स्थितिबंध और अनुभाग वंध भी कभी नहीं होते हैं। अत्यंत सूक्ष्म काय योग होने से शुभ कर्म आते हैं परन्तु वे उसी समय झड जाते हैं। ठहरते नहीं।

ईहा रहिया किरिया गुणा वि सव्वे वि खाइया तस्स।
सुक्खं सहावजायं कमकरण विवज्जियं णाणं ॥६७१॥
ईहारहिता क्रिया गुणा अपि सर्वेपि क्षायिकास्तस्य।
सुखं स्वभाव जातं क्रम करण विवर्जितं ज्ञानम् ॥६७१॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव की विहार, दिव्य ध्वनि आदि क्रियाएं सब ईहा रहित वा इच्छा रहित होती हैं। इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष के साथ ही उनकी इच्छाएं सब नष्ट हो जाती हैं। इसीलिये उनकी समस्त क्रियाएं इच्छा रहित होती हैं, उनके समस्त गुण क्षायिक ही होते हैं उनका सुख स्वात्म जन्य स्वाभाविक ही होता है और उनका ज्ञान इन्द्रियों से रहित और अनुक्रम से रहित होता है। भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान अनुक्रम से होता है उस प्रकार भगवान का ज्ञान न तो इन्द्रियों से होता है और न अनुक्रम से होता है। वे तो एक ही समय समस्त पदार्थ और उनकी समस्त पर्यायों को जान लेते हैं।

यही बात आगे दिखलाते हैं।

णाणेणं तेण जाणइ कालत्तय वट्टिए तिहुवणत्थे।
भावे समे य विसमे सच्चेयणा चेयणे सव्वे ॥६७२॥

ज्ञानेन तेन जानाति कालत्रय वर्तमान् त्रिभुवनार्थान्।
भावान् समांश्च विषमान् सचेतना चेतनान् सर्वान् ॥६७२॥

अर्थ—वे भगवान उस अपने केवल ज्ञान से तीनों लोकों में रहने वाले सयस्त चेतन अचेतन पदार्थों को तथा सम विषम पदार्थों को और भूत भविष्यत् वर्तमान सम्बन्धी उन समस्त पदार्थों की अनंतानंत पर्यायों को एक समय में ही जान लेते हैं।

एक्कं एक्कम्मि खणे अणंतपज्जायगुण समाइण्णं ।
जाणइ जह तह जाणइ सव्वइं दव्वाइं समयम्मि ॥६७३॥
एकमेकस्मिन् क्षणे अनन्त पर्याय गुण समाकीर्णम् ।
जानाति यथा तथा जानाति सर्वाणि द्रव्याणि समये ॥६७३॥

अर्थ—जिस प्रकार वे भगवान किसी एक पदार्थ को उसकी अनंतानंत पर्याय और उसके समस्त गुणों को एक ही समय में जान लेते हैं उसी प्रकार वे भगवान एक ही समय में समस्त द्रव्य उनकी समस्त पर्यायें और उनके समस्त गुण एक ही समय में जान लेते हैं ।

जाणंतो पिच्छंतो कालत्तयवट्टियाइं दव्वाइं ।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परम जोईहि ॥६७४॥
जानन् पश्यन् कालत्रयवर्तमानानि द्रव्याणि ।
उक्तः स सर्वज्ञः परमात्मा परमयोगिभिः ॥६७४॥

अर्थ—वे केवली भगवान सदा काल भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में हुए वा होने वाले समस्त पदार्थों को वा पदार्थों की पर्यायों को एक साथ देखते हैं और एक साथ जानते हैं । इसलिये परम योगी गणधर देव उनको सर्वज्ञ और परमात्मा कहते हैं ।

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पायंति समव सरणाइं ।
सक्केण कयविहूई पंचकल्लाण पुज्जाय ॥६७५॥

तीर्थकरत्वं प्राप्ता ये ते प्राप्नुवन्ति समवसरणादिकम् ।
शक्रेण कृतविभूतिं पंच कल्याण पूजां च ॥६७५॥

अर्थ—उन केवलियों में से जिनके तीर्थ कर प्रकृति का उदय होता है वे इन्द्रों के द्वारा की हुई समवसरण आदि की महा विभूति को प्राप्त होते हैं तथा गर्भ कल्याणक जन्म कल्याणक दीक्षा कल्याणक ज्ञान कल्याणक और मोक्ष कल्याणक इन पांचों कल्याणकों में होने वाली परमोत्कृष्ट पूजा को प्राप्त होते हैं ।

सम्मुग्घाई किरिया णाणं तह दंसणं च सुक्खं च ।
सव्वेसिं सामण्णं अरहंताणं च इयराणं ॥६७६॥

समुद्धातक्रिया ज्ञानं तथा दर्शनं च सुखं च ।
सर्वेषां समानं अर्हतां चेतराणां च ॥६७६॥

अर्थ—जिनके तीर्थ कर प्रकृति का उदय है ऐसे अरहंत केवली तथा जिनके तीर्थंकर प्रकृति उदय नहीं है ऐसे सामान्य केवली इन दोनों प्रकार के केवली भगवान के समुद्धात क्रिया, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत वीर्य ये सब समान होते हैं इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता ।

जेसिं आयु समाणं णामं गोदं च वेयणीयं च ।
ते अकय समुग्घाया सेसा य कयंति समुग्घायं ॥७७॥

येषां आयुः समानं नाम गोत्रं च वेदनीयं च ।
ते अकृत समुद्धाताः शेषाश्च कुर्वन्ति समुद्घात् ॥६७७॥

अर्थ—जिन केवली भगवान के नाम कर्म गोत्र कर्म और वेदनीय कर्म की स्थिति आयु कर्म के समान होती है वे केवली समुद्धात नहीं करते तथा जिनके नाम गोत्र वेदनीय की स्थिति आयु कर्म से अधिक होती है वे केवली भगवान नाम गोत्र वेद-नीय कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करने के लिये समुद्धात * करते हैं।

अंतर मुहुत्त कालो हवइ जहण्णो वि उत्तमो तेसिं ।
गयवरिसूणा कोडी पुव्वाणं हवइ णियमेण ॥६७८॥
अन्तर्मुहूर्त कालो भवति जघन्योपि उत्तमः तेषाम् ।
गत वर्षोनो कोटिः पूर्वाणां भवति नियमेन ॥६७८॥

अर्थ—इस तेरहवे गुण स्थान की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त

---

* मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीव पिंडस्स ।
णिग्गमणं देहादो हवइ समुग्घाइयं णाम ॥

अर्थ—मूल शरीर को न छोड़ कर जो जीव के प्रदेश बाहर निकलते हैं उसको समुद्धात करते हैं। समुद्धात करते समय केवली भगवान पहले समय में आत्मा के प्रदेशों को दंडाकार लोक पर्यन्त फैलाते हैं, दूसरे समय में कपाट रूप चौड़ाई में लोक पर्यन्त फैलाते हैं, तीसरे समय में प्रतर रूप लम्बाई में लोक पर्यन्त फैलाते हैं चौथे समय में लोक पूरण कर लेते हैं पांचवें समय में संकुचित कर प्रतर रूप छठे समय में कवाट रूप, सातवें

है और उत्कृष्ट स्थिति जितने वर्ष की आयु में केवल ज्ञान हुआ है उतने वर्ष कम एक करोड़ पूर्व है।

इस प्रकार तेरहवें गुण स्थान का स्वरूप कहा

आगे अयोगी केवली नाम के चौदहवें गुण स्थान का स्वरूप कहते हैं।

पच्छा अजोइकेवलि हवइ जिणो अघाइ कम्महणमाणो ।

लहु पंचक्खर कालो हवइ फुडं तम्मि गुण ठाणे ॥६७९॥

पश्चादयोग केवली भवति जिनः अघाति कर्मणां हन्ता ।

लघुपंचाक्षर कालो भवति स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥६७९॥

अर्थ-तेरहवे गुण स्थान के अनन्तर चौदहवां गुण स्थान होता है। चौदहवे गुण स्थान का नाम अयोगी केवली है। घातिया कर्मों का नाश कर भगवान तेरहवें सयोगी केवली गुण स्थान में आते हैं और चौदहवे गुण स्थान में आकर अन्त में अघातिय कर्मों का नाश कर सिद्ध अवस्था प्राप्त करते हैं। इस गुण स्थान का काल लघु पंचाक्षर उच्चारण मात्र है अर्थात् जितनी देर में

समय में दंड रूप और आठवें समय में शरीर मात्र प्रदेश कर लेते हैं। प्रदेशों के फैलाव से नाम गोत्र वेदनीय कर्मों की स्थिति आयु की स्थिति के समान हो जाती है। जिन मुनियों के छह महीने की आयु शेष रहने पर केवल ज्ञान होता है उनको समुद्घात अवश्य करना पड़ता है।

अ इ उ ऋ लृ इन पांचों ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण होता है उतना काल इस चौदहवें गुण स्थान का काल है।

परमोद्दालिय कायं सिढिलं होऊण गलइ तक्काले।
थक्कइ सुद्ध सुहावो घण णिविड पएस परमप्पा ॥६८०॥
परमौदारिक कायः शिथिलो भूत्वा गलति तत्काले।
तिष्ठति शुद्ध स्वभावः घननिविडप्रदेश परमात्मा ॥६८०॥

अर्थ—इस गुण स्थान के अन्त में उनका वह परमौदारिक शरीर शिथिल होकर गल जाता है। तथा उनके घनीभूत निविड आत्मा के प्रदेश शुद्ध स्वभाव रूप होकर रह जाते हैं और इस प्रकार वे भगवान परमात्मा हो जाते हैं।

णट्ठा किरिय पवित्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिदिट्ठं।
खाइय भाओ सुद्धो णिरंजणो वीयराओ य ॥६८१॥
नष्टा क्रिया प्रवृत्तिः शुक्ल ध्यानं च तत्र निर्दिष्टम्।
क्षायिको भावः शुद्धो निरंजनो वीतरागश्च ॥६८१॥

अर्थ—इस गुण स्थान में समस्त क्रियाओं की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है, तथा चौथा व्युपरत क्रिया निवृत्ति नाम का शुक्ल ध्यान होता है। इस गुण स्थान में क्षायिक और शुद्ध भावो होते हैं और इसीलिये वे भगवान निरंजन और परम वीतराग ह जाते हैं।

झाणं सजोइ केवलि जह तह अजोइस्स णत्थि परमत्थे।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थणय विवक्खाए ॥६८२॥
ध्यानं सयोग केवलिनो यथा तथाऽयोगिनः नास्ति परमार्थेन।
उपचारेण प्रोक्तं भूतार्थनय विवक्षया ॥६८२॥

अर्थ—जिस प्रकार सयोग केवली भगवान के ध्यान होता है उस प्रकार का ध्यान भी इस गुण स्थान में नहीं होता। इस गुण स्थान में वास्तव में ध्यान होता ही नहीं है। इस गुण स्थान में भूतार्थ नय की अपेक्षा से (पूर्वकाल नय की अपेक्षा से) उपचार से ध्यान माना जाता है। कर्मों का नाश बिना ध्यान के नहीं होता और चौदहवें गुण स्थान में अघातिया कर्मों का नाश होता है। इसलिये उपचार से ध्यान माना जाता है वास्तविक नहीं।

आगे इसका कारण बतलाते हैं।

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए।
तं णत्थि केवलि दुगे तम्हा झाणं ण संभवइ ॥६८३॥
ध्यानं तथा ध्याता ध्येय विकल्पाश्च भवन्ति मनः सहिते।
तन्नास्ति केवलिद्विके तस्माद् ध्यानं न संभवति ॥६८३॥

अर्थ—ध्यान, ध्यान करने वाला ध्याता और ध्यान करने योग्य ध्येय पदार्थों के विकल्प ये सब मन सहित जीवों के होते हैं। परन्तु वह मन सयोगी केवली तथा अयोगी केवली दोनों गुण

स्थान वालों के नहीं है। इसलिये इन तेरहवें और चौदहवें गुण स्थानों में ध्यान नहीं है।

मणसहियाणं झाणं मणो तिकम्माण कायजोयाओ ।
तत्थ वियप्पो जायइ सुहासुहो कम्म उदाएण ॥६८४॥
मनः सहितानां ध्यानं मनोपि कार्मणकाययोगात् ।
तत्र विकल्पो जायते शुभाशुभः कर्मोदयेन ॥६८४॥

अर्थ—जो जीव मन सहित हैं उन्हीं के ध्यान होता है। तथा मन की प्रवृत्ति कार्मण काय योग से होती है। तथा जहां पर कार्मण काय योग के निमित्त से मन की प्रवृत्ति होती है वहां पर कर्म का उदय होने से शुभ वा अशुभ विकल्प भी उत्पन्न होते हैं।

असुहे असुहं झाणं सुहझाणं होइ सुहोपजोगेण ।
सुद्धे सुद्धं कहियं सासवाणासवं दुविहं ॥६८५॥
अशुभोऽशुभं ध्यानं शुभं ध्यानं भवति शुभोपयोगेन ।
शुद्धे शुद्धं कथितं सास्रवानास्रवं द्विविधम् ॥६८५॥

अर्थ—जहां पर अशुभ विकल्प वा अशुभोपयोग होता है वहां पर अशुभ ध्यान होता है, जहां पर शुभ विकल्प वा शुभोपयोग होता है वहां पर शुभ ध्यान होता है। तथा जहां पर शुभ अशुभ कोई विकल्प नहीं होता केवल शुद्ध उपयोग होता है वहां पर शुद्ध ध्यान होता है। यह शुद्ध ध्यान दो प्रकार का होता है, जिसमें

आस्रव होता रहे ऐसा आस्रव सहित शुक्ल ध्यान और जिसमें आस्रव न हो ऐसा आस्रव रहित शुद्ध ध्यान वा शुक्ल ध्यान।

पढमं वीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणई।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण ॥६८६॥
प्रथमं द्वितीयं तृतीयं सास्रवं भवति एवं जिनो भणति।
विगतास्रवं चतुर्थं ध्यानं कथितं समासेन ॥६८६॥

अर्थ—शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं इनमें से पहला शुक्ल ध्यान, दूसरा शुक्ल और तीसरा शुक्ल ध्यान ये तीनों शुक्ल ध्यान आस्रव सहित होते हैं अर्थात् इनमें कर्मों का आस्रव होता रहता है और चौथा शुक्ल ध्यान निरास्रव है आस्रव रहित, उसमें किसी कर्म का आस्रव नहीं होता ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेव ने कहा है। इस प्रकार सक्षेप से इन ध्यानों का स्वरूप है।

आगे चौदहवें गुण स्थान के अनंतर होने वाली सिद्ध अवस्था का स्वरूप कहते हैं।

णट्ठट्ठपयडिबंधो चरमसरीरेण होइ किंचूणो।
उड्ढं गमणसहावो समएणिक्केण पावेइ ॥६८७॥
नष्टाष्टप्रकृति बन्धश्चरम शरीरेण भवति किंचोनः।
ऊर्ध्वगमन स्वभावः समयेनैकेन प्राप्नोति ॥६८७॥

अर्थ—चौदहवें गुण स्थान के अन्तिम समय में जब आठों प्रकार का प्रकृतिबंध नष्ट हो जाता है अर्थात् समस्त कर्म नष्ट

हो जाते हैं तब उनकी सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। उस सिद्ध अवस्था में आत्मा का आकार चरम शरीर से कुछ कम होता है। अर्थात् उस आत्मा के आकार का घनफल शरीर के आकार के घनफल से कुछ कम होता है। शरीर में जहां जहां आत्मा के प्रदेश नहीं है ऐसे पेट नासिका के छिद्र कान के छिद्र आदि मे आत्मा के प्रदेश वहां भी नहीं इसलिये सिद्धों के आत्मा के आकार के घनफल मे उतने स्थान का घनफल कम हो जाता है। इसलिये चरम शरीर के आकार के घनफल से सिद्धों के आत्मा के आकार का घनफल कुछ कम हो जाता है। इसलिये सिद्धों का आकार चरम शरीर से कुछ कम बतलाया है। आत्मा का स्वभाव स्वभाव से ही ऊर्ध्व गमन करता है इसलिये कर्म नष्ट होने के अनन्तर एक ही समय में सिद्ध स्थान पर जाकर बिराजमान हो जाता हैं।

आगे सिद्ध स्थान कहां है सो बतलाते हैं।

लोयग्ग सिहर खित्ते जावं तणुपवण उवरियं भायं।
गच्छइ ताम अथक्को धम्मत्थित्तेण आयासो ॥६८८॥
लोक शिखर क्षेत्रं यावत्तनु पवनो परिमं भागम्।
गच्छति तावत् अस्ति धर्मास्तित्वेन आकाशः ॥६८८॥

अर्थ—इस लोक शिखर के ऊपर के क्षेत्र में तनुवातवलय के ऊपरी भाग पर जहां तक के आकाश मे धर्मास्ति काय के प्रदेश हैं वहां तक वे सिद्ध परमेष्ठी एक ही समय में पहुंच जाते हैं।

तत्तोपरंण गच्छइ अच्छइ कालं तु अन्तपरिहीणं ।
जम्हा अलोय खित्ते धम्मद्दव्वं णं तं अत्थि ॥६८६॥

ततः परं न गच्छति तिष्ठति कालं तु अन्त परिहीनम् ।
यस्माद् लोक क्षेत्रे धर्मद्रव्यं न तदस्ति ॥६८६॥

अर्थ—अलोकाकाश में द्रव्य नहीं है । धर्म द्रव्य लोकाकाश मे ही है । लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग करने वाले धर्म द्रव्य वा अधर्म द्रव्य ही हैं । जहां तक धर्म द्रव्य है वहां तक जीव वा पुद्गल गमन कर सकते हैं तथा जहाँ तक अधर्म द्रव्य है वहां तक ठहर सकते हैं, बिना धर्म द्रव्य के न गमन कर सकते हैं और न बिना अधर्म द्रव्य के ठहर सकते हैं । इसलिये वे सिद्ध परमेष्ठी जहां तक धर्म द्रव्य है वहीं तक लोक शिखर के ऊपर भाग तक जाकर ठहर जाते हैं और फिर वे भगवान वहां पर अनंतानंत काल तक विराजमान रहते हैं ।

आगे सिद्धों के स्वरूप मे और भी कहते हैं ।

जो जत्थ कम्ममुक्को जल थल आयास पव्वए णयरे ।
सो रिजुगई पवरणो माणुस खेत्ताउ उप्पयइ ॥६६०॥

पणयालसयसहस्सा माणुस खेत्तं तु होइ परिमाणं ।
सिद्धाणं आवासो तित्तिय मित्तम्मि आयासे ॥६६१॥

यो यत्र कर्मयुक्तो जलस्थलाकाश पर्वते नगरे ।
स ऋजुगतिंप्रपन्नः मनुष्य क्षेत्रतः उत्पद्यते ॥६६०॥

पंच चत्वारिंशच्छत सहस्त्रं मानुष क्षेत्रस्यतु भवति परिमाणम्।
सिद्धानाभावासः तावन्मात्रे आकाशे ॥६६१॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी मनुष्य क्षेत्र से ही उत्पन्न होते हैं तथ उनकी गति ऋजु गति होती है जिस क्षेत्र में कर्म नष्ट होते है। उसी क्षेत्र की सीध मे वे सिद्ध स्थान पर जा कर विराजमान हो जाते हैं। जल स्थल आकाश पर्वत नगर जहां से भी कर्म मुक्त होंगे उसी की सीध में सीधे जाकर वे लोक शिखर पर विराजमान हो जायेंगे। मनुष्य क्षेत्र का परिमाण पेंतालीस लाख योजन है। इसलिये पेंतालीस लाख योजन के आकाश में ही सिद्धों का निवास स्थान है जंबूद्वीप की चौड़ाई एक लाख योजन है उसके चारों ओर लवण समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई दो लाख योजन है। लवण समुद्र के चारों ओर धातकी द्वीप है उसकी चौड़ाई एक ओर की चार लाख योजन है। धात की द्वीप के चारों ओर कालोद समुद्र है उसकी एक ओर की चौड़ाई आठ लाख योजन है कालोद समुद्र के चारों ओर पुष्कर द्वीप है उसकी पूरी चौड़ाई सोलह लाख योजन है। परंतु पुष्कर द्वीप के ठीक मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत है तथा मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्य क्षेत्र गिना जाता है। इसलिये आधे पुष्कर द्वीप की चौड़ाई आठ लाख योजन ही समझनी चाहिये। इस प्रकार मानुषोत्तर पर्वत पूर्व भाग से पश्चिम भाग तक वा उत्तर से दक्षिण तक पेंतालीस लाख योजन ही होते हैं।

आगे और भी सिद्धों का स्वरूप कहते है।

सव्वे उवरिं सिरसा विसमाहिट्ठम्मि णिच्चलपएसा ।
अवगाहणाय जम्हा उक्कम्स जहण्णिया दिट्ठा ॥६९१॥
सव्वे उपरि सदृशाः विषमा अधस्तने निश्चल प्रदेशाः ।
अवगाहना च यस्मात् उत्कृष्टा जघन्यादिष्टा ॥६९२॥

अर्थ—उस सिद्ध स्थान में अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराजमान हैं। उन समस्त सिद्धों का ऊपरी भाग समान होता है तथा नीचे का भाग ऊँचा नीचा रहता है। इसका भी कारण यह है कि सिद्धों की अवगाहना उत्कृष्ट सवा पांच सो धनुष है और जघन्य अवगाहना साडे तीन अरत्नि है। मुट्ठी बांधकर एक हाथ की लम्बाई को अरत्नि कहते हैं जिस आसन से जिस रूप से जैसे शरीर से कर्म मुक्त होते हैं उसी आसन से उसी रूप से और उसी शरीर के समान उनके आत्मा का आकार हो जाता है। तथा धर्म द्रव्य तक सबका आत्मा जाता है इसलिये ऊपर का भाग तो सबका समान होता है और नीचे का भाग समान नहीं होता।

एगोवि अणंताणं सिद्धो सिद्धाण देइ अवगासं ।
जम्हा सुहमत्तगुणो अवगाह गुणो पुणो तेसिं ॥६९३॥
एकोपि अनन्तानां सिद्धः सिद्धानां ददात्यवकाशम् ।
यस्मात्सूक्ष्मत्वगुणः अवगाहनगुणः पुनस्तेषाम् ॥६९३॥

अर्थ—एक सिद्ध की आत्मा में अनंतानंत सिद्ध समा जाते हैं। इसका भी कारण यह है कि सिद्धों की आत्मा अमूर्त है,

इसलिये उनमें सूक्ष्मत्व गुण है। इसके सिवाय उनमें अवगाहनत्व गुण भी है। सूक्ष्म और अवगाहनत्व गुण के कारण एक सिद्ध में भी अनंतानंत सिद्ध आ जाते हैं। दीपक का प्रकाश मूर्त है फिर भी एक आले में अनंत दीपकों का प्रकाश समा जाता है फिर सिद्धों का आत्मा तो अमूर्त है इसलिये एक सिद्ध में भी अनंत सिद्धों का आत्मा आ जाता है।

आगे सिद्धों के गुण कहते हैं।

सम्मत्तणाणदंसण वीरिय सुहमं तहेव अवगहणं।
अगुरु लहुअव्वबाहं अट्टगुणा होंति सिद्धाणं ॥६६४॥
सम्यक्त्वज्ञानदर्शन वीर्यसूक्ष्मं तथैवावगाहनम्।
अगुरुलघु अव्याबाधं अष्ट गुणा भवन्ति सिद्धानाम् ॥६६४॥

अर्थ—सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्मत्व अवगाहन, अगुरु लघु अव्याबाध ये आठ गुण सिद्धों में होते हैं। भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि काल से ज्ञानावरणादिक आठों कर्मों से जकड़ा हुआ है। वे आठों कर्म सब नष्ट हो जाते हैं तब सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है। आत्मा में ऊपर लिखे आठ गुण हैं और उनको आठों ही कर्मों ने ढक रक्खा था। इसलिये उन कर्मों के नाश होने पर ऊपर लिखे आठ गुण अपने आप प्रगट हो जाते हैं। मोहनीय कर्म के नाश होने से सम्यक्त गुण प्रगट हो जाता है, ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से अनंत ज्ञान प्रगट हो जाता है, दर्शनावरण कर्म के नाश होने से अनंत दर्शन प्रगट हो जाता है,

अन्तराय कर्म के नाश होने से अनंत वीर्य प्रगट हो जाता है, आयु कर्म के अभाव होने से अवगाहन गुण प्रगट हो जाता है, नाम कर्म के नाश होने से सूक्ष्मत्व गुण प्रगट हो जाता है, गोत्र कर्म के अभाव से अगुरुलघु गुण प्रगट हो जाता है और वेदनीय कर्म के अभाव से अव्याबाध गुण प्रगट हो जाता है इस प्रकार आठों कर्मों के नाश हो जाने से सिद्धों में ऊपर लिखे आठ गुण प्रगट हो जाते हैं।

जाणइ पिच्छइ सयलं लोयालोयं च एकहेलाए।
सुक्खं सहाव जायं अणोवमं अंतपरिहीणं ॥६९५॥
जानाति पश्यति सकलं लोकालोकं च एक हेलया।
सुखं स्वभाव जातं अनुपमं अन्तपरिहीनम् ॥६९५॥

अर्थ— वे सिद्ध भगवान एक ही समय में समस्त लोकाकाश और समस्त अलोकाकाश को जानते हैं तथा सबको एक ही साथ एक ही समय में देखते हैं। उन समस्त सिद्धों का सुख शुद्ध आत्म जन्य स्वाभाविक है, संसार उनके सुख की तथा उनकी कोई उपमा नहीं है और न कभी उन सिद्धों का अन्त होता है। वे सदा काल विराजमान रहते हैं।

रवि मेरु चंदसायरगयणाईयं तु णत्थि जह लोए।
उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुक्खसंघाए ॥६९६॥
रवि मेरुचन्द्र सागर गगनादिकं तु नास्ति यथा लोके।
उपमानं सिद्धानां नास्ति तथा सुख संघाते ॥६९६॥

अर्थ—सूर्य, चन्द्रमा, मेरु पर्वत समुद्र आकाश आदि इस लोक संबंधी समस्त पदार्थ सिद्धों के उपमान नहीं हो सकते, अर्थात् संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसकी उपमा सिद्धों को दे सकें। इसी प्रकार उनके अनन्त सुखका भी कोई उपमान नहीं है।

चलणं वलणं चिंता करणीयं किं पिणत्थि सिद्धाणं।
जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं ॥६६७॥

चलन वलनं चिन्ता करणीयं किमपि नास्ति सिद्धानाम्।
यस्मादतीन्द्रियत्वं कर्माभावेन समुत्पन्नम् ॥६६७॥

अर्थ—उन सिद्ध परमेष्टी को न कहीं गमन करना पड़ता है, न अन्य कोई क्रिया करनी पड़ती है और न किसी प्रकार की चिंता करनी पड़ती है। इसका भी कारण यह है कि उनके समस्त कर्मों का अभाव हो गया है इसीलिये उनके अतीन्द्रियत्व प्राप्त हो गया है। भावार्थ—संसार में जितनी क्रियायें हैं वे सब इन्द्रियों के द्वारा होती हैं। सिद्ध परमेष्ठी के शरीर और इन्द्रियां सभी नष्ट हो गई हैं। इसलिये उनको कोई भी क्रिया कभी भी नहींकरनी पड़ती है।

आगे आचार्य अन्तिम मंगल करते हैं।

णट्ठट्ठ कम्मबंधण जाइ जरामरण विप्पमुक्काणं।
अट्ठवरिट्ठगुणाणं णमोणमो सव्व सिद्धाणं ॥६६८॥

नष्टाष्टकर्मबन्धनजातिजरा मरण विप्रमुक्तेभ्यः ।
अष्टवरिष्ठ गुणेभ्यो नमो नमः सर्वसिद्धेभ्यः ॥६९८॥

अर्थ—जिनके आठों कर्मों का बंधन नष्ट हो गया है, जन्म मरण बुढापा आदि सांसारिक समस्त दोष जिनके नष्ट हो गये हैं और ऊपर लिखे सर्वश्रेष्ठ आठ गुण प्रगट हो गये हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मैं श्री देवसेन आचार्य बार बार नमस्कार करता हूँ।

जिणवर सासण मतुलं जयउ चिरं सूरि सपर उवयारी ।
पाढय साहूवि तहा जयंतु भव्वा वि भुवणयले ॥६९९॥
जिनवर शासन मतुलं जयतु चिरं सूरिः स्वपरोपकारी ।
पाठकः साधु रपि तथा जयन्तु भव्या अपि भुवन तले ॥६९९॥

अर्थ—संसार में जिसकी कोई उपमा नहीं ऐसा यह भगवान जिनेन्द्र देव का कहा हुआ शासन सदाकाल जयशील रहें। इसी प्रकार अपने आत्मा कल्याण करने वाले और अन्य अनेक भव्य जीवों का कल्याण करने वाले आचार्य परमेष्ठी सदा काल जयशील रहें। इसी प्रकार उपाध्याय परमेष्ठी तथा साधु परमेष्ठी सदा काल जयवंत रहें तथा तीनों लोकों में रहने वाले भव्य जीव भी सदा जयवंत रहें।

जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णोसिं भाव संगहं सुत्तं ।
सहणइ णियय कम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥७००॥

यः पठति श्रृणोति कथयति अन्येषां भाव संग्रह सूत्रम् ।
सन्ति निजकर्म क्रमेण सिद्धालयं याति ॥७००॥

अर्थ—इस प्रकार कहे हुए इस भाव संग्रह के सूत्रों को जो पढ़ता है सुनता है अथवा अन्य भव्यजीवों को सुनाता है वह पुरुष अनुक्रम से अपने कर्मों को नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

सिरिविमलसेण गणहर सिस्सो णामेण देवसेणोत्ति ।
अवुह जण वोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥७०१॥
श्री विमलेसनगणधर शिष्यः नाम्ना देवसेन इति ।
अबुधजन बोधनार्थं तेनेदं विरचितं सूत्रम् ॥७०१॥

अर्थ—श्री विमलसेन गणधर वा आचार्य के शिष्य श्री देवसेन आचार्य ने अज्ञानी लोगों को समझाने के लिये इस भावसंग्रह सूत्र की रचना की है।

इस प्रकार अयोग केवली गुणस्थान का स्वरूप कहा।

इस प्रकार आचार्य श्री देवसेन विरचित
भाव संग्रह ग्रंथ की धर्मरत्न, सरस्वती
दिवाकर, पंडित लालाराम शास्त्री
द्वारा निर्मित यह
भाषा टीका
समाप्त
हुई।

उपसंहार

इस भावसंग्रह ग्रन्थ में चौदह गुणस्थानों का स्वरूप है। उस स्वरूप में सब गुणस्थानों की क्रियाएं भाव आदि बतलाये हैं, तथापि थोड़ासा स्वरूप और लिखा जाता है जिससे उनका पूर्ण ज्ञान हो जाय।

गुणों के स्थानों को गुणस्थान कहते हैं, मोह और योग के निमित्त से सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप आत्मा के गुणों की तारतम्यरूप अवस्था विशेष को गुणस्थान कहते हैं।

वे सब गुणस्थान चौदह हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टी, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्मसांपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोग केवली।

इनमें से पहला गुणस्थान दर्शन मोहनीय के उदय से होता है, इसमें आत्मा के परिणाम मिथ्यात्व रूप होते हैं, चौथा गुणस्थान दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम से होता है। इस गुणस्थान में आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण का प्रादुर्भाव हो जाता है। तीसरा गुणस्थान सम्यग्मिथ्यात्वरूप दर्शनमोहमोहनीय कर्म के उदय से होता है। इस गुणस्थान में

आत्मा के परिणाम सम्यग्मिथ्यात्व अर्थात् उभय रूप होते हैं। पहले गुणस्थान में औदयिकभाव, चौथे गुणस्थान में औपशमिक क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक भाव और तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव होते हैं। परन्तु दूसरा गुणस्थान दर्शनमोहनीय कर्म का उदय उपशम क्षय और क्षयोपशम इन चार अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था की अपेक्षा नहीं रखता है। इसलिये यहां पर दर्शनमोह कर्म की अपेक्षा से पारिणामिक भाव हैं किन्तु अनंतानुबन्धी रूप चारित्रमोहनीय कर्म की अपेक्षा से औदयिक भाव भी कहे जा सकते हैं। इस गुणस्थान में अनंतानुबन्धी के उदय से सम्यक्त्व घात हो गया है इसलिये वहां सम्यक्त्व नहीं है और मिथ्यात्व का भी उदय नहीं आया है इसलिये मिथ्यात्व परिणाम भी नहीं है। अतएव यह गुणस्थान मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अपेक्षा से अनुदय रूप है। पांचवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक छह गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से होते हैं इसलिये इन गुणस्थानों में क्षायोपशमिक भाव होते हैं। इन गुणस्थानों में सम्यक्चारित्र गुण की क्रम से वृद्धि होती जाती है। ग्यारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से होता है इसलिये ग्यारहवे गुणस्थान में औपशमिक भाव होते हैं। यद्यपि यहां पर चारित्र मोहनीय कर्मका पूर्णतया उपशम हो गया है तथापि योग का सद्भाव होने से पूर्ण चारित्र नहीं है। क्योंकि सम्यक् चारित्र के लक्षण में योग और कषाय के अभाव से सम्यक् चारित्र होता है ऐसा लिखा है। बारहवां गुणस्थान चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से होता है इसलिये

यहां क्षायिक भाव होते हैं। इस गुणस्थान मे भी ग्यारहवें गुणस्थान की तरह सम्यक् चारित्र की पूर्णता नहीं है। सम्यग्ज्ञान गुण यद्यपि चौथा गुणस्थान में ही प्रगट हो चुका था। भावार्थ— यद्यपि आत्मा का ज्ञान गुण अनादिकाल से प्रवाह रूप चला आ रहा है तथापि दर्शन मोहनीयकर्म उदय होने से वह ज्ञान मिथ्यारूप था परन्तु चौथे गुणस्थान में जब दर्शनमोहनीय कर्म के उदय का अभाव हो गया तब वही आत्मा का ज्ञान गुण सम्यग्ज्ञान कहलाने लगा। पंचमादि गुणस्थानों में तपश्चरणादिक के निमित्त से अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान भी किसी किसी जीव के प्रगट हो जाते हैं तथापि केवल ज्ञान के हुए बिना सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नहीं हो सकती। इसलिये बारहवें गुणस्थान तक यद्यपि सम्यग्दर्शन की पूर्णता हो गई है (क्योंकि क्षायिक सम्यक्त्व के बिना क्षपक श्रेणी नहीं चढ़ता और क्षपक श्रेणी के बिना बारहवां गुणस्थान नहीं होता) तथापि सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र अभीतक अपूर्ण हैं। इसलिये अभी तक मोक्ष नहीं होता। तेरहवां गुणस्थान योगों के सद्भाव की अपेक्षा से होता है। इसलिये इसका नाम सयोग और केवलज्ञान के निमित्त से सयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है परन्तु चारित्र गुण की पूर्णता न होने से मोक्ष नहीं होता। चौदहवां गुणस्थान योगों के अभाव की अपेक्षा से हैं इसलिये इसका नाम अयोग केवली है। इस गुणस्थान में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों गुणों की पूर्णता हो जाती है अतएव मोक्ष भी अब दूर नहीं रहा, अर्थात्

अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण करने में जितना काल लगता है उतने ही काल में मोक्ष हो जाता है।

आगे संक्षेप से सब गुणस्थानों का स्वरूप कहते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान—मिथ्यात्व प्रकृति के उदयसे अतत्त्वार्थ श्रद्धा न रूप आत्मा के परिणाम विशेष को मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इस मिथ्यात्व गुणस्थान में रहने वाला जीव विपरीत श्रद्धान करता है और सच्चे धर्म की ओर इसकी रुचि नहीं होती। जैसे पित्तज्वर वाले रोगी को दुग्ध आदि मीठे रस कड़वे लगते हैं उसी प्रकार इसको भी समीचीन धर्म अच्छा नहीं लगता।

इस गुणस्थान में कर्मों की एकसौ अड़तीस प्रकृतियों में से स्पर्शादिक, बीस प्रकृतियों का अभेद विवक्षा से स्पर्शादिक चार में और बंधन पांच संघात पांच का अभेद विवक्षा से पांच शरीरों में अन्तर्भाव होता है इस कारण भेद विवक्षा से सब एकसौ अडतालीस और अभेद विवक्षा से एकसौ बाईस प्रकृति हैं। सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता सम्यक्त्व परिणामों से मिथ्यात्व प्रकृति के तीन खंड करने से होती है। इस कारण अनादि मिथ्यादृष्टी जीव की बन्ध योग्य प्रकृति एकसौ बीस और सत्व योग्य प्रकृति एकसौ छयालीस हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों का बंध सम्यग्दृष्टी के ही

होता है । इसलिये इस गुणस्थान में एकसौ बीस में से तीन घटाने पर एकसौ सत्रह प्रकृतियों का बन्ध होता है ।

सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व आहारक शरीर आहारक आंगोपांग और तीर्थंकर प्रकृति इन पांच प्रकृतियों का इस गुणस्थान में उदय नहीं होता । इसलिये एकसौ बाईस में से पांच घटाने पर एकसौ सत्रह प्रकृतियों का उदय होता है । तथा एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

सासादन गुणस्थान—प्रथमोपशम सम्यक्त्व के काल में जब अधिक से अधिक छह आवली और कम से कम एक समय शेष रहता है तब अनंतानुबंधी कषाय की किसी एक प्रकृति का उदय होने से सम्यक्त्व * का नाश हो जाता है तथा मिथ्यात्वादि होता नहीं इसलिये उस समय वह जीव सासादन गुणस्थान वाला कहलाता है ।

---

* सम्यक्त्व के तीन भेद हैं । दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति और अनन्तानुबंधी की चार प्रकृति इस प्रकार इन सात प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यक्त्व होता है । इन सातों प्रकृतियों क्षय होने से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायिक है तथा छह प्रकृतियों के अनुदय और सम्यक् प्रकृति नाम की प्रकृति के उदय होने से जो सम्यक्त्व होता है उसको क्षयो पशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । अनादि मिथ्या दृष्टि

मिथ्यात्व गुणस्थान में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का वध होता था उनमें से उसी मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, हुंडक संस्थान, नपुंसक वेद, नरकगति नरकगत्यनुपूर्वी, नरकायु असंप्राप्तापटपाटक सहनन, एकेन्द्रिय जाति विकलत्रय तीन स्थावर आताप सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये एक सौ सत्रह में से सोलह घटाने पर एक सौ एक प्रकृतियों का बंध इस गुणस्थान में होता है। पहले गुणस्थान में एक सौ सत्रह प्रकृतियों का उदय होता है उसमे से मिथ्यात्व, आतप, सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है अतएव पांच घटाने पर एक सौ बारह प्रकृतियां रहीं। परन्तु नरक गत्यानुपूर्वी का उदय इस गुणस्थान में नहीं होता इसलिये इस गुणस्थान में एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय होता है तथा सत्व एक सौ ४५ प्रकृतियों का होता है। यहां पर तीर्थकर

के पांच और सादि मिथ्या दृष्टी के सात प्रकृतियों के उपशम होने से जो सम्यक्त्व होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

सातवें गुणस्थान मे क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव श्रेणी चढ़ने के सन्मुख अवस्था मे अनंतानुबंधी चतुष्टय का विसंयोजन (अप्रत्याख्यानादि रूप) करके दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों का उपशम करके जो सम्यक्त्व को प्राप्त होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रकृति आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग इन तीन प्रकृतियों की सत्ता नहीं रहती।

मिश्र गुणस्थान—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जीव के न तो केवल सम्यक्त्व परिणाम होते हैं और न केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम होते हैं किन्तु मिले हुए दही गुड के स्वाद के समान एक भिन्न जाति के मिश्र परिणाम होते हैं इसको मिश्र गुण स्थान कहते हैं।

दूसरे गुण स्थान में बन्ध प्रकृति एक सौ एक थी। उनमें से अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, दुर्भग दुःस्वर अनादेय, यग्रोध संस्थान, स्वाति-संस्थान, कुब्जक संस्थान, वामन संस्थान, वज्रनाराच संहनन नाराच संहनन अर्द्धनाराच संहनन, कीलित संहनन, अप्रशस्त विहायो गति, स्त्रीवेद, नीच गोत्र, तिर्यग्गति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी तिर्यगायु, उद्योत, इन पच्चीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने से शेष छिहत्तरि, प्रकृतियां रहती हैं। इस गुण स्थान में किसी भी आयु कर्म का बंध नहीं होता इसलिये इन छिहतरि में से मनुष्यायु और देवायु इन दो के घटाने पर चौहत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है। नरकायु की पहले गुण स्थान में और तिर्यगायु की दूसरे गुण स्थान में व्युच्छित्ति हो चुकी है।

इस गुण स्थान में एक सौ प्रकृतियों का उदय होता है। क्योंकि दूसरे गुण स्थान में एक सौ ग्यारह प्रकृतियों का उदय था उनमें से अनंतानुबंधी चार, एकेन्द्रियादिक चार, स्थावर एक

इस प्रकार नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होने पर एकसौ दो प्रकृतियां रह जाती हैं। इनमें से नरकगत्यानु पूर्वी दूसरे गुण स्थान में घट चुकी है और देवगत्यानुपूर्वी मनुष्यगत्यनु पूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी इन प्रकृतियों का उदय इस गुण स्थान में नहीं होता क्योंकि इस गुण स्थान में मरण नहीं होता। इस प्रकार शेष निन्यानवे प्रकृति रह जाती हैं। तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय इस गुण स्थान में रहता है। इस प्रकार इस गुण स्थान में सौ प्रकृतियों का उदय रहता है। इस गुण स्थान में तीर्थंकर प्रकृति के बिना एक सौ सेंतालीस प्रकृतियों का सत्व रहता है।

अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थान—दर्शनमोहनीय की तीन और अनन्तानुबंधी की चार इन सात प्रकृतियों के उपशम तथा क्षय अथवा क्षयोपशम होने से और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से व्रत रहित सम्यग्दृष्टी पुरुष चौथे गुणस्थान वर्ती कहलाता है।

तीसरे गुणस्थान में चौहत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है उनमें मनुष्यायु देवायु और तीर्थंकर प्रकृति इन प्रकृतियों सहित सतत्तरि प्रकृतियों का बंध होता है।

तीसरे गुणस्थान में सौ प्रकृतियों का उदय होता है, उनमें से सम्यग्मिथ्यात्व की व्युच्छित्ति हो जाती है तथा चार आनुपूर्वी

❀ जिस गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों के बंध उदय अथवा सत्व की व्युच्छित्ति कही हो उस गुणस्थान तक ही उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्त्व माना जाता है आगे के किसी भी

और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व इन पांच प्रकृतियों के मिलाने से एक सौ चार प्रकृतियों का उदय होता है।

इस गुण स्थान में एक सौ अड़तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एक सौ इकतालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

पांचवां देश विरत गुण स्थान —प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उदय से यद्यपि संयम भाव नहीं होता तथापि अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ के उपशम से श्रावक व्रत रूप देश चारित्र होता है। इसी को देश विरत नामक पांचवां गुण स्थान कहते हैं। पांचवें आदि ऊपर के समस्त गुण स्थानों में सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का अविनाभावी सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। इनके बिना पांचवे छट्ठे आदि गुण स्थान नहीं होते।

चौथे गुण स्थान में जो सततरि प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी मनुष्यायु औदारिक शरीर औदारिक अंगोपांग वज्रवृषभनाराच संहनन इन दश प्रकृतियों की व्युच्छित्ति इस गुण स्थान में हो जाती है। इसलिये सततर में से दश घटाने पर शेष सड़सठ प्रकृतियों का बंध इस गुण स्थान में होता है।

गुण स्थान में उन प्रकृतियों का बंध उदय अथवा सत्व नहीं होता है इसीको व्युच्छित्ति कहते हैं।

चौथे गुण स्थान में एक सौ चार प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, देवगति देवगत्यानु पूर्वी, देवायु, नरकायु, नरक गति नरक गत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर वैक्रियिक अंगोपांग, मनुष्य गत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशस्कीर्ति इन सत्रह प्रकृतियों की व्युछत्ति इस गुण स्थान में हो जाती है इसलिये एक सौ चार में से सत्रह घटाने पर सत्तासी प्रकृतियों का उदय होता है।

चौथे गुण स्थान में एक सौ अडतालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है उनमें से व्युच्छिन्न प्रकृति एक नरकायु के बिना एक सौ सेंतालीस का सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी को अपेक्षा से एक सौ चालीस का ही सत्त्व रहता है।

छठा प्रमत्तविरत गुण स्थान—संज्वलन और नोकषाय के तीव्र उदय से संयम भाव तथा मल जनक प्रमाद ये दोनों ही युगपत् एक साथ होते हैं इसलिये इस गुणस्थानवर्ती मुनि को प्रमत्तविरत अथवा चित्रलाचरणी कहते हैं।

यद्यपि संज्वलन और नो कषाय का उदय चारित्र गुण का विरोधी है तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम होने से प्रादुर्भूत सकल संयम के घात करने में समर्थ नहीं है। इस कारण उपचार से संयम का उत्पादक कहा है।

पांचवें गुण स्थान में सडसठ प्रकृतियों का बंध होता है उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन चार

प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये इन चार के घटाने पर शेष त्रेसठ प्रकृतियों का बंध होता है।

पांचवें गुण स्थान में सतासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ तिर्यग्गति तिर्यगायु उद्योत और नीच गोत्र इन आठ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये इन आठ प्रकृतियों के घटाने पर शेष उनासी प्रकृतियां रह जाती हैं। उनमे आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग मिलाने से इक्यासी प्रकृतियों का उदय रहता है।

पांचवें गुण स्थान में एक सौ सेंतालीस प्रकृतियों की सत्ता कही है उनमे से तिर्यगायु की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये शेष एक सौ छयालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है। किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टी की अपेक्षा से एक सौ उन्तालीस का सत्त्व रहता है।

सातवां अप्रमत्त विरत गुण स्थान---संज्वलन और नो कषाय के मद उदय होने से प्रमाद रहित संयम भाव होते है। इस कारण इस गुण स्थानवर्ती मुनि को अप्रमत्त विरत कहते हैं। इस गुण स्थान के स्वस्थान अप्रमत्त विरत और सातिशय अप्रमत्त विरत ऐसे दो भेद हैं। जो मुनि हजारों वार छठे से सातवें में और सातवें से छठे गुण स्थान में आवें जायं उसको स्वस्थान अप्रमत्त विरत कहते हैं तथा जो श्रेणी चढ़ने के सम्मुख होते हैं उनको सातिशय अप्रमत्त विरत कहते हैं।

इसमें इतना और समझ लेना चाहिये कि क्षायिक सम्यग्दृष्टी और द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी ही श्रेणी चढते हैं। प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को छोड़कर क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टी होकर प्रथम ही अनंतानुवधी क्रोध मान माया लोभ का विसंयोजन करके दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके जो द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी हो जाय अथवा तीनों प्रकृतियों का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टी हो जाय तब श्रेणी चढ सकता है।

जहां चारित्र मोहनीय की शेष रही इक्कीस प्रकृतियों का क्रम से उपशम तथा क्षय किया जाय उसको श्रेणी कहते हैं। उस श्रेणी के दो भेद है। उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। जिसमें चारित्र मोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम किया जाय उसको उपशम श्रेणी कहते है और जिसमें उन इकईस प्रकृतियों का क्षय किया जाय उसको क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टी दोनों ही श्रेणी चढ़ सकता है। द्वितीयपशम सम्यग्दृष्टी जीव उपशम श्रेणी ही चढता है। क्षपक श्रेणी नहीं चढता। उपशम श्रेणी के आठवां नौवां दशवां और ग्यारहवां गुण स्थान हैं तथा क्षपक श्रेणी के आठवां नौवां दशवां और बारहवां गुण स्थान हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म की इकईस प्रकृतियों को उपशम करने के लिये अथवा क्षय करने के लिये अध: करण अपूर्व करण और अनिवृत्ति करण ये तीन प्रकार के परिणाम निमित्त कारण होते हैं।

इनमे से जिस करण में परिणामों के समूह ऊपर के समय वर्ती तथा नीचे के समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हों और विसदृश भी हों। उनको अधः करण कहते हैं। यह अधः करण सातवें गुण स्थान मे ही होता है। इसका उदाहरण इस प्रकार है।

किसी राजा के यहां ३०७२ तीन हजार बहत्तर आदमी काम करते हैं वे सब सोलह महकमों मे भी बटे हुए हैं। पहलेमहकमें मे एक सो १६२ आदमी हैं दूसरे मे एक सो छयासठ, तीसरे में एक सौ सत्तर, चौथे मे एक सो चौहत्तर, पांचवे में एक सौ अठत्तर, छठे मे एक सौ ब्यासी सातवे मे एक सो छियासी, आठवें में एक सौ नव्वे, नौवें मे एक सौ चौरानवे, दशवे में एक सो अठानवें ग्यारहवें में दो सो दो, बारहवं मे दो सौ छह, तेरहवें मे दो सौ दस, चौदहवें में दो सौ चौदह, पन्द्रहवें में दो सौ अठारह और सोलहवें में दो सो बाईस आदमी काम करते हैं।

पहले महकमेके एकसौ बासठ आदमियों में से पहले आदमी का वेतन एक रुपया दूसरे का दो रुपया तीसरे का तीन रुपया इस प्रकार एक एक बढते हुए एकसौ बासठवें आदमी का वेतन एकसौ बासठ रुपया है। दूसरे महकमेमे एक सौ छयासठ आदमी काम करते हैं उनमें से पहले आदमी का वेतन चालीस रुपया है। दूसरे तीसरे आदि आदमियों का वेतन क्रमसे एक एक रुपया बढता हुआ एकसौ छयासठवें आदमी का वेतन दो सौ पांच रुपया है। तीसरे महकमेमे एकसौ सत्तरि आदमी काम करते हैं इनमें से पहले आदमी का वेतन अस्सी रुपया है फिर

आगे एक एक रुपया बढता गया है इसलिये एकसौ सत्तरिवें आदमी का वेतन दो सो उनचास रुपया है। चौथे महकमे में एकसौ चौहत्तर आदमी काम करते हैं। पहले आदमी का वेतन एकसौ इकईस रुपया है तथा आगे आगे के आदमियों का वेतन एक एक रुपया बढता गया है इसलिये एकसौ चौहत्तरिवे आदमी का वेतन दोसौ चौरानवे रुपया है। इसी क्रम से सोलहवें महकमे में दो सौ वाइसवें आदमी का वेतन नौसौ वारह रुपया है। इस उदाहरण में पहले महकमे के उन्तालीस आदमियों का वेतन ऊपर के महकमे के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता। तथा अन्त के सत्तावन आदमियों का वेतन नीचे के महकमे के किसी भी आदमी के वेतन से नहीं मिलता। शेष वेतन ऊपर नीचे के महकमों के वेतनों के साथ यथा संभव समान भी है। इसी प्रकार यथार्थ में भी ऊपर के समय सबंधी परिणामों और नीचे के समय सबंधी परिणामों सदृशता यथा सभव जाननी। विशेष गोमट्टसार से जानना चाविये।

छठे गुणस्थान में तिरेसठ प्रकृतियों का वंध कहा था उनमें से अस्थिर अशुभ असाता, अयशस्कीर्ति अरति शोक इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है उनके घटाने से सत्तावन प्रकृति रहीं। उनमें आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग के मिलाने से उनसठ प्रकृतियों का वंध होता है।

छठे गुणस्थान में इक्यासी प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से आहारक शरीर आहारक आंगोपांग, निद्रा निद्रा, प्रचला

प्रचला, और स्त्यानगृद्धि इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये इन पांच के घटाने से शेष छिहत्तरि प्रकृतियों का उदय इस सातवें गुणस्थान में रहता है।

छठे गुणस्थान के समान इस गुणस्थान में भी एकसौ छयालीस की सत्ता रहती है किंतु क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसौ उन्तालीस प्रकृतियों का ही सत्त्व रहता है।

आठवां अपूर्व करणगुणस्थान—जिस करण में उत्तरोत्तर अपूर्व अपूर्व परिणाम होते जांय अर्थात् भिन्न समय वर्ती जीवों के परिणाम सदा विसदृश ही हों और एक समय वर्ती जीवों के परिणाम सदृश भी हों और विसदृश भी हों उसको अपूर्व करण कहते हैं और यही आठवा गुणस्थान है।

सातवें गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से एक देवायु प्रकृति की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष अट्ठावन प्रकृतियों का वंध इस आठवें गुणस्थान में होता है।

सातवें गुणस्थान में जो छिहत्तरि प्रकृतियों का उदय कहा है उनमें से सम्यक् प्रकृति अर्द्ध नाराच कीलक असंप्राप्तासृपाटक इन चार प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इसलिये चारके घटाने पर शेष बहत्तर प्रकृतियों का उदय इस गुणस्थान में होता है।

सातवें गुणस्थान में एकसौ छियालीस प्रकृतियों का सत्त्व कहा है उनमें से अनंतानुवंधी क्रोध मान माया लोभ इन चार

प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इस लिये द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के तो एकसौ च्यालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है किंतु क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृति रहित एकसौ उन्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व है और क्षपक श्रेणी वाले के अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ दर्शन मोहनीय की तीन और देवायु इन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है । इसलिये एकसौ छियालीस में से आठ घटाने पर शेष एकसौ अडतीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

अनिवृत्तिकरण—जिस करण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश ही हों उसको अनुवृत्ति करण कहते हैं । यही नौवां गुणस्थान है ।

इन तीनों ही करणों के परिणाम प्रतिसमय अनंतगुणी विशुद्धता लिये होते हैं ।

आठवें गुणस्थान में अट्ठावन प्रकृतियों का बंध कहा है उनमें से निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्त विहायोगति, पंचेन्द्रिय जाति, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, आहारक शरीर, आहारक आंगोपांग, समचतुरस्त्र सस्थान, वैक्रियिक शरीर देव-गति, देवगत्यानुपूर्वी, रूप, रस, गंध, स्पर्श, अगुरु लघुत्व, उपघात परघात, उच्छ्वास, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, सुस्वर, आदेय, हास्य, रति, जुगुप्सा, भय इन छत्तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है । इन छत्तीस को घटाने पर शेष वाईस प्रकृतियों का वंध इस नौवें गुणस्थान में होता है ।

आठवें गुणस्थान में जो बहत्तर प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष छयासठ प्रकृतियों का उदय इस नौवे गुणस्थान में रहता है।

इस गुणस्थान में आठवें गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसौ ब्यालीस प्रकृतियों का, क्षायिक सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणी वाले के एकसौ उन्तालीस और क्षपक श्रेणी वाले के एकसौ अडतीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

दशवां सूक्ष्म सांपरायगुणस्थान--अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त लोभ कषाय के उदय को अनुभव करते हुए जीव के सूक्ष्म सांपराय नामका दशवां गुणस्थान होता है।

नौवें गुणस्थान मे बाईस प्रकृतियों का बंध होता है। उनमें से पुरुष वेद संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन पांच प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष सत्रह प्रकृतियों का बंध होता है।

नौवें गुणस्थान में जो छयासठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से स्त्रीवेद पुरुषवेद नपुंसकवेद, संज्वलन क्रोध मान माया इन छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। इसलिये इन छह प्रकृतियों के घटाने पर शेष साठ प्रकृतियों का उदय दशवें गुणस्थान में रहता है।

उपशम श्रेणी में नौवें के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के

एकसौ ब्यालीस, और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसौ उन्तालीस और क्षपक श्रेणी वाले के नौवें गुणस्थान में जो एकसौ अडतीस प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, विकलत्रय की तीन, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, उद्योत आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म, स्थावर, अप्रत्याख्याना वरण की चार, प्रत्याख्याना वरण की चार, नो कषाय की नौ, संज्वलन क्रोध मान माया, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी इन छत्तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है । इसलिये इनको घटाने पर शे.ष एकसो दो प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

ग्यारहवां उपशांत मोह गुणस्थान--चारित्र मोहनीय की इक्कईस प्रकृतियों के उपशम होने से यथाख्यात चारित्र को धारण करने वाले मुनि के ग्यारहवां उपशांत मोह नामक गुणस्थान होता है । इस गुणस्थान का काल समाप्त होनेपर मोहनीय के उदय से जीव नीचले गुणस्थानों में आ जाता है ।

दशवें गुणस्थान में सत्रह प्रकृतियों का वंध होता था । उनमें से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशः कीर्ति उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियों की व्युछिच्त्ति हो जाती है । शेष एक सातावेदनीय का वंध होता है ।

दशवें गुणस्थान में साठ प्रकृतियों का वंध होता है उनमें से एक संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है ।

नौवें और दशवें गुणस्थान के समान द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टी के एकसौ इयालीस और क्षायिक सम्यग्दृष्टी के एकसौ उन्तालीस प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान--मोहनीय कर्म के अत्यंत क्षय होने से स्फटिक भाजन में रक्खे हुए निर्मल जल के समान अत्यन्त निर्मल अविनाशी यथाख्यात चारित्र के धारक मुनि के क्षीण मोह गुणस्थान होता है।

इस गुणस्थान में केवल साता वेदनीय कर्म का बंध होता है।

ग्यारहवे गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से वज्र नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है शेष सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है।

दशवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी वाले की अपेक्षा एकसौ दो प्रकृतियों का सत्त्व है, उनमें से संज्वलन लोभ की व्युच्छित्ति हो जाती है इसके घटाने पर एकसौ एक प्रकृतियों का सत्त्व रहता है।

तेरहवां सयोग केवली गुणस्थान--मोहनीय की अट्ठाईस, ज्ञानावरण की पांच दर्शनावरण की नौ अन्तराय की पांच इस प्रकार घातिया कर्मों की सैतालीस प्रकृतियां तथा नरक गति, तिर्यग्गति, नरक गत्यानुपूर्वी तिर्यग्गत्यानुपूर्वी विकलत्रय की तीन देवायु मनुष्यायु, तिर्यगायु, उद्योग, आतप, एकेन्द्रिय, साधारण, सूक्ष्म स्थावर इस प्रकार तिरेसठ प्रकृतियों का क्षय होने से

लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान तथा मनोयोग' × बचन योग और काय योग के धारक अरहंत भट्टारक के सयोग केवली नामक तेरहवां गुणस्थान होता है । यही केवली भगवान अपनी दिव्य ध्वनि से भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसार में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं ।

इस गुणस्थान में केवल एक सातावेदनीय का बंध होता है ।

बारहवें गुणस्थान में जो सत्तावन प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से ज्ञानावरण की पांच, अंतराय की पांच, दर्शनावरण की चार निद्रा प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है इस प्रकार शेष इकतालीस प्रकृतियां रहती हैं । इनमें तीर्थंकर प्रकृति मिलादेने से व्यालीस प्रकृतियों का उदय होता है ।

बारहवें गुणस्थान में जो एकसौ एक प्रकृतियों का सत्त्व है उनमें से ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच, निद्रा, प्रचला इन सोलह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है । शेष पिचासी प्रकृतियों का सत्त्व रहता है ।

अयोग केवली चौदहवां गुणस्थान--मन वचन काय के योगों से रहित केवल ज्ञान सहित अरहंत भट्टारक के चौदहवां गुणस्थान होता है । इस गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ इन पांच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण मात्र जितना है । अपने गुणस्थान के काल के द्विचरम समय में सत्ता की पिचासी प्रकृतियों में से बहत्तर

× मनोयोग—द्रव्यमन की अपेक्षा से

प्रकृतियों का और चरम समय में तेरह प्रकृतियों का नाश करके अरहंत भगवान मोक्ष धाम को पधार जाते हैं।

तेरहवें गुणस्थान मे जो एक साता वेदनीय का बंध होता था उसकी उसी गुणस्थान में व्युच्छित्ति होने से इस गुणस्थान में किसी का भी बंध नहीं होता। तेरहवें गुणस्थान में जो बियालीस प्रकृतियों का उदय होता है उनमें से वेदनीय, वज्र वृषभ नाराच संहनन, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, प्रशस्त विहायो गति, अप्रशस्त विहायो गति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्त्र संस्थान, न्यग्रोध, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अगुरु लघुत्व, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रत्येक इन तीस प्रकृतियों की व्युच्छित्ति हो जाती है। शेष वेदनीय, मनुष्यगति मनुष्यायु पचेन्द्रिय जाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्त आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर प्रकृति और उच्चगोत्र इन बारह प्रकृतियों का उदय रहता है।

तेरहवें गुणस्थान के समान इस गुणस्थान में पिचासी प्रकृतियों का सत्त्व है परंतु द्विचरम समय में बहत्तर और अंतिम समय में तेरह प्रकृतियों का सत्त्व नष्ट करके अरहंत भगवान मोक्ष में जा विराजमान होते हैं। यह उपसंहार आवश्यकता समझकर जैन सिद्धांत प्रवेशिका से लिखा है॥

अन्तिम मंगलाचरण

वंदे वीर जिनेन्द्रं तद्वाणीं वीरसागरं वंदे।
तद्वाणिराजिनधर्मं वंदेऽहं वोधिलाभाय ॥

अर्थ--अंत में मैं जिनेन्द्र देव भगवान् वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार करता हूँ, उनके मुख से प्रगट हुई द्वादशांग वाणी को नमस्कार करता हूँ और विद्यमान आचार्य वर्य श्रीवीर सागरजी महाराज की वन्दना करता हूँ एवं रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये उनके द्वारा कहे हुए जिनधर्म की वंदना करता हूँ।

जयतु सदा जिनधर्मः सूरिः श्री शांति सागरो जयतु।
यच्चरणसेवया मां प्राप्ता स्वल्पा हि जिनभक्तिा ॥

अर्थ--यह जैनधर्म सदा जयवंत हो तथा जिनके चरण-कमलों की सेवा करने से मुझे थोड़ी सी जिनभक्ति प्राप्त हुई है ऐसे भाद्रपद शुक्ल २ विक्रम संवत् २०१२ को ८४ वर्ष की आयु में दिवंगत आचार्य वर्य श्री शांति सागर जी महाराज सदा जयवंत रहें।